प्रथम संस्करण १,००० प्रतियाँ

जून-१९७०

मूल्य : २०-रुपये

प्रकाशक : दर्शन प्रतिष्ठान, जोधपुर.

मुद्रक : हिमालय प्रिण्टर्स, खाण्डा फलसा, जोधपुर.

आभार-प्रदर्शन

इस संकलन में संकलित किये गये लेखों के अनुवाद प्रकाशित करने के लिये अधिकार देने के लिये हम निम्नलिखित प्रकाशकों के प्रति आभारी हैं :

फ्रेगे के "ऑन सेंस एंड रेफरेंस" (फिलासफी ऑफ गेट्लॉब फ्रेगे) राइल के 'सिस्टेमेटीकली मिस्लीडिंग एक्सप्रेशंस" (लोजिक एंड लेंग्वेज, भाग १) तथा ऑस्टिन के "अदर माइंड्ज" (लोजिक एंड लेंग्वेज, भाग २) के लिये बेसिल ब्लैकवैल, ऑक्सफोर्ड के प्रति ; क्वाईन के "ऑन व्हाट देयर इज" तथा "टू डागमाज आफ एम्पिरिसिज़्म" (फ्राम ए लोजिकल प्वाइंट आफ व्यू) के लिये हार्वार्ड यूनीवर्सिटी प्रेस के प्रति ; मूर के "ए डिफेंस ऑफ कामन सेंस" (कांटेम्पोरेरी ब्रिटिश फिलासफी, भाग २) तथा रसल के "लोजीकल एटोमिज्म" (कांटेम्पोरेरी ब्रिटिश फिलासफी, भाग २) के लिये ज्योर्ज एलन एंड अन्विन, लंदन के प्रति, मूर के "रिफ्यूटेशन आफ आइडियलिज्म" (फिलासफीकल स्टडीज) के लिये रटलज एंड केगन पॉल, लंदन के प्रति तथा हाईडेगर के "आन दि एस्सेंस ऑफ ट्रुथ" तथा "वाज फर्स्ट मैटाफिजीक्स ?" (एग्जिस्टेंस एंड बीइंग) के लिये वियन प्रेस, लंदन के प्रति।

यशदेव शल्य

चांदमल शर्मा

विषय-सूची

प्राक्कथन

प्रस्तुत संकलन की योजना प्रो० दयाकृष्ण ने १९६५ में तैयार की थी और मुझे लिखा था कि यदि इन निबन्धों का हिन्दी में अनुवाद करवा कर इसे पुस्तक रूप में प्रकाशित किया जा सके तो इससे विद्यार्थियों का बहुत हित होगा। वे यह संकलन राजस्थान विश्वविद्यालय की दर्शन की स्नातकोत्तर कक्षा के पाठ्यक्रम में रखना चाहते थे। मैंने उनका यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार किया और इसके प्रकाशन तथा सम्पादन का सब दायित्व, उनकी इच्छानुसार, अपने ऊपर ले लिया। किन्तु क्रमशः मैंने अनुभव किया कि यह दायित्व उससे कहीं अधिक गुरुतर था जितने की कल्पना मैंने की थी। प्रकाशकों से इन लेखों के अनुवादाधिकार प्राप्त करने का सम्पूर्ण दायित्व दयाजी ने लिया, जो कि अपने आप में पर्याप्त श्रमसाध्य कार्य था। किन्तु अनुवाद करवाना और उसकी जांच करना, सम्पादकीय लिखना तथा प्रकाशन की व्यवस्था करना, ये कार्य मेरी व्यस्तता की उस स्थिति में मेरे सामर्थ्य से अधिक थे। परिणामतः मैंने चांदमलजी के सहयोग का आह्वान किया, जोकि निस्संकोच उन्होंने मुझे दिया। इस प्रकार यह संकलन तीन के परिश्रम का फल है, यद्यपि उतना सुफलित यह तब भी नहीं कहा जा सकता जितना ऐसी अवस्था में इसे होना चाहिये था। इसमें सब लेखों के अनुवाद मैं नहीं देख सका हूँ, इसलिये अनुवाद में किसी भी त्रुटि के लिये मैं ही उत्तरदायी रहूँगा।

एक त्रुटि लेखों की व्यवस्था में भी रह गयी है : जे. एल. आस्टिन का लेख "अन्य मनस्" हाइडैग्गर के लेखों से पूर्व होना चाहिये था, किन्तु यह लेख जिसे अनुवाद के लिये प्रथमतः दिया गया था उसने न केवल अनुवाद विलम्ब से करके दिया बल्कि असन्तोषजनक भी किया। परिणामतः प्रकाशन में विलम्ब को बचाने के लिये, जो कि पहले ही बहुत अधिक हो गया था, हाइडैग्गर के लेख आस्टिन के लेखों से पहले रख दिये गये।

इस संग्रह में हाइडैग्गर के लेख असमंजस भी प्रतीत हो सकते हैं। किन्तु इनका समावेश अस्तित्ववाद को प्रतिनिधित्व देने के लिये किया गया है, अपर्याप्त प्रतिनिधित्व ही चाहे यह हो।

जैसाकि स्पष्ट है, इस पुस्तक के अस्तित्व में आने का मुख्य श्रेय दयाजी को ही है, और जिस प्रकार उन्होंने इसके प्रकाशन तक इसमें निरन्तर रुचि ली और एक लेख का अनुवाद तक किया, उसके लिये उनके प्रति विशेष अनुगृहीत अनुभव करना स्वाभाविक ही है। और तत्पश्चात् मेरा आभार चांदमलजी के प्रति है जिन्होंने सम्पादन का उत्तरदायित्व वहन करने का मेरा प्रस्ताव सहज भाव से स्वीकार किया।

यशदेव शल्य

फरवरी २८, १९७०

प्रवेश

समकालीन पाश्चात्य दर्शन : सर्वेक्षण

इस पुस्तक में संकलित सभी निबन्ध, हाइडेगर के अपवाद के साथ, समकालीन आंग्ल-अमरीकी दर्शन-परंपरा के प्रमुखतम सम्प्रदाय के प्रतिनिधि हैं। इनके लेखक इस परम्परा के प्रमुखतम दार्शनिकों में से हैं। किन्तु बहुत से अन्य प्रमुख दार्शनिक तथा इस परम्परा के अन्य पक्षों के प्रतिनिधि निबन्ध इस संकलन में नहीं लिये जा सके हैं। वास्तव में इस दृष्टि से एक पर्याप्त संकलन का कलेवर इस सकलन से कम से कम तीन गुना होना आवश्यक होगा। विट्गिस्टाईन, श्लिक, कार्नेप, फाइग्ल, वेजमान, न्यूराथ, स्ट्रासन, हैम्पल, राइखनबाख़ और कॉर्ल-पॉपर प्रभृति बहुत से महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों के निबन्ध इस संकलन में नहीं हैं। वास्तव में यह सूची इससे काफी बड़ी है। इतनी बड़ी सूची से यह अनुमान किया जा सकता है कि यह एक दर्शन-सम्प्रदाय कितना समृद्ध सम्प्रदाय है। यदि बीसवीं शताब्दी यूरोप के अन्य महत्त्वपूर्ण दर्शन-सम्प्रदायों और उनके प्रमुख दार्शनिकों की भी गणना की जाय तो यह सूची बहुत-बहुत बड़ी होगी। इतने छोटे महाद्वीप में इतने थोड़े समय में—कहना चाहिये, दो ही पीढ़ियों में—इतने प्रमुख दार्शनिकों का आविर्भाव एक अद्भुत बात है।

आधुनिक यूरोप में, जिसके प्रवर्त्तक डेकार्ट कहे जाते हैं, दो विरोधी विचारधाराओं के बीच निरन्तर तनाव रहा है। ये हैं यथार्थवादी और आदर्शवादी विचारधाराएँ। 'यथार्थवाद' और 'आदर्शवाद' संज्ञक कोई दर्शन-सम्प्रदाय वास्तव में नहीं हैं. इन नामों का प्रयोग हमने दो प्रकार की अभिवृत्तियों (एटीट्यूड्स के लिये किया है, जो विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों में द्योतित होती हैं। स्वयं इन अभिवृत्तियों मे किसी एक के व्यंजक दो सम्प्रदायों में परस्पर बहुत अन्तर है। उदाहरणतः आदर्शवादी-धारा के अन्तर्गत कांट, लाइब्निज़, हेगल, रूसों और बर्गसां में बहुत मूलगामी अन्तर है, और दूसरी ओर रसल-पर्यन्त आंग्ल अनुभववादी परम्परा, अमरीकी प्रयोजनवादी (प्रेग्मेटिस्ट) परम्परा तथा यूरोपीय ऐन्द्रिय प्रत्यक्षवादी सम्प्रदाय तथा उत्तर विट्गि-स्टाइनीय लोक-भाषावादी सम्प्रदायों में बहुत अन्तर है। यथार्थवादी धाराओं में रसल-पर्यन्त आग्ल परम्परा और महाद्वीपीय (कांटीनेंटल) प्रत्यक्षवादी परम्पराओं में बहुत सामीप्य है, इतना अधिक कि इनकी तत्त्वमीमांसा प्रायः अभिन्न है, दर्शन का प्रयोजन तो दोनों एक ही मानते हैं—विज्ञान तथा लोक-संज्ञान का विवेचन-विश्लेषण। रसल के शब्दों में—दार्शनिक का उद्देश्य "विज्ञान तथा दैनिक व्यवहार के संसार की व्याख्या करना होना चाहिये।" और कार्नेप, जो कि आधुनिक प्रत्यक्षवाद के

प्रवर्त्तक दार्शनिकों में प्रमुख हैं, दर्शन का कार्य विज्ञान की भाषा के तार्किक व्याकरण का अध्ययन मानते है। (द्रष्टव्य: लॉजीकल साइंटेक्स ऑफ लैंग्वेज, भूमिका) मूर यद्यपि विज्ञान के प्रति इतने चिन्तित नहीं थे, उन्होंने अपने आपको लोक-संज्ञान तक सीमित रखा था, किन्तु इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि लोक-संज्ञान के आगे उनके लिये विज्ञान ही विचारणीय विषय हो सकता था। उन्होंने लोक-संज्ञान के जिन पक्षों को दर्शन के लिये विचारणीय पाया वह था ऐन्द्रिय विषय और नीति। नीति का अर्थ उनके लिये कोई धार्मिक-पारलौकिक सिद्धी साधना नहीं है, नीति यहाँ साधारण आचरण में सत्-असत् का निर्णय है। यह देखना रोचक बात है कि "सत्" (गुड) को उन्होंने "पीत" के समान एक गुण माना—उससे भिन्न प्रकार का किन्तु तब भी उसके अनुरूप।

इंग्लैंड में मूर और रसल के विद्यार्थी-काल में विश्वविद्यालयों में हेगल्वाद का बोल-बाला था। ये दोनों दार्शनिक भी पहले-पहल इसी के प्रभाव में थे, किन्तु बहुत शीघ्र उन्होंने इस सम्प्रदाय के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होंने अपने इस विद्रोह को निर्मुक्ति कहा है। उन्हें लगा जैसे मानो वे अज्ञान के कारावास से निकले हैं। परिणामत: उनके आरंभिक लेखों में इस मुक्ति का आनन्द और उत्साह झलकता है। मूर का यह उत्साह उनके भौतिक वस्तुओं की सत्ता को सिद्ध करने के लिये दिये गये नाटकीय तर्क में स्पष्ट झलकता है। उन्होंने अपना हाथ उठाकर कहा, "यह मेरा हाथ है, यह सिद्ध है और परिणामत: बाह्य विषयों का ज्ञान निस्सन्दिग्ध है।" रसल का वह उत्साह उनके प्रत्येक लेख में झलकता है और वह अब तक उतना ही उग्र है। उन्होंने १९१४ में लिखा था—"मेरे विचार में सब दर्शन-सम्प्रदायों ने दर्शन की समस्याओं तथा विधि को गलत समझा था। इसकी बहुत सी पारंपरिक समस्याएँ ऐसी हैं जो हमें उपलब्ध ज्ञान के साधनों से सुलझानी असंभव हैं, जबकि कुछ दूसरी हैं जो यद्यपि कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं किन्तु तब भी जो दर्शनिकों द्वारा उपेक्षित रही है; इन्हें अधिक कुशल विधि से धैर्य-पूर्वक विचार कर उतने ही सम्यक् और निश्चित रूप से सुलझाया जा सकता है जितनी सम्यक्ता सर्वाधिक विकसित विज्ञानों में हम पाते हैं।"[1] रसल के अनुसार ज्ञान के साधन ज्ञानेन्द्रियां हैं और कोई ज्ञान का साधन मनुष्य को उपलब्ध नहीं है। शायद वे बुद्धि को भी ज्ञान का साधन मानते हैं, किन्तु सब अनुभववादियों के समान इसे स्वीकार करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। जो भी हो, दार्शनिक विधि के आदर्श के रूप में वे "संवेद के अनगढ़ प्रदत्तों और गाणितिक भौतिकी के देश, काल तथा भूत द्रव्य (मैटर) के बीच सम्बन्ध के विवेचन" को देखते हैं और गाणितिक भौतिकी, संवेद्य प्रदत्तों का प्रतीत होने से, बुद्धि का विषय ही हो सकती है। किन्तु तब भी रसल बुद्धि को ज्ञान का साधन नहीं मानते। वे गणित को निगमनात्मक, और इस प्रकार पुनरुक्त्यात्मक, व्यवस्था मानते हैं।

रसल, मूर तथा अनुगामी अनुभववादियों (विट्गिंस्टाईन तथा तार्किक प्रत्यक्षवादियों)

---

१. बर्ट्रंड रसल–आवर नोलेज आफ दि एक्स्टर्नल वर्ल्ड, पृ. १३।

की ज्ञान के साधनों के प्रति इस दृष्टिकोण की परम्परा लॉक से आरम्भ होती है और ह्यूम में प्रौढ़ता प्राप्त करती है। ह्यूम का दर्शन और ज्ञान के सम्बन्ध में दृष्टिकोण उनके एक अति प्रसिद्ध उदाहरण में बहुत स्पष्ट और साहित्यिक ढग से प्रतिपादित मिलता है: "यदि हम इन सिद्धान्तों के प्रतिपादक ग्रंथों से संकुल पुस्तकालयों पर विहंगम दृष्टिपात करें तब क्या नाश-लीला हमें करेंगे ?—यदि हमारे हाथ अध्यात्म-विद्या अथवा पारंपरिक तत्वमीमांसा की पुस्तक पड़ेगी तब हम अपने से प्रश्न करेंगे—क्या इसमे मात्रा-परिमाण अथवा संख्या विषयक कोई अमूर्त्त विचार है ? नहीं। क्या इसमें वस्तु-तथ्य तथा अस्तित्व विषयक प्रयोगाधारित विचार है ? नहीं। तब हम इसे आग में झोंक देंगे, क्योंकि तब इसमें वाग्जाल और भ्रांति के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकता।" (इन्क्वायरी इन्टू ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग)।

किन्तु तब भी रसल तत्वमीमांसा के इस प्रकार विरोधी नही थे यद्यपि वे दूसरे दार्शनिकों में तत्त्वमीमांसात्मक प्रतिपादनों को उपहास और व्यंग्य से ही अधिकांशतः देखते थे। उन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धान्त को तार्किक अणुवाद की संज्ञा दी। यहां 'तार्किक' विशेषण का प्रयोग वीयेना सम्प्रदाय के 'तार्किक प्रत्यक्षवाद में प्रयुक्त 'तार्किक' का पर्याय नहीं है, यह 'अणु' को वैज्ञानिक अणु से पृथक् करने के लिये है। वे गणित तथा तर्क के क्षेत्र में अपनी सफलताओं से बहुत गर्वित और उल्लसित थे और इस उल्लासपूर्ण उत्साह में उन्होंने समझा कि उनकी वह विधि, निष्कर्ष तथा प्रतीक-भाषा विश्व के रहस्य की कुंजी हैं। इसलिये वे तत्त्वमीमांसा को आग में झोंकने योग्य नही समझते थे। वे यद्यपि दर्शन का कार्य विज्ञान तथा दैनिक जीवन की व्याख्या करना ही मानते थे किन्तु इस व्याख्या के लिये वे लोक-धारणा का अनुसारी होना आवश्यक नहीं मानते थे। न वे मूर के समान लोक-धारणा की सत्यता को ही स्वतः सिद्ध मानते थे। इस दृष्टि से उन्हे मूर की अपेक्षा अधिक संगत कहा जा सकता है, क्योंकि रसल के समान मूर भी भौतिक विषयों सम्बन्धी लोक-धारणा को सवेद-वाक्यों में विश्लेष्य मानते थे। किन्तु लोक-धारणा के लिये भौतिक विषयों का संवेद प्रदत्तों में विश्लेषण उतना ही विस्मय कारक है जितना मैक्टैगार्ट का काल का विश्लेषण, या शायद उससे भी अधिक। तब यह कैसे कह सकते हैं कि आप लोक-संज्ञान के अनुसारी हैं ? मूर लोक-संज्ञान को असंदिग्ध मानते थे, केवल विश्लेषण को बहुत कठिन तथा अनिश्चयात्मक कार्य मानते थे। किन्तु लोक-संज्ञान की सत्यता का क्या अर्थ है ? क्योंकि यह तो विश्लेषण से ही तय होगा कि लोक संज्ञान को क्या अभिप्रेत है, अथवा कहें, किसकी सत्यता-असत्यता खोजी जा रही है। उदाहरणतः 'भाई' प्रत्यय का विश्लेषण 'पुंस् सहोदर' है या कुछ और है ? यदि इसका विश्लेषण 'पुंस् सहोदर जिसके प्रति अगाध प्रेम हो' हो तब 'य र का भाई है, वाक्य का अर्थ उससे बहुत भिन्न हो जायगा यदि इसका विश्ले-षण केवल 'पुंस् सहोदर' किया जाय और परिणामतः सत्यासत्य में भी भेद हो जायगा। इस पर आपत्ति की जा सकती है कि 'जिसके प्रति अगाध प्रेम हो' वाक्यांश तथ्यात्मक नहीं है, केवल मानसिक संस्कार है। किन्तु तब लोक-संज्ञान संस्कार के अतिरिक्त और क्या है ? जो दार्शनिक भौतिक विषयों की सत्यता का निषेध करते हैं उनका यही दावा तो है कि 'य

मेज है' कथन में संवेद की अन्तर्वस्तु ही तथ्य है, शेष केवल संस्कार है। बर्ट्रेंड रसल ने भौतिक विषयों में विश्वास को स्वतःसिद्ध सत्य नहीं माना था, इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति अधिकांशतः बर्कले के अनुरूप रही, और जब उन्होंने बर्कले की स्थिति को छोड़ा तब उन्होंने संवेद-प्रदत्तों की संवेद से पृथक् सत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि भौतिक अस्तित्व को ही, संवेद्य अस्तित्व से परे, स्वीकार किया।

इस प्रकार मूर और रसल के दार्शनिक लक्ष्यों में पर्याप्त अन्तर था किन्तु तब भी दोनों एक सामान्य भंडार मे से अपनी सामग्री प्राप्त कर रहे थे—दोनों ब्रेड्ले-परम्परा के, और सब प्रकार के प्रत्ययवाद-अध्यात्मवाद के, विरोधी थे और इस प्रकार की विचार-धाराओं के प्रति घोर असन्तोष से परिचालित थे; दोनों दर्शन का कार्य विश्लेषण मानते थे और यह समझते थे कि सत् सरल वस्तुओं का तन्त्र है जो श्लिष्ट होकर ज्ञान के तंत्र को जन्म देती हैं, परिणामतः दर्शन का काम विश्लेषण कर सत् के स्वरूप का (मूर के लिये, अवधारणाओं के स्वरूप का) उद्घाटन करना है।

यहां पुनः रसल और मूर में अन्तर है। रसल ने इस "सरल" की अवधारणा को अधिक गभीरता से लिया और इसके परिणामों को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं किया। उसके अनुसार सरल वह है जो अणु वाक्यों का वाच्य है और अणु-वाक्य वह है जो अपने से सरलतर वाक्यों में अन्तर्भाव्य नहीं है।'

इन वाक्यों को वे इस प्रकार परिभाषित करते हैं :—

१. यह अनिवार्यतः किसी संवेद्य घटना द्वारा उत्पादित होनी चाहिये;

२. इसका रूप (फोर्म) अनिवार्य रूप से ऐसा होना चाहिये कि अन्य कोई मूल वाक्य (अणु-वाक्य) इसका प्रत्याख्यान नहीं हो सकें।'[२]

इन सरल वाक्यों के उदाहरण उन्होंने "मैं गर्म हूँ", "वह लाल है" आदि दिये हैं। अब यहाँ दो तरफ से खींचातानी है। आप केवल भाषा को देखकर यह निर्धारित नहीं कर सकते कि अणु-वाक्य क्या होंगे, उसके लिये सरल अस्तित्वों का पहले से निर्धारण आवश्यक है। उदाहरणतः 'मैं दुखी हूँ' वाक्य अणु-वाक्य है या नहीं? यह "मैं दुखी हूँ" इस तथ्य को देखकर ही निर्धारित किया जा सकता है। रसल इस वाक्य को अणु-वाक्य नहीं मानेंगे क्योंकि वे 'मैं' द्वारा व्यक्त वस्तु को सरल वस्तु नहीं मानते। किन्तु यदि कोई वाक्य अविश्लेष्य हो और उसके अनुरूप तथ्य दिखाई नहीं दें, तब? तब वे उस वाक्य के अनुरूप तथ्य की विद्यमानता मानने को बाध्य होंगे। किन्तु इसकी एक निश्चित सीमा है। 'सब य काले

---

२. इन्क्वारी इनटू मीनिंग एंड ट्रुथ, पृ. १३८।

हैं वाक्य, उनके अनुसार, तर्कतः अविश्लेष्य है क्योंकि यह वाक्य 'य$_1$ काला है', 'य$_2$ काला है', 'य$_3$ काला है', आदि में अन्तर्भाव्य नहीं है। इस वाक्य की अनन्तर्भाव्यता तर्क से निर्धारित होती है इसी प्रकार 'य काला नहीं है' भी अनन्तर्भाव्य है, किन्तु इसकी अनन्तर्भाव्यता पूरी तरह से तर्क से निर्धारित नहीं होती, यह मनोविज्ञान से निर्धारित होती है। सो, उन्होंने इन वाक्यों की अविश्लेष्यता से इनके वाच्य तथ्यों को भी स्वीकार कर लिया। ये तथ्य हैं साधारण तथ्य और निषेधात्मक तथ्य। अब 'सब कव्वे" तथा "काला नहीं" दृश्य प्रकार की सत्ताएँ नहीं हैं, परिणामतः इन्हें अनुभववादी स्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु रसल ने इन्हें अनुभववाद से बाहर जाकर भी स्वीकार कर लिया। न रसल ज्ञान को ही अनुभव तक सीमित मानते हैं। उदाहरणतः वे मानते है कि हम किसी 'अ, इ, आदि को व्यक्तिशः जाने बिना भी' सब अ, इ हैं' तथा "अ वस्तुओं का अस्तित्व है" जान सकते है।[३]

हमारे लिये यहां यह प्रश्न विवेच्य नहीं है कि यह प्रतिपादन कहां तक उपयुक्त है और कहां तक इसे अनुभववादक का अतिक्रमण कहा जा सकता है। हमारे लिये यहां केवल यह द्रष्टव्य है कि उनका यह अतिक्रमण प्रत्ययवाद अथवा अध्यात्मवाद की दिशा में नहीं है—यद्यपि स्पष्टतः इसका आधार तर्क है—बल्कि यथार्थवाद और भौतिकवाद की दिशा में है। इसलिये वे अनुभव और तर्क (प्रत्ययवादी युक्ति) का वहीं तक आश्रय लेते हैं जहां तक यह उनकी यथार्थवादी–भौतिकवादी रुचि का समर्थन करता है। वे कहते हैं; "मैं कांट के समान नैतिक नियम को उसी धरातल पर नहीं रख सकता हूं जिस पर तारकित नभ को। विश्व के मानवीकरण का प्रयत्न, जो कि आदर्शवाद* कहे जाने वाले दर्शन में अन्तर्निहित है, इस बात को सर्वथा स्वतन्त्र रूप से मुझे अप्रिय है कि यह सत्य है या असत्य है। मुझे यह कल्पना तक अप्रिय लगती है कि विश्व हेगल के, अथवा उसके दिव्य आदि रूप के, क्लिष्ट विचार का परिणाम है। मेरे विचार में, यद्यपि इसमे मैं पूर्णतः निश्चिन्त नहीं हूँ, किसी भी आनुभविक विषय-वस्तु का मूलगामी ज्ञान होने पर उसके कारण-नियमों का अन्तर्भाव भौतिक विज्ञान के कारण-नियमों में संभव है। किन्तु विषय-वस्तु अधिक जटिल होने की स्थिति में ऐसा अन्तर्भाव करने मे व्यावहारिक कठिनाइयां है।"[४]

इस उद्धरण में प्रत्ययवाद और अध्यात्मवाद के प्रति उनकी अरुचि स्पष्ट है। वास्तव में उनके लेखों से जितने चाहे ऐसे उद्धरण दिए जा सकते है जिनमे उनकी यह अरुचि झलकती है। यह नैतिक नियम और तारकित नभ के बीच उनकी तुलना रोचक है। 'तारकित नभ' से उन्हें एक ओर भौतिक सत्ता अभिप्रेत है और दूसरी ओर विराट् सौन्दर्य;

---

३. माई फिलासफीकल डिवलपमेंट, पृ. १३१।

* यहां मैंने 'आइड्यलिज्म' का अनुवाद 'आदर्शवाद' किया है जबकि अन्यत्र 'प्रत्ययवाद' किया है। इस प्रसंग में रसल को यही अभिप्रेत प्रतीत होता है, 'प्रत्ययवाद' नहीं।

४. वहीं पृ. १३१।

दूसरे शब्दों में, भौतिक सत्ता का विराट् सौन्दर्य। नहीं तो 'मेज', 'कुर्सी', 'पेन' अधिक सहज उदाहरण हो सकते थे। हमारे इस कथन की पुष्टि 'मिस्टीसिज्म एण्ड लोजिक" पुस्तक में संकलित उनके लेख "फ्री मैन्स् वर्शिप" से भी होती है। स्पष्टतः यह कोई दार्शनिक युक्ति नहीं है, यह रुचि की बात है कि आपको "नैतिक नियम" अधिक आकर्षक लगता है या कि "भौतिक सत्ता की विराट्ता।" किन्तु कांट ने सौन्दर्य के आकर्षण से 'नैतिक नियम" की प्रतिष्ठा को स्वीकार नहीं किया था, उसने नैतिक वस्तुस्थिति की व्याख्या के लिये उसे स्वीकार किया था। किन्तु उसमें "कैटेगोरीकल इम्पेरेटिव" की सार्वभौमता सत्तात्मक सार्वभौमता नहीं है, सत्ता केवल अतिक्रामी आत्मा की है। इस प्रकार वह "तारकित नभ" से तुलनीय नहीं है। रसल को यह ज्ञात नहीं हो, ऐसी बात नहीं है, किन्तु वे यह मानते हैं कि आदर्शवादी दर्शन का उत्स रुचि और सुख-कामना है, तर्क नहीं, इसलिए शायद उन्होंने कोई भी उदाहरण उपयुक्त माना। किन्तु जैसा कि स्पष्ट है, वे स्वयं इस दोष के अधिक शिकार हैं। इसकी पुष्टि के लिए हम एक उद्धरण और इसी पुस्तक से देंगे। "प्रत्यक्ष" पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि जब हम एक तारे को देखते हैं तब हमारी दृक्-तंत्रिका (ऑप्टिक नर्व) में एक प्रक्रिया घटित होती है किन्तु तारक का अनुभव एक बहुत भिन्न प्रकार की घटना है। परिणामतः "मन तथा भूत के बीच एक खाई मानी जाती है, और यह समझा जाता है कि यह एक रहस्य है जिसका निराकरण करना एक अपवित्र कार्य है। किन्तु मेरा विश्वास है कि इसमें उससे अधिक रहस्य नहीं है जितना रेडियो द्वारा विद्युत्चुम्बकीय तरंगों के ध्वनि में रूपांतरण में है। मेरे विचार में इस रहस्य का कारण भौतिक विश्व की भ्रान्त धारणा तथा यह भय है कि कहीं इससे हम मानस के उत्कर्ष को भौतिक के स्तर पर लाकर निकृष्ट नहीं करदें।"[५]

यहां स्पष्ट है कि रसल मन और भूत की समस्या के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ विचारणीय नहीं मानते कि यह एक भावुकता का परिणाम है। यह सही है कि कुछ दार्शनिकों ने मन को उत्कृष्ट और भूत को निकृष्ट भी कहा है, किन्तु उन्होंने न तो इस द्वैध को भावुकता के कारण स्वीकार किया था और न इस द्वैध को स्वीकार करने के पक्ष में उनकी युक्तियां निर्बल हैं। इसके विपरीत, रसल केवल अभौतिक के प्रति अरुचि के कारण उस सम्बन्ध में कुछ विचार नहीं करते और एक स्पष्ट वस्तुस्थिति से इन्कार करने का कोई कारण नहीं देते। यहां दृक्-तन्त्रिका में घटित भौतिक प्रक्रिया के "दिखाई देना" में रूपांतरण अनुरूपता रेडियो द्वारा विद्युत्चुम्बकीय तरंगों के ध्वनि तरंगों में रूपांतरण से देखने में निहित दृष्टि-दोष इस अरुचि के कारण ही हो सकता है। निश्चय ही उन्होंने 'ध्वनि-तरंग' शब्द का प्रयोग नहीं कर 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु यह केवल दूसरों में दृष्टि-दोष उत्पन्न करने के प्रयत्न का द्योतक ही हो सकता है, क्योंकि रेडियो विद्युत्चुम्बकीय तरंगों

---

५. माई फिलासफीकल डिवेलपमेंट, पृ. २२।

का ध्वनि में रूपांतरण नहीं करता, ध्वनि-तरंगों में रूपांतरण करता है जिनके ध्वनि में रूपांतरण के लिए संवेद्यता की उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी ही प्रकाश-किरणों के और दृक्तंत्रिका के अन्तर्गत घटित अनुगामी प्रक्रिया के दृष्टि में रूपांतरण के लिए।

उन्होंने तटस्थ अद्वैतवाद (न्यूट्रल मोनिज्म) की वकालत की है और उसके लिए आदर्श उदाहरण संवेद-प्रदत्त को लिया है—एक देश-बिन्दु जहां विभिन्न तारक दिखाई देते है वह एक प्रदेश है, और ऐसे अनेक बिन्दु जिस एक बिन्दु में सहावस्थित हो सकते है, वह दूसरा प्रदेश है। प्रथम स्थान वह है जहा तारक दिखाई देने की घटना घटित होती है और दूसरा वह जहां तारक स्वय है। इसे वे परिप्रेक्ष्यों का सिद्धांत (थीयरी आव पर्स्पैक्टिव्ज) कहते है और अपनी मौलिक सूझ मानते हैं। किन्तु इससे तो मन और भूत विषयक प्रश्न का समाधान नहीं होता, क्योंकि बोध, या संवित्, को यहां छोड़ दिया गया है। यदि परिप्रेक्ष्य इसके उतने अश का काम चला भी सकते हों जितना भौतिक विषय-ज्ञान में आवश्यक है और शेष अनावश्यक हो, तो कल्पना, सुख-दुख: आदि का आप क्या करेंगे ? रसल ने इसका समाधान करने का प्रयत्न भी किया है और एक स्मृत्यात्मक कारणता (नेमिक काजेशन) को अविश्लेष्य अभ्युपगम के रूप मे स्वीकार कर मन से छुट्टी पाने का प्रयत्न किया है। यहां हम इस विवाद में आगे नही जायेंगे कि यह कहां तक सम्भव है, किन्तु यदि कोई स्मृत्यात्मक कारणता को पर्याप्त नही मान कर चेतना को भी अनन्तर्भाव्य मानना आवश्यक देखता है तो उसे निकृष्ट कार्य करने वाला क्यों कहा जाय ? और फिर, आप कारणता में द्वैत मान कर क्या मानसिकता को स्वीकार नही कर रहे है, इस स्वीकृति को जितना भी चाहें आप धीमी आवाज में व्यक्त क्यों न करें ?

मेरा अभिप्राय यहां यह दिखाना नहीं है कि मन और भूत का द्वैत अनिवार्य है, किन्तु यह दिखाना है कि न तो रसल ने इस द्वैत को अयुक्त दिखाने के लिये कोई पुष्ट तर्क दिये हैं और न इस द्वैत को स्वीकार करने वाले फूहड़ (स्टुपिड) ही थे, जैसा कि रसल उन्हें कहते हैं।

मूर रसल की अपेक्षा अधिक नम्र और शालीन थे। उनका आग्रह केवल इतना ही था कि लोक-संज्ञान की धारणाओं को हमें अधिक अन्दर की दृष्टि से देखना चाहिये। किन्तु इसके विपरीत मत रखने वालों को वे उपहासास्पद नहीं मानते थे और उनके मत को दुराग्रह तथा निकृष्ट सुख की खोज पर आधारित नही समझते थे। इसीलिए वे जिस मत का प्रतिवाद करते थे उसे पूरी गम्भीरता से समझने का प्रयत्न करते थे और उसके पुष्टतम तर्कों की दुर्बलता दिखाने के लिये उसका विश्लेषण करते थे। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके कोई पूर्वाग्रह नहीं थे। उनके वे सभी पूर्वाग्रह थे जो उनके बौद्धिक परिवेश के पूर्वाग्रह थे। उदाहरणतः उन्होंने लोक-संज्ञान मे केवल दृश्य वस्तुओं की सत्यता में लोक-विश्वास को ही देखा, जब कि लोक-संज्ञान की कोई सीमा नही है—कम से कम, उसमे लोकेत्तर और लोकोत्तर में विश्वास उतने ही बद्धमूल मिलते हैं।

मूर ने अपने दो लेखों से आंग्ल दार्शनिक समाज को लगभग अभिभूत कर लिया था। ये लेख थे "लोक-संज्ञान के समर्थन में" तथा 'प्रत्ययवाद का खण्डन"। इसमें भी प्रथम लेख विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है—इसलिये नहीं कि इसमें कोई महत्त्व की बात कही गयी है, जो कि निश्चय ही नहीं कही गयी है, बल्कि इसलिये कि यह मूर के दर्शन में आधारभूत कही जा सकती है और लोगों द्वारा इसे इतना महत्त्व दिया जाना उस समय के, और आज के भी, आंग्ल-मानस का द्योतक है। इस लेख में उन्होंने एक प्रकार की प्रतिज्ञाओं को, जिन्हें वे लोक-संज्ञान की प्रतिज्ञाएं कहते थे, अविवाद्य सत्य माना है। ये प्रतिज्ञाएं हैं—मेरा एक शरीर है, मैं कुछ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुआ था, पृथ्वी के धरातल पर रहता हूं और यह पृथ्वी मेरे उत्पन्न होने से बहुत पहले से विद्यमान है, आदि। मूर के अनुसार, उन्हें इनमें से प्रत्येक प्रतिज्ञा की सत्यता के सम्बन्ध में असन्दिग्ध ज्ञान है। यह लेख जब उन्होंने दार्शनिक मंडली में पढ़ा था तब बड़े जोश से अपना हाथ उठा कर कहा था कि "यह मेरा दायां हाथ है और यह बायां हाथ है और इसलिये.........मेरे से पृथक् भौतिक विषयों का अस्तित्व है और उसका हमें ज्ञान होता है, आदि। बिल्कुल सही, किन्तु तब दिक्कत क्या है? यहां दार्शनिक चर्चा समाप्त हो जानी चाहिये! तब जॉनसन का पत्थर के ठोकर मार कर कहना कि "इससे यह सिद्ध होता है कि पत्थर है" भी बिल्कुल सही था! ऐसी अवस्था में मूर ने नया क्या कहा? मूर ने नया यह कहा था कि "जब कि इन प्रतिज्ञाओं की सत्यता असन्दिग्ध हैं, इनका विश्लेषण क्या होगा, यह कहना बहुत सन्दिग्ध है।" किन्तु यदि वे सचमुच ही इस सम्बन्ध में अनिश्चित होते तब कोई दिक्कत नहीं थी, तब वे या तो विश्लेषण करते ही नहीं या फिर वैकल्पिक विश्लेषण देते। वास्तव में वे अनिश्चित इस बात में नहीं थे कि विश्लेषण क्या होगा, बल्कि इस बात में थे कि जो विश्लेषण वे कर रहे हैं वह सम्यक् कैसे होगा? इस प्रकार, न केवल वे कुछ प्रतिज्ञाओं की सत्यता के सम्बन्ध में ही निश्चत थे, बल्कि उनका विश्लेषण क्या होगा, इस सम्बन्ध में भी निश्चित थे। किन्तु इस विश्लेषण के सम्बन्ध में उनके निश्चय का क्या आधार था? अर्थात्, वे यह कैसे जानते थे कि भौतिक विषयों सम्बन्धी प्रतिज्ञाएं विश्लेष्य हैं और यह विश्लेषण संवेद-प्रदत्तों की पदावली में ही उपयुक्त है? 'यह मेज़ है' वाक्य स्वतः यह संकेत नहीं देता कि यह ऐसे वाक्यों की किसी निश्चित या अनिश्चित संख्या के बराबर है जिसके विधेय संवेद-प्रदत्तों के वाचक पद हों। कम से कम, यह दावा कोईनही कर सकता कि लोक-संज्ञान 'यह मेज' प्रतिज्ञा को संवेद-प्रदत्त वाचक प्रतिज्ञाओं की असंख्य शृंखला के बराबर देखता है। अब, यदि यह दावा नहीं किया जा सकता तब मूर के इस विश्लेषण का क्या औचित्य है, सिवाय मूर की या उसके पूर्वज बर्कले की दार्शनिक दृष्टि के? किन्तु तब मूर लोक-संज्ञान की सत्यता को असन्दिग्ध मानकर नहीं चल सकते, क्योंकि वाक्य की प्रतिज्ञा क्या है, यह तो विश्लेषण से ही तय हो सकता है, अर्थात् उन सरल प्रतिज्ञाओं से जो 'यह मेज है' वाक्य की दायीं और समीकरण चिह्न के साथ रखी जायगी। किन्तु इन समीकृत सरल प्रतिज्ञाओं का लोक-संज्ञान के अनुकूल होना आवश्यक नहीं है, जैसाकि स्वयं मूर की ही सरल प्रतिज्ञाएं नहीं है। किन्तु वे सरल प्रतिज्ञाएं हैं जो विश्लेष्य या श्लिष्ट प्रतिज्ञा के अभिप्राय 'को स्थिर करती है, और यदि श्लिष्ट प्रतिज्ञा का

अभिप्राय, या कहें स्वरूप, सरल प्रतिज्ञाओं से अभिन्न है तब किसी प्रतिज्ञा को तब तक लोक-संज्ञान-परक प्रतिज्ञा नही कहा जा सकता जब तक लोक-संज्ञान विश्लेषण को प्रमाणित नहीं करे। और जैसा कि हमने ऊपर कहा, मूर का विश्लेषण लोक-संज्ञान को स्वीकृत नही हो सकता, उसे परिचित भी नही लग सकता, परिणामत: यह नहीं कहा जा सकता कि मूर लोक-संज्ञान की प्रतिज्ञाओं को स्वत: सिद्ध सत्य मान रहे थे।

हमारी उपरोक्त आपत्ति शायद कुछ लोगों को दूर की कौड़ी लाने जैसी बात लगे, किन्तु थोड़ा गंभीरता से देखने पर ऐसा नहीं लगेगा। 'मेरे हाथ में पैन है' वाक्य लें। लोक-संज्ञान के अनुसार यह कथन या तो सत्य है अथवा असत्य है। किन्तु यहां कथन क्या है जो सत्य या असत्य है, यह प्रश्न विश्लेषण को प्रेरित करता है। अब, इस कथन के स्वरूप का निश्चय किये बिना सत्यता का प्रश्न तय नहीं हो सकता। किसी के लोक-संज्ञान का समर्थक होने का अर्थ है कि वह लोक-संज्ञान को स्वीकार्य कथन का अनुसन्धान करे। किन्तु मूर अनुसन्धान कर जो कथन लाये है वह ऐसा है जैसे कथन को उचित बताने के लिये रसल अवसर पहले यह कहते हैं कि "लोक-संज्ञान (मूढ़तावश ?) यहां समझता है कि कुछ पैन-वस्तु है..." आदि। रसल यहां बिल्कुल ठीक है, लोक-संज्ञान यही समझता है, और जिसे लोक-संज्ञान का समर्थन करना है उसे विश्लेषण की बात कह कर जो चाहे कहने का अधिकार नहीं है।

यह आपत्ति जितनी मूर के ऐन्द्रिय विषयों के विश्लेषण पर लागू होती है उतनी ही, या शायद उससे भी अधिक, नैतिक प्रसंग के विश्लेषण पर लागू होती है। किन्तु यहां हम उसकी चर्चा नहीं करेंगे। यहां यह द्रष्टव्य है कि लोक-संज्ञान का समर्थन मूर के अतिरिक्त किसी ने इस रूप में नहीं किया, अन्यों ने केवल लोक-संज्ञान को, विज्ञान के अतिरिक्त, दार्शनिक विचार का—आलोचना का—विषय माना, समर्थन का नहीं।

रसल और मूर के प्रकर्ष-काल में ही वियेना में एक नये दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना हुई जिसका नाम लॉजीकल पॉजिटिविज्म (तार्किक प्रत्यक्षवाद) रखा गया। यहां 'सम्प्रदाय की स्थापना' पद का प्रयोग जानबूझ कर किया गया है। वियेना में अब से लगभग ४० वर्ष पूर्व कुछ दार्शनिकों, वैज्ञानिकों तथा गणितज्ञों ने सम्मिलित होकर एक सम्प्रदाय का निर्माण किया जिसे 'वियेना सर्कल' नाम दिया गया और सम्प्रदाय की दर्शन-प्रणाली अथवा दृष्टिकोण को विशेषित करने के लिए इसका नामकरण तार्किक प्रत्यक्षवाद (लॉजीकल पॉजिटिविज्म) किया गया। १६२६ में इस सम्प्रदाय का एक घोषणा-पत्र निकाला गया जिसका शीर्षक था "वियेना-सर्कल : इसका वैज्ञानिक दृष्टिकोण।" यह सम्प्रदाय रसल-विट्गिंस्टाइन का उत्तराधिकारी कहा जा सकता है, किन्तु यह उनसे बहुत अधिक उग्र और संकुचित है। ह्यूम और रसल के समान यह ज्ञान का स्रोत केवल ऐन्द्रिय अनुभव को ही मानता है, और दूसरा आदर का स्थान केवल तर्क और गणित को देता है। किन्तु तर्क को और गणित को भी, जिसे यह तार्किक मानता है, यह ज्ञानात्मक नही मानता; अर्थात् इसके

अनुसार तर्क के वाक्य अथवा प्रतिज्ञाएं कोई नयी जानकारी नहीं देती; ये केवल पुनरुक्त्यात्मक होती हैं ? अर्थात् इस प्रकार की—सब कँवारे अविवाहित हैं। किन्तु इसमें भी, कहा जा सकता है कि "य कँवर है" प्रतिज्ञा तो पुनरुक्त्यात्मक नहीं है। इसका उत्तर यह है कि इस सम्पूर्ण प्रतिज्ञा की सत्यता और सार्थकता "य कँवारा है" प्रतिज्ञा की सत्यता और सार्थकता पर निर्भर करती, यह 'कँवारा' और 'अविवाहित' को पर्याय शब्द मानने पर निर्भर करती है। इनके अनुसार तर्क और गणित की सब प्रतिज्ञाएं इसी प्रकार की हैं। शेष एकमात्र सार्थक वाक्य वे वाक्य हैं जो आनुभविक प्रतिज्ञाओं को व्यक्त करते हैं। जो आनुभविक प्रतिज्ञाएं, विट्गिंस्टाईन के शब्दों में, अणु-तथ्यों की चित्र होती हैं, अथवा संवेद्य तथ्यों का वर्णन करने वाले वाक्य आनुभविक तथ्यों के वाचक होते हैं। अन्य सब वाक्य अणु-वाक्यों के तार्किक प्रकार्य (ट्रुथ-फंक्शंस्) होते हैं। इनको रसल मॉलीक्यूलर वाक्य कहते हैं, अर्थात् ऐसे वाक्य जो एक से अधिक अणु-वाक्यों को तार्किक संयोजकों—और, अथवा आदि—के द्वारा संयुक्त करने से बनते हैं। विट्गिंस्टाईन के ही शब्दों में—

४. १ एक प्रतिज्ञा अणु-तथ्यों के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व को प्रकट करती है।

४.११ सत्य प्रतिज्ञाओं का साकल्य सकल भौतिक विज्ञान है।

१.१३ तार्किक देश में स्थित तथ्य ही विश्व है।

२. जो भी वस्तु स्थिति है, तथ्य है, वह अणु-तथ्यों का अस्तित्व है।

विश्व तथा भाषा के सम्बन्ध में अनुभववादी सिद्धान्त का यह स्पष्टतम प्रतिपादन है। किन्तु यह, तथा इसी प्रकार रसल का प्रतिपादन भी, तत्त्वमीमांसात्मक प्रतिपादन हैं। ये विश्व अथवा सत्ता के स्वरूप के बारे में, तथा ज्ञान और भाषा के सत्ता से सम्बन्ध के बारे में, प्रतिपादन हैं। किन्तु इसकी कुछ अनिवार्य अर्थापत्तियां हैं जिन्हें विट्गिंस्टाईन ने देखा और स्पष्टतम शब्दों में ट्रक्टेटस में कहा। यह अर्थापत्ति थी। भाषा के कथनात्मक प्रयोग की सीमा का बहुत संकुचित निर्धारण इस सीमा-निर्धारण के अनुसार स्वयं दार्शनिक प्रतिपादन भी असम्भव हो जाता था, क्योंकि यह कहना कि "भाषा और तथ्य में सम्बन्ध स है" न तो अणु-तथ्य का चित्रण है और न अणु-वाक्यों का तार्किक संयोग है, यह चित्रण के स्वरूप के सम्बन्ध में कथन है, जोकि "अकथ्य" है। इसलिये—

६.५३ दर्शन की उपयुक्त विधि यह होगी। जो कहा जा सकता है उसके अतिरिक्त कुछ नहीं कहना, अर्थात् प्राकृतिक विज्ञान की प्रतिज्ञाओं (के अतिरिक्त), अर्थात् उसके अतिरिक्त जिसका दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है; और तब सदैव, जब कोई अन्य कुछ तत्त्वमीमांसात्मक कथन करना चाहे, तब उसे दिखाना कि उसने अपनी प्रतिज्ञाओं में कुछ चिह्नों का कोई अर्थ नहीं दिया है। यह विधि अन्य के लिये सन्तोषप्रद नहीं होगी—उसे ऐसा नहीं लगेगा कि हम उसे दार्शनिक बात कह रहे हैं—"किन्तु यही एकमात्र सही विधि है"।

विट्गिंस्टाईन का यह प्रतिपादन एक विचित्र विरोधाभास से पूर्ण है : यह एक तत्त्व-मीमांसात्मक सिद्धान्त था, क्योंकि यह विश्व के ज्ञान के स्वरूप की, और विश्व के साथ भाषा के सम्बन्ध की कल्पना पर प्रतिष्ठित था । इस विरोधाभास का समाधान यही हो सकता है कि तत्त्वमीमांसा सत्य है, किन्तु तत्वमीमांसात्मक कथन सम्भव नहीं हैं। तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने ट्रैक्टेटस के इस सम्पूर्ण सिद्धांत को, इसकी तत्वमीमांसा का परित्याग करते हुए, अपना लिया । तत्त्वमीमांसा का प्रत्याख्यान उनका मुख्य लक्ष्य था जो इस "अवाच्यता" और "निरर्थकता" से बहुत बढ़िया सिद्ध होता था । सो, उन्होंने यह कहने के बजाय कि "भाषा तथ्य का चित्रण है, और तथ्य का यह स्वरूप है अतः भाषा का यह स्वरूप है" यह कहा कि 'वाक्य का अर्थ उसकी प्रमाणीकरणीयता में होता है", और प्रमाणीकरण का एक विशिष्ट सिद्धांत दिया । इस सिद्धांत के अनुसार, भाषा के मूल वाक्य प्रत्यक्षात्मक प्रकार के वाक्य होते हैं और अन्य सब वाक्य इन मूल वाक्यों के तार्किक प्रकार्य (लाजीकल फंक्शंस्) है । इस प्रकार, उनके अनुसार 'अ लाल है', 'अ क आकार का है', 'अ लाल तथा क आकार का है' आदि प्रकार के वाक्य ही सार्थक हो सकते हैं । किन्तु यह इसलिये नहीं कि ये किसी प्रकार के तथ्यो के चित्र हैं, बल्कि इसलिये क्योंकि यह हमारे प्रत्यक्षों के विवरण हैं।

किन्तु किस प्रकार के विवरण प्रत्यक्षों के विवरण हैं ? विट्गिंस्टाईन ने इस सम्बन्ध में अपने अभिमत का कोई संकेत नहीं दिया था, उसने केवल आकारिक स्थिति का प्रतिपादन ही किया था; किन्तु रसल, और मूर भी, इस सम्बन्ध में स्पष्ट थे, वे संवेद-प्रदत्तों को प्रत्यक्षात्मक वाक्यों का विषय मानते थे। किन्तु तार्किक प्रत्यक्षवादियों में इस प्रश्न को लेकर मतभेद था; कुछ इन्हें संवेद-प्रदत्तों की सूचनाएं मानते थे जबकि अन्य सार्वजनिक भौतिक घटनाओं की सूचनाएं मानते थे । इसी प्रकार कुछ इन्हें अप्रमाणीय मानते थे और कुछ प्रामाण्य-अप्रामाण्य की सम्भावना से परे मानते थे। किन्तु सब इस बात में सहमत थे कि इन वाक्यों की तथ्यात्मक अन्तर्वस्तु इन प्रत्यक्षमूलक अनुभवों से ही उपलब्ध होती है और यह अन्तर्वस्तु ही इनको अर्थ प्रदान करती है । यही प्रमाणीकरण सिद्धांत था, जिसके अनुसार "किसी प्रतिज्ञा का अर्थ उसके प्रमाणीकरण की विधि है।"

किन्तु यदि वाक्य का अर्थ उसकें प्रमाणीकरण की विधि है और प्रमाणीकरण ऐन्द्रिय प्रत्यक्षों से उपलब्ध होता है तब अर्थ और प्रमाण दोनों व्यक्तिगत हो जायगे । क्योंकि क के प्रत्यक्ष की अन्तर्वस्तु ख के प्रत्यक्ष की अन्तर्वस्तु नही हो सकती, न क और ख परस्पर इनकी तुलना कर सकते है; वास्तव में क ख के लिये और ख क के लिये एक ऐन्द्रिय विषय मात्र है। इस कारण तार्किक प्रत्यक्षवाद के सम्मुख व्यक्ति-केन्द्रितता (सोलिप्सिज़्म) की समस्या उत्पन्न हुई। कार्नप ने १६२८ में "लोजीकल स्ट्रक्चर ऑफ दि वर्ल्ड" में सम्पूर्ण आनुभविक वैज्ञानिक अवधारणाओं का ताना-बाना व्यक्ति-केन्द्रित आधार पर पुनारचित करने का प्रयत्न किया। पीछे उसने अनुभव किया कि यह प्रयत्न सफल नहीं हो सकता, और परिणामतः उसने मूल वाक्यों के वाच्यों के रूप में व्यक्तिगत संवेदों या अनुभवों का परित्याग कर मूल वाक्यों

के वाच्यों के रूप में स्वीकार किया। कार्नप का, और उसके साथ न्यूराथ का, यह परिवर्तन अत्यन्त महत्वपूर्ण था । सार्वजनिक भौतिक घटनाओं को मूल वाच्यों का वाक्य मानने पर संवेद-प्रदत्त स्वयं भौतिक घटनाओं के रूप में ही ग्राह्य हो सकते थे। पहले जहां 'वह क्रुद्ध है' का अर्थ था "आकार-वर्ण व मुझ में क्रोधानुभव की स्मृति का उद्दीपक है", अब 'मैं क्रुद्ध हूं' का अर्थ हो गया "देश-काल क पर स्थित शरीर ऐसा-ऐसा व्यावहार कर रहा है" अथवा "इस शरीर में इस-इस प्रकार की रासायनिक-भौतिकीय घटनाएं घटित हो रही है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि तार्किक प्रत्यक्षवाद की ये दोनों उपजातियां वस्तुस्थिति की सन्तोष-जनक व्याख्या नहीं करतीं । किन्तु यहां एक और महत्त्वपूर्ण बात द्रष्टव्य है, और वह यह कि इस आधारभूत अन्तर के बावजूद ये दोनों उप जातियों की दार्शनिक प्रेरणा एक ही थी और इसी कारण ये उप जातियां है। इसका कारण यह है कि इनके लिये दार्शनिक सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण नहीं होकर सांस्कृतिक पूर्वाग्रह महत्त्वपूर्ण था, और यह पूर्वाग्रह था कि विज्ञान ही ज्ञान है और प्रामाणिक है । इस मान्यता के स्वीकृत होने पर प्रश्न केवल यह रह जाता है कि इसका सही विवेचन कैसे करें—"यह पैन है" "वस्तुएं पृथ्वी की ओर बराबर वेग (विलॉसिटी) से गिरती है" सार्थक वाक्य है; देखना केवल यह है कि इनकी सार्थकता का कैसे निरूपण किया जाय ! इसी प्रकार "कर्म भवबन्ध के कारण है" निरर्थक वाक्य है, देखना केवल यह है कि इनकी निरर्थकता का निरूपण कैसे किया जाय ! तब जो कसौटी इन दो उद्देश्यों में एक साथ सफल हो सकती है वह सही कसौटी है। इसीलिये इन दार्शनिकों ने वाक्य विषयक पूर्वोक्त दो विकल्पों को (जो विकल्प अन्यथा इन्हें पृथक् दार्शनिक संप्रदाय बताते) वैकल्पिक भाषावाद कहा-अर्थात् अपने मूल वाक्यों के लिये चाहे जो भी रूढ़ि स्वीकार कर लें, दोनों उचित हैं, प्रश्न केवल सुविधा का है।

किन्तु कार्नप तथा न्यूराथ का भौतिक घटना-वाचक वाक्यों को मूल वाक्यों के रूप में स्वीकार करना उतना निरीह नहीं था जितना "सुविधा का प्रश्न" तथा "वैकल्पिक" कहने से प्रतीत होता है, क्योंकि मूल वाक्यों को भौतिक घटनाओं के वाचक वाक्य मानने का अर्थ है मूल वाक्यों के रूप में उनकी विशिष्टता स्वीकार करना। वास्तव में उन्होंने इन वाक्यों की विशिष्टता स्वीकार करना । वास्तव में उन्होने इन वाक्यों की विशिष्ट स्थिति पूर्णतः और स्पष्टतः अस्वीकार कर दी, क्योंकि उनके अनुसार, किसी या किन्हीं मूल वाक्यों का किसी उच्चतर स्तर के कथन से, किसी वैज्ञानिक प्रक्कल्पना से, विरोध होने पर, उनमें से किसी पर भी सन्देह किया जा सकता है । किन्तु स्पष्टतः मूल-वाक्यों को वैज्ञानिक प्राक्कल्पना अथवा सिद्धान्त के स्तर पर रखने का अर्थ है वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं को तथ्य तथा अनुभव (प्रत्यक्ष) पर आधारित नहीं मानना और इस प्रकार विज्ञान की सत्यता के सम्बन्ध में समंजसता का सिद्धान्त स्वीकार करना। किन्तु यह कहा जा सकता है कि कार्नप तथा न्यूराथ कुछ वाक्यों को तो मूल-वाक्य मानते ही थे, और ये वाक्य अनिवार्यतः प्रत्यक्षात्मक प्रकार के थे। इस प्रकार, वे समंजसतावादी होने पर भी समंजसता की धुरी के रूप में प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करते थे। किन्तु वास्तव में यह भी सही प्रतीत नहीं होता । क्योंकि भाषा का तथ्य के साथ

सम्बन्ध स्वीकार करने का अर्थ था तत्वमीमांसा की सीमा में अतिक्रमण, जो कि उनके लिये सबसे अधिक वर्जित क्षेत्र था । अन्य प्रत्यक्षवादियों ने इस कठिनाई के समाधान के अनेक असफल प्रयत्न किये, किन्तु कार्नप और न्यूराथ को ये सब समझौते स्वीकार नहीं थे । कार्नप ने दर्शन को तार्किक व्याकरण कहा और इस कथन की अर्थापत्तियों को पूर्ण रूप से स्वीकार किया । उनके अनुसार "किसी भाषा विशेष के स्वरूप-निरूपण के लिये इसका शब्द-कोश तथा व्याकरण देना आवश्यक है, अर्थात् जो शब्द इसमें प्रत्यक्ष होते है तथा वे नियम जिनके अनुसार (१) उन शब्दों से वाक्यों का निर्माण किया जा सकता है तथा (२) ये वाक्य उसी भाषा के अथवा अन्य भाषा के अन्य वाक्यों में रूपान्तरित किये जा सकते हैं (अनुवाद के नियम तथा अनुमान के नियम)। किन्तु क्या यह आवश्यक नही है कि शब्दों का अभिप्राय समझने के लिये शब्दों के अर्थ भी बताए जांय ? नहीं; वस्तु-विधा (मैटीरियल मोड) में इस प्रकार की गयी मांग ऐसे आकारात्मक नियम देने से पूरी की जा सकती है जो नियम कि इसके व्याकरण का निर्माण करते है । क्योंकि किसी शब्द का "अर्थ" या तो अनुवाद के द्वारा दिया जाता है अथवा परिभाषा के द्वारा। अनुवाद शब्दों को एक भाषा से दूसरी भाषा में रूपान्तरित करने के नियमों को कहते है । यह बात तथाकथित शाब्दिक परिभाषाओं (उदाहरणतः 'हाथी' 'उसी प्रकार का पशु जिस प्रकार का कि इस देश-काल-स्थिति मे पशु') के लिये भी सही है, जिस बात को कि प्रायः ही भुला दिया जाता है। दोनों परिभाषाएं शब्दों के अनुवाद हैं ।"[६]

यहां हम इस प्रतिपादन की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता पर विचार नही करेंगे, यहां हम केवल इस बात की ओर संकेत करना चाहते हैं कि कार्नप किस प्रकार तत्वमीमांसा से बचने के लिये अनुभववाद से भी दूर जा पड़ा । किन्तु यह प्रतिपादन तार्किक प्रत्यक्षवाद के लिये बहुत तर्कोचित है क्योंकि यदि विट्गिन्स्टाईन के अवाच्यता विषयक निष्कर्ष को सत्य और तत्वमीमांसा की सत्यता विषयक सिद्धान्त को असत्य मान लिया जाय, जैसा कि तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने माना तब वाक्यों के वाच्य केवल अन्य वाक्य ही हो सकते है । क्योंकि यदि तत्वमीमांसात्मक वाक्य असत्य होने पर भी सार्थक हों तब भाषा का वाक्य शब्द-बाह्य हो जायगा । किन्तु अनुभववाद तत्वमीमासा से नही बच सकता क्योंकि उसके लिये यह बताना आवश्यक है कि क्यों अनुभव और ज्ञान का उसका निरूपण ही सही है, और यह बताने के लिये आवश्यक है कि वह तत्त्व या विश्व के स्वरूप की चर्चा करे । यदि प्रत्यक्षवादी इससे बचना चाहते हैं तब उनके लिये कार्नप-न्यूराथ के पक्ष का अवलम्बन करना एक उपाय है, यद्यपि यह एक मात्र उपाय नहीं है, किन्तु निश्चय ही उनके लिये वे रास्ते खुले नही है जो श्लिक, बर्गमान, एयर और क्वाईन तथा गुडमान आदि ने अपनाए।

कार्नप के इस अतत्त्वमीमांसात्मक अनुभववादी सिद्धान्त की मुख्य कठिनाई यह है कि

---

६. यूनिटी ऑफ साईंस (साईके मिनियेचर्स), पृ. ३८ । यहां जे. ओ. उर्मसन की पुस्तक फिलासफीकल एनेलेसिस, पृ. १२३ से उद्धत ।

यह इतने शिल्प-कौशल के बावजूद, जो कि उन्होंने सब वाक्यों को आकारी विधा (फ़ार्मल-मोड) में रूपान्तरित करने में उन्होंने प्रदर्शित किया है, कुछ भी उपलब्ध नहीं कर पाता, सिवाय यह दिखाने के कि यह रूपान्तरण सम्भव है। किन्तु इस रूपान्तरण का क्या औचित्य है ? क्या यह औचित्य स्वयं इस विधा के रूपान्तरण द्वारा स्थापित किया जा सकता है ? तत्त्वमीमांसा में क्या दोष है, क्या यह बताने के लिये अर्थ का प्रमाणीकरण-सिद्धान्त, अथवा कांटीय अभ्युपगम-कि विशुद्ध प्रत्यय को अनुभव से सम्बद्ध होना चाहिये--आवश्यक नहीं है ? किन्तु यह कहने के लिये वस्तुओं और वस्तुस्थितियों की चर्चा आवश्यक है।

कार्नप ने पीछे तार्किक व्याकरण के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया और अर्थ-विज्ञान (सिमेंटिक्स) की उपयुक्तता को स्वीकार किया। अर्थ-विज्ञान का महत्त्वपूर्ण कार्य भाषा तथा उसके वाच्य विषयों में सम्बन्ध का विवेचन करना है। किन्तु इस विवेचन के लिये यह आवश्यक नहीं है कि कोई तत्त्वमीमांसात्मक सिद्धान्त स्वीकार किया जाय, इसमें एक तटस्थ दृष्टि भी हो सकती है जो एक ओर तत्त्वमीमांसा से रक्षा करती है और दूसरी ओर भाषागत वस्तुस्थिति का उपयुक्त निरूपण संभव करती है। और यदि इसे दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया जाय तब यह पूर्णतः भार-मुक्त कर निर्द्वन्द्व विहार का आनन्द देती है। भाषा के सम्बन्ध में कार्नप की इस नवीन दृष्टि में यह उन्मुक्तता हमें भरपूर मिलती है। यदि हम तत्त्वमीमांसात्मक रूप से प्रतिबद्ध नहीं हों तब हमारा वाच्यों के चुनाव में कोई आग्रह नहीं हो सकता। भाषा स्वयं में न तो सामान्यों की असत्ता और विशिष्टों की सत्ता के पक्ष में कोई आधार हमें देती है और न अदृश्य से दृश्य को अधिक सत् मानने के लिये कोई आधार देती है। इसलिये हम सब प्रकार के वाक्यों का प्रयोग उपयुक्त रूप से कर सकते हैं--तब संख्याएं, वर्ग, सामान्य, प्रत्यय आदि उतनी ही सद्वस्तुएं हैं जितने संवेद-प्रदत्त, विशिष्ट या व्यष्टि। दार्शनिक के लिये करणीय केवल यह है कि वह प्रत्येक वाच्य-क्षेत्र के विशिष्ट स्वरूप के अनुसार उपयुक्त भाषा-व्यवस्था की रचना करे क्योंकि सामान्य भाषा में ये रचना-नियम पूर्णतः व्यवस्थित नहीं हैं। इस प्रकार कार्नप ने रचनात्मक व्यवस्थाओं का निर्माण किया, अर्थात् विभिन्न वाच्य-सन्दर्भों में निहित संरचनाओं (स्ट्रक्चर्स) को व्यक्त किया। इस उन्मुक्त दृष्टि का दार्शनिक औचित्य उन्होंने अपने एक लेख "एम्पीरीसिज्म, सिमेंटिक्स एंड ओंटोलोजी" (अनुभववाद, अर्थ-विज्ञान तथा सत्तामीमांसा) में बहुत स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है। इसमें उन्होंने दार्शनिक प्रश्नों को दो वर्गों में बांटा है--आन्तर और बाह्य। उनके अनुसार सत्ता-विषयक प्रश्न बाह्य प्रश्न होते हैं; जैसे "क्या संख्याओं का अस्तित्व है ?" प्रश्न गणित का आन्तर प्रयत्न नहीं है, यह बाह्य प्रश्न है, क्योंकि गणित संख्याओं के अस्तित्त्व पर विचार नहीं करता, वह इनका उपयोग करता है (इन्हें सत् मान कर !) आन्तर प्रश्न उस व्यवस्था के अपने नियमों की जांच से सम्बन्ध रखते हैं। उनके अनुसार, बाह्य प्रश्न अनुचित प्रश्न हैं और आन्तर उचित।

इस स्पष्ट सापेक्षतावादी प्रतिपादन के बावजूद न केवल यही कि कार्नप इस उन्मुक्त

सिद्धान्त की अर्थापत्ति दिखाने के लिये अपने आपको गणित तथा तर्क तक सीमित रखते हैं वल्कि अन्यों लेखों में इसके स्पष्टतः विपरीत भी जाते हैं । यदि सापेक्षतावाद सही है और "वस्तुओं का अस्तित्व" उस वाक्-व्यवस्था पर निर्भर करता है जिसके अन्तर्गत शब्दों का प्रयोग हो रहा है, तब 'यह मेज है' जितना प्रत्यक्ष-विषय-परक वाग्व्यवस्था में तथा 'एक सम-संख्या है' जितना गणितीय वाग्व्यवस्था में उचित वाक्य है उतना ही ईश्वर सर्व शक्तिमान है' वाक्य भी होना चाहिये, क्योंकि यह धार्मिक वाग्व्यवस्था का वाक्य है ।[७] कार्नर के उक्त लेख से तर्क का अनुसरण करते हुए तो इसके विरुद्ध केवल यही आपत्ति की जा सकती है कि यह धार्मिक वाक्-प्रयोग के सन्दर्भ में उचित वाक्य नहीं है, जो कि वे सिद्ध नही कर पाएंगे । किन्तु वे तो वास्तव में धार्मिक सन्दर्भ को ही उचित मानने को तैयार नहीं है, जो कि उस सन्दर्भ-वाग्व्यवस्था-पर वाह्य आपत्ति है । अपने एक अन्य महत्त्वपूर्ण लेख "मैथोडोलोजीकल केरेक्टर ऑफ साईंटीफीक कासेप्ट्स" में कार्नप ने भाषा के रचना और अनुवाद-नियमों का प्रतिपादन कर पहले भौतिक विज्ञान के ऐसे वाक्यों का प्रत्यक्षमूलक वाक्यों में रूपान्तरण करने का प्रयत्न किया है जोकि अन्यथा प्रत्यक्षमूलक नहीं है, और तत्पश्चात् मानसिक अवस्थाओं के वाचक वाक्यों का भौतिक अवस्थाओं के वाचक वाक्यों में रूपान्तरण किया है । अब, यह रूपान्तरण भौतिकतावादी (फ़िज़िक्लिस्टिक) सिद्धान्त के अनुसार है और यह अथवा अन्य कोई ऐसा सिद्धान्त तब तक संभव नहीं है जब तक कि बाह्यता परक आलोचक नहीं बना जाय । क्योंकि ऐसा सिद्धान्त समग्रात्मक होना आवश्यक है और परिणामतः इसके लिये सब आयामों (रैल्म्स्) तथा वाक्य-क्षेत्रों का एक आयाम तथा वाच्य-क्षेत्र में अन्तर्भाव आवश्यक है । कार्नप से भी बढ़ कर क्वाईन सापेक्षतावाद के समर्थक है और उन्होंने इसका प्रतिपादन अपने लेख "अनुभववाद की दो पूर्वमान्यताएं" मे बहुत स्पष्ट और विदग्ध रूप से किया है ।[८] उनका यह सापेक्षतावाद कार्नप से अधिक मूलगामी है, क्योंकि इसे वे भाषा (वाच्य-क्षेत्र की सापेक्षता) तक सीमित नहीं रखते बल्कि इसे "अवधारणात्मक सापेक्षता" कहते हैं । यह अवधापणात्मक सापेक्षता यद्यपि भाषा में भी लक्षित होती है किन्तु यह उससे व्यापकतर है । इसकी यह व्यापकतरता एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद की असंभवता से प्रकट होती है, जिसका अर्थ है कि भाषा का वाच्य उससे परे होता है । इस प्रश्न पर उन्होने अपनी पुस्तक "शब्द तथा विषय" (वर्ड एंड ऑब्जेक्ट) में विचार किया है ।

किन्तु इसके बावजूद ये अस्तित्वमीमांसात्मक है और इस अस्तित्वमीमांसा में लाघव के पक्षपाती हैं । इन्होंने, तथा गुडमैन[९] ने, पूर्णतः विशिष्टतावादी-भौतिकवादी अस्तित्व-

---

७. मिन्नेसोटा स्टडीज इन फिलसफी ऑफ साईंस, सम्पादक फाइग्ल तथा सैलर्स, जिल्द १

८. आगे संकलित ।

९. गुडमैन-स्ट्रक्चर ऑफ आफीयरेंस ।

मीमांसा को स्वीकार किया है । इसके लिये क्या औचित्य है, इस सम्बन्ध में कोई तर्क इन्होंने नहीं दिया है । शायद वे इसकी आवश्यकता भी नहीं समझते; उनके लिये समस्या केवल यही है कि भाषा में प्रयुक्त ऐसे वाक्यों का, जिनमें सामान्यवाचक अथवा मानसिक-वस्तुवाचक पद प्रयुक्त होते हैं, अनुवाद ऐसे वाक्यों में कैसे किया जाय जिनमें केवल विशिष्टता वाचक अथवा भौतिक वस्तुवाचक शब्द घटित होते हैं । क्वाईन के शब्दों में "भौतिक घटनाओं का अस्तित्त्व तो सिद्ध है ही, तब दूसरी कोटि को क्यों लाया जाय ? इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अन्तर्दर्शन (इन्ट्रोस्पैक्शन) अपनी भीतरी शारीरिक अवस्थाओं को देखना है, जैसे मेदे के तेजाब को ।"[१०] किन्तु इस लाघव को दर्शन का प्रमुखतम आदर्श नहीं बनाया जा सकता, यह केवल तार्किक-आकारिक व्यवस्थाओं का ही लक्ष्य हो सकता है । हमारे यहां यह वैयाकरणों का लक्ष्य रहा है, दार्शनिकों का नहीं । यदि लाघव को दर्शन का आदर्श होना ही है तब फिर विशिष्ट और भौतिक के पक्ष में ही यह लाघव क्यों किया जाय, सामान्य और मानसिक के पक्ष में क्यों नहीं किया जाय ? और पुनः, यह वास्तव लाघव भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस अवस्था में प्रत्येक घटना एक पृथक् सत्ता होगी । इन घटनाओं को 'विशिष्ट' या 'भौतिक' कह कर इन्हें उपयुक्त रूप से कोटिकृत नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस अवस्था के अन्तर्गत कोटिकरण (कैटेगोराइजे़शन) वदतोव्याघात होगा ।

किन्तु उपरोक्त आलोचना से इन दार्शनिकों के वास्तव कृतित्व का अनुमान नहीं हो सकता । इन्होंने इस अनुभववादी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये कि सब सार्थक कथन या तो प्रत्यक्षमूलक हैं अन्यथा केवल आकारिक हैं, सब प्रकार की कथन-विधाओं (मोड्स़ ऑफ स्टेटमेंट्स) का विस्तृत और सूक्ष्म अध्ययन किया । इस प्रकार आकारिक तर्क तथा व्याकरण और अर्थ विषयक प्रश्नों के विवेचन के लिये शिल्प-कौशल का जो विकास हुआ वह अभूतपूर्व है । इस प्रकार की दर्शन-प्रणाली प्रकृष्टतम रूप में कार्नप की "लोजीकल साइंटेक्स ऑफ लेंग्वेज", "मीनिंग एंड नेसेसिटी", क्वाईन की "फ्राम ए लॉजीकल प्वाइंट ऑफ व्यू" "वर्ड एंड ऑब्जेक्ट" और गुडमैन की "स्ट्रक्चर ऑफ अपीयरेंस" तथा स्ट्रासन की "इंडीविड्अल्स" पुस्तकों में प्रखरतम रूप में फलीभूत हुई है । इन पुस्तकों के दृष्टिकोणों तथा विधियों में बहुत अन्तर है, किन्तु तब भी ये भाषा तथा आकारिक तर्क के प्रति अपने आग्रह में समान हैं । स्ट्रॉसन निश्चय ही आकारिक तर्क का आश्रय नहीं लेता है, वह इसके विरुद्ध भी है, किन्तु व्याकरण की कोटियों के विश्लेषण को दार्शनिक समस्याओं की कुंजी उसने माना है ।

३

आधुनिक अनुभववादी-प्रत्यक्षवादी दर्शन की तीसरी मुख्य शाखा को विश्लेषणवाद, लोक-भाषा-विश्लेषणवाद, उपचारवाद (थिरेप्यूटिज़्म) इत्यादि बहुत से नाम दिये गये हैं । इसका प्रथम प्रवर्त्तक कुछ मूर को भी मानते हैं, किन्तु यह केवल वंश-परंपरा को और

---

१०. क्वाईन वर्ड एंड ऑब्जेक्ट, पृ. २६४ ।

अधिक प्राचीन बनाने के विचार से। अन्यथा इस विशेष विधि स्वरूप और औचित्य पर सर्वप्रथम विट्गिंस्टाईन ने विचार किया। विट्गिंस्टाईन के विचार उसकी मरणोपरान्त प्रकाशित पुस्तक "फिलोसोफीकल इन्वेस्टीगेशंस्" में संकलित है। इस सम्प्रदाय के मुख्य दार्शनिक विज्डम, राईल, ऑस्टिन तथा वेज़मान हैं।

यद्यपि इस सम्प्रदाय के दार्शनिक इस सम्प्रदाय को तार्किक प्रत्यक्षवाद की अथवा अनुभववाद की भी, एक शाखा नहीं मानते, बल्कि उन्हें इस विशेषण से चिढ़ है, किन्तु तब भी दूसरे देखते है कि "कुल सपूत जान्यो परत लखि सुभलच्छन गात"। इस सम्प्रदाय में तथा ऊपर चर्चित दो सम्प्रदायों में वास्तव मे ही निकट बन्धुता का सम्बन्ध है। यह बन्धुता इनके तत्वमीमांसा-विरोध में, भाषा-विश्लेशण को दर्शन की इतिकर्त्तव्यता मानने में, तथा लोक-धारणाओं और विज्ञान को प्रमाणिकता की पराकाष्ठा मानने में, निहित है किन्तु तब भी इनमें गम्भीर अन्तर है। यह अन्तर विधि तथा लक्ष्य दोनों में है। जैसाकि हमने ऊपर देखा इस सम्प्रदाय का एक नाम उपचारवाद भी है। इस नामकरण का कारण विट्गिंस्टाईन द्वारा दर्शन का कार्य स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित करना है कि स्वतः कोई दार्शनिक समस्याएं नहीं होती, ये समस्याए कुछ लोगों द्वारा कुछ भाषा-प्रयोगों का स्वरूप ठीक-ठीक नहीं समझ पाने के फलस्वरूप उत्पन्न भ्रम के कारण होती हैं। उसके अनुसार, "दार्शनिक समस्या का स्वरूप इस प्रकार का होता है—मुझे रास्ता नहीं सूझ रहा है।" उसके अनुसार, "जब हम दार्शनिक-चिन्तन में प्रवृत्त होते है तब हम उन असभ्य-आदिम लोगों की भूमिका में होते है जोकि सभ्य लोगों द्वारा बोले गये वाक्य सुनते है और उनसे विचित्र निष्कर्ष निकालते है।" पुनः "दर्शन में आपका क्या उद्देश्य होता है? बोतल में फँसी मक्खी को बाहर निकलने का रास्ता दिखाना।" ये दो उद्धरण परस्पर विरोधी प्रतीत होते है। इस विरोध का परिहार इस प्रकार है कि प्रथम में दार्शनिक-चितक को जबकि "बोतल में फँसी मक्खी" के रूप मे देखा गया है, दूसरे में उसे "बोतल में फँसी मक्खी को बाहर निकालने का रास्ता दिखाने वाले के रूप में।" ये दोनों स्थितियां दार्शनिक की ही होती है क्योंकि लोक-साधारण न अकारण उलझन में पड़ता है और न उसे निकलने की आवश्यकता होती है। दार्शनिक भाषा को गलत समझने के कारण उलझन में पड़ता है और ये उपचारवादी दार्शनिक एक ही कोटि के नहीं होते है। प्रथम प्रकार के दार्शनिक वे है जिनको "बुद्धि भाषा (लोक-भाषा) के द्वारा व्यामोहित (विचिच्ड) होती है", जो "व्याकरण मूलक भ्रांतियों से विभ्रान्त होते हैं", जो "हमारी भाषा की वाक्य रचनाओं की गलत व्याख्या" के कारण तत्वमीमांसा की भूलभुलैया में फसते है। और दूसरे प्रकार के दार्शनिक वे है जो "हमारी भाषा के वास्तव व्यापार को स्पष्ट करते हैं और विपरीत आकर्षण होने पर भी, इस वास्तव व्यापार को पहचानने के लिये हमें बाध्य करते हैं।"

यह दार्शनिक व्यामोह या विभ्रान्ति कैसे उत्पन्न होती है? "ट्रक्टेटस लोजीको फिलासफीकस" पुस्तक में विट्गिंस्टाईन ने भाषा का कार्य तथ्य-चित्रण कहा था। इस कारण

उसके लिये आवश्यक हो गया कि वह ऐसे सब वाक्यों, जो प्रकटत: किसी तथ्य का चित्रण नहीं करते हैं; ऐसे वाक्यों में अन्तर्भाव करे जो यह चित्रण करते हैं। परिणामत: जो वाक्य इस प्रकार अन्तर्भूत नहीं किये जा सकते थे उन्हें उसने निरर्थक कहा।

अब, इन्वेस्टीगेशंस् में, उसका मत था कि भाषा का कोई एक ही कार्य नहीं है। शब्द और वाक्य विभिन्न कार्यों का सम्पादन करते हैं और विभिन्न प्रयोजन सिद्ध करते हैं। सो, दर्शनिक का प्रथम कार्य यह देखना है कि ये कितने विभिन्न प्रकारों के हैं। "हथियारों की सन्दूकड़ी में पड़े हथियारों की ओर ज़रा ध्यान दो; इसमें हथौड़ा होता है, पेचकस होता है, आरी होती है, फुट्टा रहता है, वर्मा होता है, और पेच तथा कीलें आदि होती हैं। शब्दों के प्रकार्य उतने ही भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं जितने इन हथियारों के। दार्शनिक चिन्तन करते हुए हम शब्दों के किसी एक व्यापार को उनका एकमात्र व्यापार मानने लगते हैं, किन्तु ऐसा कोई भी एक विवरण बेकार है, उतना ही बेकार जितना बेकार हथियारों का कोई एक कार्य मान कर दिया गया विवरण होगा। यदि हम कहें "सब हथियारों का कार्य कुछ घड़ना है" तब इससे क्या लाभ होगा ? यह हमें हथियारों के सम्बन्ध में कोई ज्ञान नहीं देगा। इसी प्रकार "वाक्य कितने प्रकार के हैं ? कहेंगे, कथनात्मक; प्रश्नात्मक और विध्यात्मक—किन्तु वास्तव में ये असंख्य प्रकार के हैं जिन्हें हम 'शब्द", "प्रतीक", "वाक्य" कहते हैं उनके असंख्य प्रकार के उपयोग हैं।" क्रीड़ाओं को लें। "इन सब में क्या सामान्य है ?—यह कहना उचित नहीं है कि कुछ अवश्य सामान्य होगा अन्यथा उन्हें क्रीड़ाएं नहीं कहा जाएगा—किन्तु देखो और जांचो कि क्या वास्तव में इनमें कुछ भी सामान्य है ? क्योंकि यदि तुम इन पर दृष्टिपात करोगे तब पाओगे कि इनमें कुछ भी सामान्य नहीं है, बल्कि केवल अनुरूपताएं हैं, सम्बन्ध हैं, और इनकी एक पूर्ण शृंखला इनमें है। सो "विचारो नहीं, देखो।" (डोंट थिंक बट लुक)।

यहां हमने अत्यन्त संक्षेप में विट्गिन्स्टाईन के नवीन विचारों का विवरण दिया और इस प्रसंग में उसके कुछ चमत्कारी वाक्प्रयोग उद्धृत किये। इनसे इंगलैंड का युवक-वृहत चमत्कृत हुआ और उसने इन्हें श्रुति-वचनों के समान ग्रहण कर इन पर मनन और निदिध्यासन आरंभ किया। इस पुस्तक में हमने राईल का एक लेख "व्यवस्थित रूप से भ्रामक अभिव्यक्तियां" संकलित किया है जो इन नवीन प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि लेख समझा जाता है। जैसाकि इस लेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है इसमें लेखक ने कुछ वाक्यों का विश्लेषण किया है, जिनके सम्बन्ध में राईल का विचार है कि दार्शनिक इन या ऐसे वाक्यों के व्याकरण-रूप को सत् का द्योतक रूप मानने के कारण भ्रमित हुए हैं। उसके अनुसार, वाक्यों का न तो कोई स्थिर अर्थ होता है और न ये सत् के चित्र होते हैं। वाक्यों का अर्थ उनके प्रयोग के सन्दर्भ में समझना चाहिये।

उनका यह लेख अधिकांश में बर्ट्रेंड रसल के "ऑन् डिस्क्रिप्शंस्" लेख की अनुवृत्ति जैसा लगता है, और बहुत कुछ वह वैसा है भी, किन्तु अपनी मूल दृष्टि में यह उससे बहुत

भिन्न है । रसल यह मानते है कि भाषा का एक मूल ढांचा है जिसके वाक्य संज्ञा और सम्बन्धवाचक पदों से रचित होते हैं । यह ढांचा सत् के ढांचे के अनुरूप है और संज्ञा तथा विधेय पद सत् के द्योतक होते है । "स्वर्ण-पर्वत का अस्तित्त्व नहीं है" जैसे वाक्यों में "स्वर्ण-पर्वत" वास्तव में संज्ञा-पद नहीं होकर वर्णनात्मक पद है, जो किसी का वर्णन नहीं करता । इसके विपरीत राईल कोई ऐसी मूल संज्ञाओं, "मूल विधेयों" और "मूल-वाक्यों" को नहीं मानते । अपने इस लेख का निष्कर्ष बताते हुए वे लिखते है :

इस प्रकार मेरे विचारों में, "यह प्रश्न करने, अथवा कहने में भी कि 'इस कथन का क्या अर्थ है' एक तुक है । क्योंकि जब कोई अभिव्यक्ति किसी तथ्य के वास्तव रूप को छिपाती हो अथवा उपयुक्त रूप से प्रकट नहीं करती हो, तब यह प्रश्न करना उचित ही है कि वाच्य तथ्य का वास्तव रूप क्या है । और इस तथ्य का हम नवीन पद-योजना द्वारा कथन कर सकते है, जो कथन कि उसे प्रकट कर देता है जिसे कि प्रथम पद-योजना प्रकट नहीं कर रही थी । इस समय मैं सोचता हूं कि यही दार्शनिक विश्लेषण है, और यह दर्शन का एकमात्र कार्य है ।······किन्तु क्योंकि अपने पाप की स्वीकृति आत्मा के लिये श्रेयस्कर है, इसलिये मुझे यह स्वीकार करना ही चाहिये कि मुझे वे निष्कर्ष, जिनकी ओर कि ये निष्कर्ष सकेत करते हैं, बहुत रुचिकर नहीं हैं । मैं दर्शन को भाषा में दोषपूर्ण वाक्य-रचनाओं तथा भ्रान्त सिद्धान्तो के स्रोत खोजने से उत्कृष्टतर कार्य देना चाहूंगा । किन्तु इसमें मुझे सन्देह नही है कि दर्शन का कम से कम यह कार्य तो है ही ।"

अपने इस लेख के निष्कर्षो का उन्होंने अपनी पुस्तक "दि कांसेप्ट आफ माईंड" में अनुसरण किया है और उन विभिन्न शब्दों के विभिन्न प्रयोग-प्रसंग दिखाये है जो मानसिक स्थितियों के वाचक समझे जाते हैं । इस पुस्तक का लक्ष्य यह दिखाना है कि मन-संज्ञक कोई सत्ता या वस्तु नहीं है जो व्यवहार और क्रियाओं से भिन्न और अतिरिक्त कुछ है । यह केवल हमारे (दार्शनिकों के ?) आदिम विश्वासों का अवशेष है जो हम व्यवहारों और क्रियाओं के पीछे किसी सत्ता की खोज करते है, जैसे आदिम लोग मशीन को चलते देख कर उसमें भूत की कल्पना करते है । उनका यह दृष्टिकोण विट्गिंस्टाईन द्वारा प्रवर्तित इस दार्शनिक मत के अनुरूप ही था कि अर्थ का वाक्यों या शब्दों से पृथक् कोई अस्तित्त्व नही है । वे अर्थ को प्रयोग-सन्दर्भ का व्यापार मानते है । दूसरे शब्दों में, अर्थ शब्द-प्रयोग का सन्दर्भ है । इस प्रतिज्ञा का अनुसरण करने पर यह निष्कर्ष सहज है कि मन मनस्क्रियाएं और व्यवहार ही है—'राम क्रुद्ध है' का यह अर्थ नहीं है कि "राम के भीतर क्रोध सज्ञक कोई स्थिति विशेष है ।" यह राम के वर्त्तमान व्यवहार और संभाव्य व्यवहार के सम्बन्ध में कथन है ।

यह प्रतिपादन उतना अनुपयुक्त नहीं है जितना यह प्रथम दृष्टि में प्रतीत होता है । ऐसा प्रतीत होने का कारण यह है कि राईल का झुकाव बहुत कुछ भौतिकवादी-वैज्ञानिकवादी है । इसकी पुष्टि उनकी "मशीन में भूत" की उपमा से भी होती है । किन्तु इस प्रतिपादन

की मूल प्रतिज्ञा के लिये यह आग्रह न केवल आवश्यक ही नहीं है बल्कि अनुपयुक्त भी है। अर्थ को "शब्द-प्रयोग का व्यापार" कहने के लिये आवश्यक है कि शब्द को सगर्भ-ध्वनि माना जाय और प्रयोग को एक सगर्भ सन्दर्भ। 'सगर्भ' से यहां यह अभिप्राय नहीं है कि अर्थ संज्ञक कोई वस्तु है जो ध्वनि में अन्तर्हित है, यहां कहने का अभिप्राय यह है कि यह ग्रामोफोन रिकार्ड से ध्वनित और टेपरिकार्डर से श्रुत से बहुत अधिक कुछ है। पुनः, अर्थ उतना ही प्रयोग-निर्भर है जितना प्रयोग अर्थ-निर्भर, दोनों एक ही वस्तुस्थिति के दो पक्ष हैं। इसी प्रकार मन के लिये भी : "मुझे ज्ञात है कि यह मेज है" का यह विश्लेषण बहुत अधिक समीचीन है कि यहां कोई मन संज्ञक वस्तु में किसी घटना के घटित होने के सम्बन्ध में कथन नहीं है, यह दौड़ की प्रतियोगिता में जीत के जैसा है जिसमें जीत संज्ञक कोई वस्तु या स्थिति नहीं होती। किन्तु इसमे एक बड़ी महत्त्व की बात छोड़ दी गयी है : जब मैं कहता हूं कि "मै जानता हूं......" तब जानना अवश्य ही अन्यान्य स्थितियों का व्यापार है, किन्तु जान पाने और जान पाने में असफल रहने के बीच कुछ सामान्य भी है और यह मात्र मेज के होने से मूलतः भिन्न है, इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसे व्यवहार, क्रिया या इनकी संभावना से पृथक् मत मानिये, किन्तु तब आप व्यवहार-क्रिया आदि को भी मशीन की पदावली में नही समझ सकते।

ऐसा नहीं है कि इस सम्प्रदाय के सभी दार्शनिक राईल के समान ही व्यवहारवाद के प्रतिपादक हैं, स्वयं विट्गिंस्टाईन ही नही थे, और न वेज़मान ही हैं, किन्तु तब भी इस सम्प्रदाय में ऐसी प्रवृत्तियों की ओर ही झुकाव दिखाई पड़ता है जिनसे व्यवहारवाद-भौतिकतावाद को बल मिलता है। हमारे इस कथन की पुष्टि इस सम्प्रदाय के दार्शनिकों की नीतिमीमांसा से होती है। वे नीति-वाक्यों को आदेश-वाक्यो, आवेग-व्यंजक वाक्यों आदि में अन्तर्भाव्य मानते हैं। यद्यपि वे इस आपत्ति को स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि उनका तो मत है कि वे नैतिक वाक्य-प्रयोग का ही स्वरूप दिखा रहे है, स्वयं वाक्य-प्रयोग के ही द्वारा, किन्तु 'क उत्कृष्ट है' का अनुवाद (जैसाकि अन्तर्भाव को वे कहते हैं) 'मैं' क को स्वीकार करता हूं' अथवा 'क मुझे रुचिकर है' में न तो स्वतः होता दिखाई देता है और न 'उत्कृष्ट है' के प्रयोग-सन्दर्भो को देखने से ऐसा कुछ प्रतीत होता है।[११] उदाहरणतः 'नैतिक अन्धापन' एक प्रयोग है और इसका पसन्द-नापसंद की पदावली में अनुवाद संभव दिखाई नहीं देता, केवल अन्तर्भाव ही संभव हो सकता है।

जैसाकि हमने पीछे देखा, विट्गिंस्टाईन ने दर्शन का कार्य दार्शनिक के भाषा-जन्य व्यामोह का निरास करना कल्पित किया था और परिणाम स्वरूप इन अनुयायी दार्शनिकों

---

११. द्रष्टव्य हमारा लेख नैतिक मूल्य, संस्कृति : मानव-कर्तव्य की व्याख्या पुस्तक में। इसमें मैंने नैतिकता की अनन्तर्भाव्यता की व्याख्या की है।

ने अपना कर्त्तव्य व्यामोहित दार्शनिकों का उपचार करना मानकर समकालीन तार्किक अणुवाद और तार्किक प्रत्यक्षवाद की आलोचना की । विज्डम की तो एक पुस्तक का नाम है "तत्वमीमांसा और मनोविश्लेषण" (मैटाफिजीक्वस एंड साइकोएनेलेसिस) इसमें उन्होंने तत्वमीमांसा और मनोग्रंथियों का परिणाम माना है और उसका मनोविश्लेषण किया है। किन्तु विज्डम के विपरीत वेजमान, जोकि इस सम्प्रदाय के एक बहुत स्वस्थ और उदार दार्शनिक हैं, तत्वमीमांसा को इस प्रकार व्यामोह और मनोव्याधि का परिणाम नहीं मानकर उसे "हमारी अवधारणाओं में गहरे झांक कर ऐसी तहें देखने वाला" मानते है "जिन अवधारणाओं को कि सामान्य लोग ऊपर से ही देखते हैं और इसलिये कोई उलझन उन्हें दिखाई नहीं देती।"[१२] उनकी यह उदारता उनके भाषा विषयक दृष्टिकोण में भी परिलक्षित होती है। इस प्रसग में उनका लेख "लेंग्वेज स्ट्राय" द्रष्टव्य है । इसमें से एक उद्धरण यहां समीचीन होगा :

"यह तथ्य कि भाषा ऐन्द्रिय संवेद के स्तर से उठकर मानसिकता के स्तर पर आरोहण करती है, एक विचित्र वस्तुस्थिति को जन्म देता है : बहुत बार हम एक शब्द के पीछे एक अन्य अभिप्राय की जोकि गहनतर तथा अर्ध-गुह्य होता है, झलक देखते हैं, और एक अन्य अर्थ के दबे पांव प्रवेश की आहट अनुभव करते हैं, जिसमें तथा जिसके साथ कि दूसरे अर्थ भी ध्वनित हो उठते है, और ये सब शब्द के मूल अर्थ के साथ घंटी के अनुरणनों के समान गुंजारित होते हैं।"[१३] यहां शब्द और अर्थ के सायुज्य और शब्द और अर्थ की प्रयोग-निर्भरता का बहुत ही सुन्दर वर्णन है और साथ ही साथ शब्द की अध्यात्म स्वरूपता विस्पष्ट है । भाषा तथा मानसिकता के प्रति यही दृष्टिकोण किनूहोल्य के लेख "इटेंशनल इनेग्जिस्टेंस" (उनकी पुस्तक "पर्सीविंग" परिशिष्ट में संकलित) मे भी है । इस प्रकार इस सम्प्रदाय का कोई निश्चित दार्शनिक मत नही है, सिवाय इस बात के कि ये तत्वमीमांसा और रचित भाषा-व्यवस्थाओं के विरुद्ध हैं।

× × ×

फाइग्ल ने मिन्नेसोटा स्टडीज इन फिलासी ऑफ साईंस की जिल्द के प्रवेश में रसल-मूर से लेकर राइल ऑस्टिन तक सबको प्रत्यक्षवाद के अन्तर्गत ही रखा है और इन तीन सम्प्रदायों को तीन शाखाएं कहा है; इसी प्रकार एयर ने "तार्किक प्रत्यक्षवाद" पुस्तक मे रसल तथा राइल और वेजमान के लेख भी संकलित किये हैं। इनमें क्या सामान्य है, यह

---

१२. हाउ आई सी फिलासफी, एयर द्वारा संपादित लॉजीकल पॉजिटिविज्म पुस्तक में संकलित।

१३. फ्लू द्वारा संपादित "एस्सेज ऑन लॉजिक एंड लेंग्वेज", जिल्द २ में संकलित, पृ. १३।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाना चाहिये । इनमें मतभेद वास्तव में ऐकमत्य के अन्तर्गत है। यह ऐकमत्य मूल दृष्टिकोण में है--सभी तत्त्वमीमांसा विरोधी हैं, सभी दर्शन को विशिष्ट प्रश्नों पर विचार करना मानते हैं और एक समग्र व्यवस्था के निर्माण में विश्वास नहीं करते, सभी अध्यात्म, मृत्यु, जीवन का लक्ष्य और अर्थ की समस्याओं को वर्जित मानते हैं। इस प्रकार यह निश्चित रूप से एक दर्शन प्रणाली है।

दूसरी मुख्य दर्शन-प्रणाली अस्तित्ववाद है जिस पर संक्षेप में हम यहां विचार करेंगे ।

अस्तित्ववाद की परिभाषा देना बहुत कठिन है । कठिनाई का मुख्य कारण यह है कि जिन दार्शनिकों को अस्तित्ववादी माना जाता है उनके दार्शनिक विचारों में पारस्परिक भिन्नता इतनी अधिक है कि उन सबको एक ही वाद में सम्मिलित करने के औचित्य के बारे में कभी कभी सन्देह होने लगता है। इस प्रकार के सन्देह का निराकरण दो बातों से होता है। एक तो सभी अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने कुछ सामान्य विषय-वस्तुओं के बारे में चिन्तन किया है । दूसरा, सभी अस्तित्ववादी दार्शनिकों की चिन्तन प्रक्रिया में एक ऐतिहासिक सान्तत्य पाया जाता है आकस्मिक नहीं है । यहां अस्तित्ववाद की सामान्य प्रवृत्तियों तथा अस्तित्ववादी दार्शनिकों द्वारा चार्चत विषयों का संक्षिप्त विवरण उपादेय होगा। अस्तित्ववाद का निम्नांकित विवेचन प्रस्तुत संकलन में समाविष्ट हाईडैग्गर के निबन्धों को समझने में सामान्यतः सहायक होगा ।

अस्तित्ववाद के चिन्तन का विषय प्रधानतः मनुष्य है । वैसे हाईडैग्गर और सार्त्र ने दावा किया है कि उन्होंने परम्परागत सत्ता-शास्त्र के स्थान पर एक नये सत्ता-शास्त्र की स्थापना की है । उनका कहना है कि उनके दर्शन का उद्देश्य व्यापक 'सत्' का निरूपण करना है, न कि केवल मानव अस्तित्व की व्याख्या । हाईडैग्गर ने तो स्पष्ट शब्दों में अपने दर्शन-तंत्र के विरुद्ध मानवीकृतीयता की आपत्ति को भ्रान्तिपूर्ण बताया है । वे कहते हैं कि उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का मानव की विशिष्ट परिस्थितियों की व्याख्या करने के लिए प्रयुक्त किये जाने से यह भ्रम हो जाता है कि ये सिद्धान्त मानवनिष्ठ हैं जिनका कोई तात्त्विक महत्त्व नहीं है। पर हाईडैग्गर और सार्त्र ने सत्ता की व्याख्या करने में मानव-संवर्गों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। हाईडैग्गर के निबन्धों में उद्वेग, चिन्ता, जिज्ञासा, मृत्यु से त्रास, संकल्प आदि पदों की प्रत्यावृत्ति मिलती है । सार्त्र भी अपने लेखों में चेतना, त्रास, परिप्रश्न, कुत्सित निष्ठा आदि व्यंजकों को मुक्त हस्त प्रयोग करते हैं। व्यापक सत्ता-शास्त्र की स्थापना करने का दावा करते हुए अपने दर्शन की मानव केन्द्रीयता की सफाई हाईडैग्गर और सार्त्र दो युक्तियों द्वारा दे सकते हैं । एक तो यह कि ससीम 'सत्' मानव वातायन है जिसमें से असीम सत् की झांकी मिलती है । दूसरा, असीम का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता मनुष्य में नहीं है । अतः उसे अपनी सत्ता विषयक जिज्ञासा को अपने ही अस्तित्व के स्वरूप के निरूपण तक सीमित रखनी चाहिये । हाईडैग्गर और सार्त्र कहां तक एक नये सत्ता-शास्त्र

को स्थापित करने में सफल हुए हैं इस प्रश्न पर विचार किए बिना यहाँ इतना ही कहना प्रासंगिक है कि अस्तित्ववाद की विशेषता और महत्त्व इसी में निहित है कि वह मानव-अस्तित्व का, न कि निःसीम सत्ता का, अपूर्व विश्लेषण करता है।

अस्तित्ववाद का चिन्त्य विषय मूर्त्त मनुष्य है—मनुष्य जो आचार-शास्त्र का कर्त्ता है; ज्ञान-मीमांसा का द्रष्टा-मात्र नहीं। कर्त्ता की भूमिका में वह पूर्ण स्वतन्त्र है। अपने चुनाव और संकल्प द्वारा वह निरन्तर अपने आपका सृजन करता है। अपने स्रष्टा के रूप में उसकी संभावनाओं की कोई सीमा नहीं होती। वह अपने आपसे भी सीमित नहीं है। अतः उसकी व्याख्या उसके अतीत द्वारा नहीं की जा सकती। स्वतन्त्र वरण करके वह अपने अतीत को अभिभूत कर लेता है।

सामान्यतया अस्तित्ववादी दर्शन मे व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसकी गरिमा के लिए आग्रह है। इस दृष्टि से वह समष्टिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है—हर प्रकार के समष्टिवाद के विरुद्ध जो व्यक्ति को समूह का एक अनिवार्य अंग मानकर उसके व्यक्तित्व को तुच्छ बना देता है। इस प्रसंग में किर्केगार्ड का कथन द्रष्टव्य है। उन्होंने कहा है "हर युग की अपनी एक विशेष भ्रष्टता होती है। वर्तमान युग की भ्रष्टता सुखवाद, भोग या एन्द्रिय-परायणता नहीं है, बल्कि दुर्वृत्ति सर्वेश्वरवादी विषयक व्यक्ति के लिए घृणा है।" व्यक्ति की गरिमा की घोषणा करते हुए अस्तित्ववाद मनुष्य को उसकी सामाजिक भूमिका में विगलित करने की प्रवृत्ति का विरोध करता है। इस पक्ष को मर्सल ने बड़े सुन्दर ढंग से प्रकट किया है। मानव को उसकी सामाजिक वृत्तियों में विघटित करने का प्रयास उसका अपकर्ष है। किर्केगार्ड की दृष्टि में व्यक्ति का संप्रत्यय न केवल समष्टिवादी धारणा और वृत्तिमूलक दृष्टिकोण के साथ विसंगत है बल्कि वह दार्शनिक तंत्रवाद के साथ भी असंगतिपूर्ण है। दार्शनिक तंत्र व्यक्ति के अस्तित्व की एक संप्रत्यात्मक योजना के अंतर्गत व्याख्या करता है जिसके अनुसार व्यक्ति एक दूसरे के साथ और सम्पूर्ण योजना से तार्किक सम्बन्धों द्वारा जुड़े रहते हैं। इस योजना में व्यक्ति तार्किक घटकों से अधिक कुछ भी नहीं है। अन्य अंशकों की तरह तर्क द्वारा उनका फलन ज्ञात किया जा सकता है। हीगल ने इसी प्रकार के दर्शन तंत्र रचना द्वारा मनुष्य के अस्तित्व की व्याख्या की है। हीगल का द्वन्द्वात्मक तर्क सहज भाव से युक्त से वास्तविक की ओर गतिमान है। अटूट द्वन्द्व-मूलक प्रक्रिया में 'सार' निरन्तर 'सत्व' में रूपान्तरित होता रहता है।

अस्तित्ववादी दृष्टिकोण का अक्षरशः विपरीत मत 'सारवाद' से संकेतित किया जा सकता है। सारवाद की यह मान्यता है कि, मनुष्य का कोई सार तत्त्व है जो उसके अस्तित्व द्वारा प्रकट होता है। व्यक्ति के जीवन का घटनाक्रम मनुष्य के सार-तत्त्व को ही उद्घाटित करता है। हर मानव-व्यक्ति, मनुष्य के संप्रत्यय को, जो कि उसके सार-तत्त्व को स्फुरित करता है, साकार रूप देता है। लिबनीज, जो विशुद्ध सारवादी है, यह दावा करता है कि व्यक्ति के संप्रत्य को भली भाँति जान लेने पर हम उसके जीवन की सभी घटनाओं का उसी

प्रकार पूर्वानुमान कर सकते हैं जैसे कि आश्रय वाक्य से निष्कर्ष वाक्यों का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार सारवादी मानव की स्वतंत्रता, सृजनात्मकता और उसके कर्तृत्व को केवल भ्रान्तिजनक मानता है। सारवादी दर्शन की निष्पत्ति हीगल के दर्शन-तंत्र में होती है। अतः अस्तित्ववाद के प्रवर्तक कीर्केगार्ड के दर्शन का मूल प्रयोजन हीगल के दर्शन-संधान के खोखलेपन को दरसाना अपेक्षित ही समझा जाना चाहिये।

अस्तित्ववाद का आग्रह है कि मनुष्य का कोई पूर्वनिश्चित सार तत्त्व नहीं है। वह अपना सार अपने स्वतन्त्र निर्णय, चुनाव और संकल्प द्वारा निर्धारित करता है। पूर्व निश्चित सार न होने से मनुष्य का संप्रत्ययीकरण नहीं किया जा सकता। अस्तित्ववाद का बहु चर्चित सूत्र 'अस्तित्व सार का पूर्वानुगामी है', मानव के अस्तित्व की उसके व्यक्त स्वरूप की तुलना में प्राथमिकता घोषित करता है।

त्रास की संवेदना स्वतंत्रता की सहवर्त्ती है। त्रास का निर्वाचन किर्केगार्ड, हाईडेगर और सार्त्र ने एक सा नहीं किया है। हाईडेगर के अनुसार जीवन के अनिवार्य अंत के रूप में मृत्यु की चेतना त्रास उत्पन्न करती है। व्यक्ति जब अपनी स्वतन्त्रता को भविष्य में प्रक्षिप्त करता है तो मृत्यु का विचार स्वतन्त्रता के अवरोधक रूप में मूर्त्त हो जाता है। किन्तु सार्त्र की दृष्टि में मृत्यु कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है। मेरी मृत्यु मेरे लिए कुछ नहीं के बराबर है। अस्तित्व का अर्थ मेरी भावी संभावनाओं से मेरे व्यक्तित्व की तद्रूपता है। मेरी भावी संभावनाओं को यथार्थ करने के प्रयत्नों में सन्निहित स्वतन्त्रता मुझ में त्रास उत्पन्न करती है। अपनी स्वतंत्रता के बोध के साथ ही मुझे यह प्रतीति होती है कि, मेरे पथ-प्रदर्शन के लिए कोई सुनिश्चित मान्यतायें नहीं हैं जिनसे मुझे वरण करने में दिशा-संकेत मिल सके, कि अपने मूल्यों को मुझे ही चुनना है। यह अनुभूति कि अपने निर्णय द्वारा अनिवार्यतः मुझे मूल्यों का सृजन करना है जिसके लिए अपनी क्षमता के बारे में मैं संदिग्ध हूँ मेरी स्वतन्त्रता को मेरे लिए भयावह बना देता है और मुझे लगता है कि इस त्रासावह स्वतन्त्रता का भार वहन करने के लिए मैं सर्वथा अभोग्य हूँ।

सार्त्र और हाइडेगर समान रूप से त्रास, वेदना आदि असमान्य अनुभवों को अपने दार्शनिक चिन्तन में अत्यधिक महत्त्व देते हैं। उनकी यह धारणा है कि प्रतिदिन की दिनचर्या से तथाकथित असमान्य अनुभूतियाँ आवृत्त हो जाने से हम उनकी यथार्थता के बारे में सजग नहीं रहते। किन्तु रूढ़ियों द्वारा स्थिरीकृत जीवन से हम अपने आपको थोड़ी देर के लिए भी पृथक करके विचार करते हैं तो त्रास, वेदना, उत्कण्ठा और निःसंगता आदि अनुभूतियाँ, जो दैनिक जीवन-सतही परत से ढकी रहती हैं, हमारी चेतना को ग्रस्त कर लेती हैं।

अस्तित्ववाद की प्रायः सभी विषय-वस्तुओं का किर्केगार्ड के निबन्धों में उल्लेख मिलता है। किर्केगार्ड के दार्शनिक लेखन का मुख्य प्रयोजन इसाई धर्म के सच्चे स्वरूप को प्रस्तुत करना तथा उसके विरुद्ध लगाये जाने वाले आरोपों को निरस्त करना था। आत्मो-

पलब्धि के लिए उन्मुख व्यक्ति ऐन्द्रिय अवस्था को पार करके नैतिक अवस्था में से होते हुए आध्यात्मिक स्तर को प्राप्त करता है। ऐन्द्रिय अवस्था का विवरण देते हुए किर्केगार्ड वैकल्प के प्रत्यय का सूत्रपात करता है जिसकी सार्त्र के अस्तित्ववाद मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पापकर्म की चेतना व्यक्ति को नैतिक अवस्था से आध्यात्मिक की ओर प्रेरित करती है। व्यक्ति की निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर गति स्वतः नहीं हो जाती। ऐन्द्रिय से नैतिक और नैतिक से आध्यात्मिक अवस्था की ओर गतिमान होने के लिए व्यक्ति को अपने आपको प्रतिबद्ध (Commit) करना पड़ता है। प्रतिवद्धता में चुनाव पूर्वापेक्षित है। किर्केगार्ड द्वारा प्रतिपादित वैकल्प, पाप कर्म की चेतना, प्रतिवद्धता चुनाव आदि प्रत्यय बाद के अस्तित्ववादी दार्शनिकों द्वारा नूतन संदर्भों में प्रयुक्त होकर उत्तरोत्तर अर्थ सम्पन्न होते गये।

स्वतन्त्रता और आत्मसृजन यासपर्स के अस्तित्ववाद में महत्त्वपूर्ण भूमिका में है। उसके अनुसार मेरा अस्तित्व मेरी आगामी सभावनाओं द्वारा परिभाषित किया जा सकता है। मैं सर्वदा अपने आपका सृजन करने की प्रक्रिया में अभिभूत रहता हूँ। यह प्रक्रिया साऽदि किन्तु अटूट और अनन्त है। आत्मसृजन की प्रक्रिया में समाप्तावस्था कभी नहीं पहुँचती। 'सत्' की समस्या आत्मसृजन के सदर्भ में ही उद्‌भूत होती है। आत्म-सृजन के मार्ग पर अग्रसर व्यक्ति मृत्यु में आत्म-निर्माण का सीमांकन देखता है। मृत्यु द्वारा मेरी स्वतन्त्रता के सीमांकन का बोध मुझे सीमोल्लंघन के लिए प्रेरणा देता है। मृत्यु की ओर सजगता, ससीमता का बोध, और सीमोल्लंघन के संकल्प की अनुभूतियों में मुझे सत् के स्वरूप की झलक मिलती है। समग्र सीमाओं के नकार के रूप मे ही मुझे अनुभवातीत का ज्ञान होता है। वाह्य परि-स्थितियें चाहे कितनी ही प्रतिकूल हों, लौकिक दृष्टि से जीवन कितना ही असफल क्यों न हो, व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता को उद्‌घाटित करता हुआ 'अनुभवातीत' का दर्शन कर सकता है।

मूल अस्तित्ववादी प्रवाह से दूर होते हुए भी मर्सल की गणना अस्तित्ववादी दार्श-निकों में की जाती है। मानव अनुभूतियों की संप्रत्यात्मक व्याख्या करने की अनुपयुक्तता दरसाने एवं व्यक्ति का उसके सामाजिक प्रकार्यों में विश्लेषण करने की आधुनिक प्रवृत्ति को उपहास्य बताने के अतिरिक्त मर्सल की डायरियों में कोई अन्य अस्तित्ववादी विचार नही मिलता। स्वतंत्रता के भाव को मर्सल ने बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया है।

किर्केगार्ड यासपर्स एवं मर्सल का अस्तित्ववाद ईश्वरवादी है। हाईडैगर और सार्त्र अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद के पोषक हैं। अनीश्वरवादी अस्तित्ववाद का मन्तव्य है कि मानव अस्तित्व की आधिदैविक एवं जड़वादी व्याख्यायें भ्रान्तिपूर्ण हैं। मानव अस्तित्व की व्याख्या अमानव-पदों में न करके उसके अपने अद्वितीय स्वरूप के अनुरूप करनी चाहिये। अनीश्वर-वादी अस्तित्ववाद नैतिक मूल्यों को स्वकीय मानव स्थिति से प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

हाईडैगर और सार्त्र की दार्शनिक पद्धति वस्तुवाद (Phenomenological) विचार-

धारा से अत्यधिक प्रभावित हुई है । ब्रेन्टनों और हुर्सल से वे इस बात में सहमत हैं कि आभासित की व्याख्या ही सत् की उचित व्याख्या है ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि, हाईडैग्गर का लेखन प्रायः बहुत क्लिष्ट होता है । संकलित लेखों को समझने के लिए हाईडैग्गर के सत्ता-विषयक विचारों का संक्षिप्त विवरण उपयुक्त होगा । हाईडैग्गर के अनुसार मृत्यु द्वारा जीवन के सीमांकन का बोध व्यक्ति में त्रास उत्पन्न करने के साथ उसके जीवन को अर्थ प्रदान करता है । व्यक्ति का विषय-जगत् उसी अर्थ से सृष्ट होता है । अपने आप में विषय जगत कुछ भी नहीं । मानव-प्रयोजन और मानव-आकांक्षा जिनमें उसके अस्तित्व का अर्थ-अंतर्निहित रहता है, विषय-जगत् के मूल स्रोत हैं। विषय जगत् के संदर्भ में मनुष्य के तीन मौलिक पक्ष हैं—तथ्यता (Facticity) अस्तिता (Existentiality) एवं वंचना (Forfeiture) तथ्यता मनुष्य के अनैच्छिक तौर पर वस्तु जगत् में होने की द्योतक है । अस्तिता व्यक्ति के द्वारा अपनी समग्र संभावनाओं की पूर्वानुभूति का और उनके आलोक में विषय जगत् की रचना का बोध कराती है । वंचना 'सत्ता-पार्थक्य' से अभिभूत होकर 'सत्' के विषय में अनवधानता है । हाईडैग्गर के मत में हर मनुष्य के सामने केवल दो विकल्प हैं । एक तो यह कि वह अपनी चेतना का अनामिक सामूहिक चेतना से तादात्म्य करके अपनी वैयक्तिकता को खोदे और इसके प्रतिदान के रूप में अपने आपको निश्शकता से पुरस्कृत करे । उस अवस्था में उसका अस्तित्व अप्रमाणिक होगा । अथवा स्वतंत्र चुनाव द्वारा अपनी प्रत्याशित संभावनाओं को परिपूर्ण करते हुए प्रामाणिक जीवन जिये । तथ्यता को पराभूत करके अपनी संभावनाओं को सत्यान्वित कर व्यक्ति अपनी असली स्वतन्त्रता को प्रकाशित करता है । 'सत् एवं काल' नामक दर्शन-ग्रन्थ में हाईडैग्गर कहता है कि 'सत्' भ्रान्तिजनक है । उसकी खोज प्रवञ्चना मात्र है । वस्तु जगत् में स्थापित मनुष्य के रूप में तो 'सत्' ज्ञेय है । पर मनुष्येतर 'व्यापक सत्' गूढ है । मानव के रूप में 'सत्' काल से अविच्छिन्न है । सत्ता-विषय काल (Existential time) व्यक्ति के जीवन-काल से अभिन्न है । उसकी गति की दिशा अतीत से वर्त्तमान में होकर भविष्योन्मुखी नहीं होती । वह भविष्य से वर्तमान की ओर गतिमान है । वर्त्तमान भविष्य के आलोक में अतीत की दाय के रूप में बोध गम्य है ।

अपने निबन्ध 'तत्व-मीमांसा क्या है ?' में हाईडैग्गर ने कहा है कि 'तत्त्वमीमांसा शब्द' से हम में से अधिकांश दूर भागते है । इस निबन्ध में हाईडैग्गर मुख्य रूप से, 'कुछ नहीं' क्या है और क्यों कर है, इन प्रश्नों पर विचार करते हैं । हाईडैग्गर 'कुछ नहीं' की तात्कालिक परिभाषा "कुछ नहीं जो-है की समग्रता का पूर्ण निषेध है" वाक्य में देते हैं । उनके मत में 'आंगस्ट' की महत्त्वपूर्ण मनोदशा में हम स्वयं 'कुछ-नही' के समक्ष ले आये जाते हैं । आंग्स्ट की मनः स्थिति में हम अपने आपको निराश्रय महसूस करते है । इस स्थिति में "जो है अन्तर्धान हो जाता है, उस समय एक मात्र वस्तु जो शेष रहती है तथा हमें आच्छादित कर लेती है, वही यह 'कुछ-नहीं' है ।" आंग्स्ट कुछ नहीं को उद्घाटित करती है । 'कुछ-नहीं' का उद्घाटन ही मानव-जीवन को अर्थ और गति प्रदान करता है ।

'कुछ-नहीं' की खोज हमें सीधे तत्व-मीमांसा के क्षेत्र में ढकेल देती है। क्लासीकी तत्व-मीमांसा 'कुछ-नहीं' को सत् का विरोधी मान कर उसे 'असत्' की संज्ञा देती है। पर कुछ नहीं' और 'जो-है' में विरोध देखना भ्रान्तिपूर्ण है। 'कुछ-नहीं' 'जो-है' का सहगामी है। 'जो-है' वह 'कुछ-नहीं' से अलग नहीं किया जा सकता। 'सत्' सीमित है और उसका सीमांकन 'कुछ नहीं' द्वारा ही होता है। अतः वह 'कुछ-नहीं' में के रूप में अभिव्यक्त होता है।

हाईडेग्गर के दूसरे लेख का विषय सत्य का तत्व है। सत्य के तत्व के बारे में यह प्रश्न तात्त्विकी समस्या है। सत्य की पारम्परिक धारणा की चर्चा करते हुए हाईडेग्गर कहते हैं कि सत्य का अर्थ अनुकूलता है। पहले, वस्तु की उसके बारे में धारणा से अनुकूलता। दूसरे वाक्य के तथ्य और वस्तु के बीच अनुकूलता। अनुकूलता के स्वरूप के बारे में विचार करते समय एक मौलिक प्रश्न सामने आता है। वह यह कि किस प्रकार धारणा या कथन अपनी विशिष्ट अवस्था में रहते हुए किसी अन्य वस्तु के अनुरूप हो सकता है। प्रतिनिधि कथन और वस्तु के मध्य सही संगति होने की आंतरिक संभावना के आधार पर चिन्तन करते समय इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि अनुकूलन सत्य की प्रकृति को क्यों निर्धारित करता है।

अपने निबन्ध "सत्य का तत्व" में हाईडेग्गर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सत्य का तत्व स्वतन्त्रता है।

यशदेव शल्य
चांदमल शर्मा

भाव और निर्देश

गोटलॉब फ्रेगे

'अभेद'[1] (आइडेंटिटी) से कुछ ऐसे चुनौती देने वाले प्रश्न उठते हैं जिनका उत्तर देना सर्वथा आसान नहीं होता। क्या वह एक सम्बन्ध है? यह सम्बन्ध वस्तुओं में है या उनके नामों में या संकेतों में? अपनी पुस्तक 'वेग्रिफशिफ़्ट (हाल. १८७६) में मैंने यह सम्बन्ध नामों या संकेतों में माना है। मेरी दृष्टि से इसके समर्थन में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं; स्पष्ट है कि अ=अ और अ=व भिन्न-भिन्न संज्ञान-मूल्य (कॉग्नेटिव वेल्यु) रखनेवाली विज्ञप्तियाँ है; अ=अ एक प्रागनुभविक सत्य है और कांट के अनुसार उसे विश्लेषणात्मक कहा जायगा, परन्तु अ=व के आकार की विज्ञप्तियाँ प्रायः हमारे ज्ञान में बड़ी मूल्यवान वृद्धि करती हैं और हमेशा प्रागनुभविक ढंग से स्थापित नहीं की जा सकतीं। यह खोज कि प्रातः-काल उदय होने वाला सूर्य नित्य नया नहीं होता, वरन् हमेशा वही होता है, खगोल विद्या की एक महत्वपूर्ण खोज थी। आज भी किसी ग्रह या धूमकेतु की पहिचान हमेशा सरलता से नहीं हो जाती। अतः यदि अब हम अभेद को उसका सम्बन्ध मानें जिसे 'अ' और 'व' नामोद्दिष्ट करते है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि अ=व और अ=अ में कोई अन्तर नहीं हो सकता (यहां यह मान लिया गया है कि अ=व सत्य है)। इस प्रकार यह सम्बन्ध किसी वस्तु का अपने से ही व्यक्त होगा, और निस्संदेह यह सम्बन्ध उस वस्तु का हमेशा अपने से ही होगा, किसी दूसरे से नहीं। अ=व की विज्ञप्ति का आशय यही प्रतीत होता है कि 'अ' और 'व' नाम या संकेत एक ही वस्तु को नामोद्दिष्ट करते हैं, जिससे वे नाम या संकेत स्वयं ही अध्ययन के विषय होंगे और उनमें एक सम्बन्ध का उल्लेख किया जा सकेगा। परन्तु यह सम्बन्ध उन नामों या संकेतों में वहीं तक सत्य होगा जहाँ तक वे किसी वस्तु को नामोद्दिष्ट करते हैं। यह सम्बन्ध दोनों में से प्रत्येक सकेत के एक ही नामोद्दिष्ट वस्तु के साथ मेल के माध्यम से प्रकट होगा। परन्तु यह नामोद्देशन ऐच्छिक है, किसी को भी स्वेच्छया, किसी चिह्न को बना कर, किसी वस्तु के लिये नाम या संकेत के रूप में प्रयुक्त करने से रोका तो नहीं जा सकता। ऐसी अवस्था में अ=व वाक्य विषय-वस्तु का निर्देश न करके केवल नामोद्देश के स्वरूप का निर्देश करेगा; हम उसके माध्यम से कोई यथार्थ ज्ञान व्यक्त न कर

---

१ मैं इस शब्द का प्रयोग निश्चित अर्थ में कर रहा हूँ, अतः अ=व से मेरा अर्थ है कि अ वही है जो व है, या अ तथा व एक दूसरे के अनुरूप हैं।

सकेंगे। यदि संकेत 'अ' को केवल वस्तु के रूप में 'ब' से भिन्न माना जाय (जैसे, यहाँ उनके आकार की भिन्नता के कारण), न कि संकेत के रूप में (अर्थात् उस रूप में भिन्न नहीं माना जाय जिसमें वे किसी पदार्थ को नामोद्दिष्ट करते हैं) तो अ=अ का संज्ञान मूल्य अनिवार्यतः अ=ब के समान होगा (बशर्ते अ=ब सत्य है)। भिन्नता तभी उत्पन्न होगी जब संकेतों के वस्तुरूप की भिन्नता नामोद्दिष्ट वस्तु को प्रस्तुत करने की भिन्नता की सूचक हो। मानलें कि अ, ब, स, तीन रेखाएँ हैं जो एक त्रिभुज के शीर्षों को सम्मुख रेखा के मध्य-बिन्दु से मिलाती हैं। अ और ब रेखाएँ जहाँ एक-दूसरे को काटती हैं वहीं ब और स रेखाएँ भी काटती हैं। इस प्रकार हमें एक ही बिन्दु के लिये दो भिन्न नाम मिल जाते हैं। ये नाम ('अ और ब के काटने का बिन्दु' तथा 'ब और स के काटने का बिन्दु') भिन्न प्रकार से वस्तु को प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार यह विज्ञप्ति यथार्थ ज्ञान का उल्लेख करती है।

अब यह सोचना स्वाभाविक ही है कि संकेत का सम्बन्ध उस पदार्थ से तो है ही जिसे वह सूचित करता है और जिसे संकेत का निर्देश कहा जा सकता है, उसका सम्बन्ध उस वस्तु को प्रस्तुत करने के रूप से भी है। इसे मैं संकेत का भाव कहना चाहूँगा। हमारे दृष्टान्त में तदनुसार 'अ और ब रेखाओं के काटने का बिन्दु' तथा 'ब और स के काटने का बिन्दु' नामों का निर्देश एक ही होगा, परन्तु उनका भाव भिन्न-भिन्न होगा। सांध्यकालीन नक्षत्र का निर्देश वही होगा जो प्रातःकालीन नक्षत्र का होगा (अर्थात शुक्रग्रह) परन्तु उनका भाव भिन्न-भिन्न होगा।

संदर्भ में यह स्पष्ट है कि 'संकेत' या 'नाम' से मेरा तात्पर्य व्यक्तिवाचक नाम (प्रापर नेम) के रूप के किसी भी नामोद्देशन से है जिसका निर्देश कोई निश्चित पदार्थ होता है। ('पदार्थ' शब्द को यहाँ व्यापकतम अर्थ में लेना चाहिये)। मेरा तात्पर्य यहाँ किसी ऐसी धारणा या सम्बन्ध से नहीं है जिसका इस प्रकार का निर्देश नहीं होता। ऐसी धारणा का अध्ययन किसी दूसरे निबन्ध में किया जायगा।[1] एक ही वस्तु के नामोद्देशन में अनेक शब्दों का या दूसरे संकेतों का प्रयोग किया जा सकता है। संक्षेप में, ऐसी पद संज्ञाओं को हम व्यक्तिवाचक नामों से पुकारेंगे।

सभी व्यक्ति, जो किसी भाषा से (या पद-संज्ञाओं की समग्रता से) भली-भाँति परिचित हैं, उसमें प्रयुक्त एक व्यक्तिवाचक नाम के भाव को समझते हैं,[2] परन्तु यह ज्ञान भी उस

---

१ देखिये फ्रेगे का लेख 'यूबर बेग्रिफ उन्ड गेगेनस्टेंड' (फ़ीर्टेलत्साहरशिफ़्ट फ़र विजनशेफ्टलिखे फिलॉसॉफी, १५ वाँ खण्ड [१८९२], पृ० १९२-२०५।

२ सही व्यक्तिवाचक नाम, जैसे 'अरस्तू', के भाव के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, वह भाव निम्न हो सकता है : प्लेटो का शिष्य और अलेग्जेण्डर महान् का शिक्षक। दूसरा व्यक्ति उसका भाव यह भी मान सकता है : अलेग्जेण्डर महान् का शिक्षक जो स्टागिरा में पैदा हुआ था। इन दोनों भावों के आधार पर 'अरस्तू स्टागिरा में पैदा हुआ था' वाक्य के भिन्न-भिन्न भाव होंगे। जब तक निर्दिष्ट अभिन्न रहे, ये परिवर्तन सहन किये

व्यक्तिवाचक नाम से निर्दिष्ट वस्तु के (यदि कोई निर्देश है तो) किसी एक ही पक्ष को प्रकाशित करता है। निर्दिष्ट का व्यापक ज्ञान तो हमसे यह अपेक्षा रखता है कि हम तुरन्त यह बता सकें कि कोई प्रस्तुत भाव उसमें है या नहीं। ऐसा ज्ञान हमें कभी नहीं प्राप्त होता।

एक संकेत, उसके भाव तथा उसके निर्दिष्ट में विधिवत सम्बन्ध इस प्रकार का होता है कि प्रत्येक संकेत के लिये एक निश्चित भाव होता है और इस निश्चित भाव के लिये एक निश्चित निर्दिष्ट वस्तु होती है; परन्तु किसी एक निर्दिष्ट वस्तु के लिये केवल एक ही संकेत नहीं होता। एक ही भाव के लिये भिन्न-भिन्न भाषाओं में (उस एक भाषा में भी) भिन्न-भिन्न पद होते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि इस विधिवत सम्बन्ध के कुछ अपवाद तो हैं ही। आदर्श भाषा में संकेतों की पूर्ण समग्रता की प्रत्येक पदावली के अनुसार एक निश्चित भाव अवश्य होना चाहिये। परन्तु प्राकृतिक भाषाएँ इस शर्त को अकसर पूरा नहीं कर पातीं। ऐसी स्थिति में यदि एक संदर्भ में एक शब्द का एक भाव हो तो हमें संतोष कर लेना चाहिये। यह तो संभवतः स्वीकार किया ही जायगा कि किसी व्यक्तिवाचक नाम के लिये प्रयुक्त, व्याकरण की दृष्टि से उचित, पदावली का कुछ भाव हमेशा रहता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि उस भाव के अनुरूप हमेशा निर्दिष्ट भी होता है। 'पृथ्वी से अत्यधिक दूरी के खगोलीय पिंड' शब्दों का कुछ भाव है, परन्तु यह बड़ा संदिग्ध है कि इनका कोई निर्देश भी है। 'न्यूनतम शीघ्रता से संपाती शृंखला' (दि लीस्ट रैपिड्ली कन्वर्जेंट सीरीज) पदावली का एक भाव है परन्तु यह विदित है कि इसका कोई निर्देश नहीं है, क्योंकि प्रत्येक प्रदत्त संपाती शृंखला से न्यून शीघ्रता से संपाती शृंखला प्रस्तुत की जा सकती है। अतः किसी भाव को समझने का यह अर्थ नहीं है कि हमने निर्दिष्ट को प्राप्त कर लिया है, और न उससे निर्दिष्ट प्राप्त करने का आश्वासन ही मिलता है।

शब्दों के साधारण प्रयोग मे व्यक्ति उनके निर्देश का ही उल्लेख करना चाहता है। यह भी संभव है कि कोई स्वयं शब्दों के ही विषय में या उनके भाव के विषय में विचार करना चाहता हो। उदाहरणार्थ, ऐसा तब होता है जब हम दूसरे के शब्दों का उद्धरण देते हैं। हमारे शब्द उस समय दूसरे के शब्दों का नामोद्देश करते है, और साधारण निर्देश-विषय शब्द ही होते हैं। उस समय वे संकेतों के संकेत होते है। लिखने में ऐसे शब्दों को उद्धरण-चिह्नों के बीच में लिखा जाता है। इस प्रकार उद्धरण-चिह्नों के बीच में प्रस्तुत शब्दों के विषय में हमें यह मानना चाहिये कि उनका निर्देश-विषय नहीं होता।

किसी कथन 'अ' के भाव को प्रकट करने के लिये हम केवल वाक्यांश—'कथन "अ" का भाव' का ही प्रयोग कर सकते हैं। किसी उद्धृत कथन में हम दूसरे के कथन के भाव की चर्चा करते हैं। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की भाषा में शब्दों का प्रचलित निर्देश

जा सकते है। हालाँकि किसी विश्लेषणात्मक विज्ञान (डिमांस्ट्रेटिव साइंस) की सैद्धांतिक संरचना में इनसे बचना आवश्यक है और आदर्श भाषा में तो ऐसा होना ही नहीं चाहिये।

नहीं होता, वरन् वे व्यावहारिक भाव का ही नामोद्देशन करते हैं। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि उद्धृत कथनों में शब्दों का परोक्षरूप में प्रयोग होता है, अर्थात् उनका परोक्ष निर्देश होता है। इस प्रकार किसी शब्द का प्रचलित निर्देश परोक्ष निर्देश से भिन्न होता है। उसका प्रचलित भाव भी उसके परोक्ष भाव से भिन्न होता है। इस प्रकार किसी शब्द का परोक्ष निर्देश उसका प्रचलित भाव होता है। यदि विशिष्ट उदाहरणों में हम संकेत, भाव और निर्देश के सम्बन्ध के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझना चाहते हैं तो ऐसे अपवादों का हमें अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

किसी संकेत के निर्देश तथा भाव का उससे सम्बन्धित प्रत्यय (आइडिया) से भी अंतर करना आवश्यक है। यदि किसी संकेत का निर्देश कोई इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होने योग्य पदार्थ है, तो उससे सम्बन्धित मेरा प्रत्यय एक आंतरिक बिम्ब[3] है जो उस पदार्थ की मेरी संवेदनाओं की, तथा मेरी अनेक आंतरिक तथा बाह्य क्रियाओं की, स्मृति से उत्पन्न होता है। ऐसी भावनाओं से प्रायः संवेग संयुक्त रहते हैं, उनके विभिन्न अंगों की स्पष्टता में परिवर्तन होता रहता है और उनमें अस्थिरता रहती है। एक व्यक्ति में भी एक भावना के साथ सदा एक भाव ही नहीं संयुक्त रहता। भावना विषयीनिष्ठ होती है; एक व्यक्ति की भावना दूसरे की नहीं हो सकती। फलस्वरूप, धीरे-धीरे एक ही भाव से संयुक्त भावनाओं में अनेक प्रकार के अन्तर उत्पन्न हो जाते हैं। एक चित्रकार, एक घुड़सवार तथा एक जीव वैज्ञानिक बुसीफेलस (Bucephalus) नाम के साथ सम्भवतः भिन्न प्रकार की भावनाओं को संयुक्त करेंगे। भावना में तथा किसी संकेत के भाव में यही मुख्य अन्तर है। किसी संकेत का भाव अनेक व्यक्तियों की सामान्य सम्पत्ति हो सकता है, अतः वह किसी विशिष्ट व्यक्ति के मन की संरचना का अंग नहीं होता। इसका प्रतिवाद करना तो कठिन है ही कि मानवता के पास भावनाओं का एक सामान्य भंडार है जिसका पीढ़ी दर पीढ़ी संप्रेषण होता रहता है।[४]

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि भावना से भिन्न केवल भाव की चर्चा करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये; भावना की चर्चा तो ठीक प्रकार से तभी हो सकती है जब हम यह भी बताएँ कि वह किस व्यक्ति की भावना किस समय की है। एक शंका की जा सकती है; जिस प्रकार एक ही शब्द से एक व्यक्ति एक भावना संयुक्त करता है तथा दूसरा व्यक्ति दूसरी, उसी प्रकार एक व्यक्ति उससे एक भाव को तथा दूसरा दूसरे भाव को संयुक्त

---

३ भावनाओं में हम उन अपरोक्ष अनुभवों को भी शामिल कर सकते हैं जिनमें इन्द्रिय-अंकन एवं क्रियाएँ मन पर पहले से ही पड़े संस्कारों का स्थान ले लेती हैं। परन्तु हमारे लिये यह भेद महत्वहीन है, विशेष रूप से क्योंकि इन्द्रिय-अंकन और क्रियाएँ प्रत्यक्ष-विषयक आकृतियों को समग्रता प्रदान करने में हमेशा सहायक बनती हैं। प्रत्यक्ष अनुभव में वे सभी पदार्थ सम्मिलित किये जा सकते हैं जो इन्द्रिय-गोचर हैं या विस्तार वाले हैं।

४ अतः मूल रूप में ऐसी भिन्न वस्तु के नामोद्देशन के लिये 'भावना' शब्द का प्रयोग उचित मानना चाहिये।

कर सकता है। परन्तु इन दोनों के सम्बन्ध के स्वरूप में एक भेद फिर भी रहता है; उनको एक ही भाव को ग्रहण करने से कोई नहीं रोक सकता, जबकि वे एक ही भावना को कभी नहीं पा सकते। यदि दो व्यक्ति एक ही वस्तु का चित्र बनाएँ, तो प्रत्येक अपनी अलग-अलग भावना को रखेगा। निस्संदेह कभी-कभी यह सम्भव है कि हम भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भावनाओं में, यहाँ तक कि संवेदनाओं में, अंतर स्थापित कर सकें; परन्तु एक निश्चित तुलना संभव नहीं है क्योंकि हम दोनों भावनाओं को एक ही चेतना में एक साथ नहीं ला सकते।

किसी व्यक्तिवाचक नाम का निर्देश स्वयं वह पदार्थ होता है जिसका हम उसके द्वारा नामोद्देशन करते हैं। उससे सम्बन्धित भावना पूर्णतया विषयगत होती है। तत्सम्बन्धी भाव निर्देशित विषय तथा भावना के बीच की ही स्थिति है; वह भावना की तरह विषयगत भी नहीं होता और न स्वयं पदार्थ ही होता है। निम्न सादृश्य इन सम्बन्धों को और स्पष्ट करेगा : मान लीजिये कोई व्यक्ति चंद्रमा को दूरवीक्षण-यंत्र की सहायता से देख रहा है। चंद्रमा की तुलना निर्देशित से की जा सकती है। वह निरीक्षण की विषय-वस्तु है। परन्तु यह निरीक्षण दूरवीक्षण-यंत्र में स्थित लेंस पर अंकित चित्र तथा आँख के दृष्टि-पटल पर बनी हुई आकृति के माध्यम से ही किया जा सकता है। लेंस पर बनी आकृति की तुलना मैं भाव से करता हूँ तथा दृष्टि-पटल पर अंकित आकृति की भावना या अनुभव से। लेंस पर अंकित आकृति निस्संदेह एक पक्षीय है तथा निरीक्षण के उद्देश्य पर निर्भर करती है। परन्तु फिर भी वह वस्तुगत है, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न निरीक्षकों द्वारा काम में लाई जा सकती है। ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि अनेक निरीक्षक उसका एक साथ ही प्रयोग कर सकें। फिर भी प्रत्येक निरीक्षक के दृष्टि-पटल पर अंकित आकृति उसकी अपनी होगी। इन आकृतियों में वास्तविक अनुरूपता का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, निरीक्षकों की आँखों की बनावट की भिन्नता के कारण उनमें रेखागणितीय संगति भी कठिनाई से होगी। यह मानकर कि अ की दृष्टि-पटल-गत आकृति ब को दिखाई देती है या अ स्वयं दर्पण में अपनी दृष्टि-पटल-गत आकृति को देख सकता है, इस दृष्टांत को और आगे बढ़ाया जा सकता है। इस प्रकार संभवतः हम दिखा सकें कि एक भावना को वस्तु के रूप में देखा जा सकता है, परन्तु इस रूप में वह निरीक्षक के लिये वही नहीं है जो उस व्यक्ति के लिये है जिसकी भावना वह है। परन्तु इस पर हम यहाँ विस्तार में नहीं जा सकते।

शब्दों, वाक्यांशों या पूरे वाक्यों में अब हम तीन स्तर के भेद कर सकते हैं। यह भेद भावनाओं से ही सम्बन्धित हो सकते हैं या, निर्देश समान होने पर, भाव के स्तर पर हो सकते हैं या, अन्त में, निर्देश के स्तर पर ही हो सकते हैं। पहले प्रकार के भेद में यह ध्यान रखने की बात है कि शब्दों के साथ भावनाओं का अनिश्चित सम्बन्ध होने के कारण जो भेद एक व्यक्ति के लिये सार्थक है, संभव है, वह, दूसरे व्यक्ति के लिये न हो। अनुवाद तथा मूल-पाठ के भेद को इस पहले स्तर के भेद तक ही सीमित रहना चाहिये। यहाँ जितने प्रकार के भेद संभव हैं उनमें ही वे गहराइयाँ भी शामिल हैं जो काव्यगत वाग्मिता को भाव में उत्पन्न करने की चेष्टा करती हैं। भाव में उत्पन्न ये गहराइयाँ वस्तुगत नहीं होतीं, वरन् कवि या वक्ता की

व्यञ्जना के अनुसार श्रोता या पाठक में उत्पन्न होती हैं। मानवीय विचारों में बिना किसी साम्य के कला निस्संदेह एक असम्भव कल्पना होगी; परन्तु इस साम्य के बाद भी यह कभी ठीक प्रकार से नहीं जाना जा सकता कि कवि के तात्पर्य को हम कितना समझ सके हैं।

इस निबन्ध में आगे अब हम भावनाओं तथा अनुभवों की चर्चा में नहीं पड़ेंगे। इनका उल्लेख यहाँ पर केवल यही स्पष्ट करने के लिये किया गया है कि किसी शब्द को सुनकर श्रोता में जो भावना उत्पन्न होती है वह उस शब्द का भाव या निर्देश-विषय नहीं होती।

संक्षेप के लिये, तथा एक निश्चित शब्द-योजना के लिये, निम्नलिखित पदावली को स्वीकार करना आवश्यक प्रतीत होता है :

एक व्यक्तिवाचक नाम (शब्द, संकेत, संकेत-संयोग, वाक्यांश) भाव को अभिव्यक्त करता है तथा निर्दिष्ट का नामोद्देशन करता है। एक संकेत के माध्यम से हम उसके भाव की अभिव्यक्ति करते हैं तथा उसके निर्दिष्ट का नामोद्देश करते हैं।

आदर्शवादियों या संदेहवादियों के द्वारा एक शंका आरम्भ में ही उठाई जा सकती थी : आप बड़ी आसानी से चन्द्रमा को वस्तु मान उसके विषय में बात करते हैं, परन्तु आप यह कैसे जानते हैं कि 'चन्द्रमा' नाम का कोई निर्देश-विषय है ? आप कैसे जानते हैं कि नाम का, चाहे वह कोई भी हो, निर्देश होता है ? मेरा उत्तर यह है कि जब हम 'चन्द्रमा' कहते हैं, हम चन्द्रमा के विषय में अपनी भावना को नहीं प्रकट करना चाहते; न केवल उसके भाव को व्यक्त कर संतुष्ट हो जाते हैं, वरन् उसके निर्देश को हम एक पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। यह मानना कि 'चन्द्रमा पृथ्वी से छोटा है' वाक्य में हम चन्द्रमा से सम्बन्धित भावना पर चर्चा कर रहे हैं, स्पष्टतः उसके प्रत्यय को गलत समझना है। यदि वक्ता यही कहना चाहता तो उसने 'चन्द्रमा विषयक मेरी भावना' वाक्यांश का प्रयोग किया होता। इसमें कोई संदेह नहीं कि पूर्वमान्यताओं में हमसे गलती हो सकती है और प्रायः हुई है। परन्तु इस प्रश्न का उत्तर यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है कि क्या हमेशा ही यह ग़लती नहीं हो सकती। किसी संकेत के निर्देश-विषय का उल्लेख किया गया है तो उसके औचित्य के लिये आरम्भ में अपने बोलने या लिखने के तात्पर्य को प्रकट कर देना ही पर्याप्त होगा (उस स्थिति में हमें यह शर्त अवश्य जोड़नी चाहिये : यह मान लिया है कि निर्देश-विषय का अस्तित्व है)।

अभी तक हमने केवल ऐसे वाक्यांशों, शब्दों या संकेतों के भाव तथा निर्देश पर विचार किया है जिन्हें व्यक्तिवाचक नाम कहते हैं। अब हम एक पूरे ज्ञापक वाक्य (डिक्लेरेटिव सेंटेंस) के भाव तथा निर्देश पर विचार करेंगे। ऐसे वाक्य में कोई विचार[५] निहित रहता है। यह

---

५ विचार से मेरा तात्पर्य विचार करने की विषयगत प्रक्रिया से नहीं है वरन् वस्तुगत तथ्य से है। यह वस्तुगत तथ्य इस योग्य होता है कि अनेक विचारक उस पर सम्मिलितरूप से विचार कर सकें।

विचार उसका निर्देश-विषय है या भाव ? विचारार्थ मान लें कि वाक्य का कोई निर्देश-विषय है। अब यदि हम उस वाक्य के किसी शब्द को समान निर्देश परन्तु भिन्न भाव वाले किसी दूसरे शब्द से बदल दे, तो उसका प्रभाव इस वाक्य के निर्देश-विषय पर नही पड़ना चाहिये। परन्तु हम देखते है कि उस दशा में विचार बदल जाता है। उदाहरणार्थ, निम्न दोनों वाक्यों का विचार भिन्न-भिन्न है; 'प्रभात-नक्षत्र सूर्य द्वारा प्रकाशित पिंड है' तथा 'साध्य-नक्षत्र सूर्य द्वारा प्रकाशित पिंड है।' कोई भी व्यक्ति जो यह नही जानता कि प्रभात-नक्षत्र तथा सांध्य-नक्षत्र एक ही हैं, इन वाक्यों में से एक को सत्य तथा दूसरे को असत्य मान सकता है। इस प्रकार विचार किसी वाक्य का निर्देश नही हो सकता। उसे उस वाक्य का भाव ही होना चाहिये। तो निर्देश की क्या स्थिति है ? क्या उसके विषय में अनुसंधान करने का अधिकार भी हमें है ? क्या यह सभव है कि सम्पूर्ण वाक्य का केवल भाव ही हो, निर्देश न हो ? ऐसे वाक्यों की सभावना तो है ही, उसी तरह जैसे ऐसे वाक्यांश होते है जिनका प्रत्यय होता है परन्तु निर्देश नही होता। वे वाक्य जिनमें निर्देश-हीन व्यक्तिवाचक नाम आते है इसी प्रकार के होते है। 'ओडीसस को नीद में इथाका के किनारे छोड़ दिया गया' वाक्य का भाव तो अवश्य है ही; परन्तु चूं कि यह संदिग्ध है कि इस वाक्य में आये 'ओडीसस' शब्द का कोई निर्देश भी है, अतः पूरे वाक्य का निर्देश सदिग्ध है। फिर भी यह सत्य है कि यदि कोई व्यक्ति इस वाक्य को गंभीरतापूर्वक सत्य या असत्य मानेगा तो वह 'ओडीसस' के भाव के साथ उसका निर्देश भी मानेगा, क्योंकि किसी नाम के निर्देश के प्रति ही किसी विधेय का विधान या निषेध किया जा सकता है। यदि कोई यह नहीं स्वीकार करता कि नाम का निर्देश होता है तो वह किसी विधेय का विधान या निषेध भी नही कर सकता। परन्तु, ऐसी स्थिति में किसी नाम के निर्देश को जानने का प्रयत्न भी व्यर्थ होगा; यदि कोई विचार से आगे नही जाना चाहता तो वह भाव से ही संतुष्ट हो सकता है। यदि यहाँ वाक्य के केवल भाव का, विचार का, ही प्रश्न होता तो वाक्यांश के निर्देश की चिंता अनावश्यक थी क्योंकि पूरे वाक्य के भाव के साथ वाक्यांश का केवल भाव, न कि निर्देश, सम्बन्धित है। 'ओडिसस' का निर्देश-विषय हो या न हो, विचार वही रहता है। किसी वाक्यांश के निर्देश के प्रति हमारे लगाव का तात्पर्य यह है कि हम सामान्यतः पूरे वाक्य का निर्देश मानते हैं और चाहते हैं। जैसे ही हमें यह मालूम होता है कि किसी विचार के एक अंश का निर्देश नहीं है, उस विचार का मूल्य समाप्त हो जाता है। अतः यह उचित ही है कि हम वाक्य के भाव से ही संतुष्ट न हों और निर्देश को खोजें। परन्तु यही हम क्यों चाहते है कि प्रत्येक व्यक्तिवाचक नाम का केवल भाव ही न हो वरन् निर्देश भी हो ? क्यों नही विचारमात्र ही हमारे लिये पर्याप्त होता ? क्योंकि हम उसके सत्य-मूल्य को जानना चाहते हैं। यह ठीक है कि सभी उदाहरणों में ऐसा नही होता। जैसे किसी पौराणिक काव्य के सुनने में भाषा-माधुर्य के अतिरिक्त हमारी रुचि वाक्यों के भाव में, कल्पना-चित्रों में तथा उनसे उत्पन्न होनेवाली अनुभूतियों में ही होती है। सत्यता का प्रश्न सौंदर्यानुभूति के आनन्द को छीन कर उसके स्थान में वैज्ञानिक अनुसंधान की दृष्टि स्थापित करेगा। अतः जब तक काव्य को हम एक कला-कृति के रूप में देखते है तो हमारा इससे कोई लगाव नहीं रहता कि,

उदाहरणार्थ 'ओडीसस', का कोई निर्देश है या नहीं।[६] हमारी सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति ही हमें भाव से निर्देश-विषय की ओर ले जाती है।

ऊपर हमने देखा कि जहाँ किसी वाक्यांश के निर्देश का प्रश्न उठता है वहाँ हमेशा ही वाक्य का निर्देश खोजा जाता है और यह स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब हम सत्य-मूल्य का अन्वेषण करते है।

इस प्रकार हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि किसी वाक्य के सत्य-मूल्य में ही उसका निर्देश संविहित होता है। किसी वाक्य के सत्य-मूल्य से मेरा तात्पर्य उस वाक्य का सत्य या असत्य होना ही है। सत्य-मूल्य इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संक्षेप के लिये इन सत्य-मूल्यों में से मैं एक को सत्य तथा दूसरे को असत्य कहूँगा। प्रत्येक ऐसा ज्ञापक वाक्य, जो अपने शब्दों के निर्देश से सम्बन्धित है, एक व्यक्तिवाचक नाम की तरह ही है और उसका निर्देश (यदि कोई निर्देश हो तो) या तो सत्य होगा या असत्य। ये दो पदार्थ—सत्य तथा असत्य—प्रत्येक सत्यान्वेषी को व्यक्त या अव्यक्त रूप से मानने पड़ते हैं। यहाँ तक कि संशयवादी भी इनसे इन्कार नहीं कर सकता। सत्य-मूल्यों का पदार्थ के रूप में नामोद्देश शायद कोरी कल्पना प्रतीत हो, या शायद इसे शब्दों का खेल-मात्र ही समझा जाय और यह माना जाय कि इससे कोई महत्व का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। मेरा पदार्थ से क्या तात्पर्य है इसपर सही बहस तभी की जा सकती है जब इसे धारणा या सम्बन्ध के संदर्भ में देखा जाय। इस पर मैं दूसरे निबन्ध में विचार करना चाहूँगा। परन्तु इतना तो अब तक स्पष्ट हो ही गया है कि प्रत्येक निर्णय में[७], चाहे वह कितना भी महत्वहीन क्यों न हो, हम विचार के स्तर से निर्देश (या वस्तुनिष्ठता) के स्तर की ओर बढ़ चुके होते हैं।

ऐसा भी सोचा जा सकता है कि विचार का सत्य के साथ वही सम्बन्ध नहीं है जो भाव का निर्देश के साथ है, वरन् यह सम्बन्ध उद्देश्य-विधेय के जैसा है। उदाहरणार्थ, निस्संदेह यह कहा जा सकता है कि 'यह विचार कि ५ एक रूढ़-संख्या है, सत्य है'। परन्तु ध्यान से विचार स्पष्ट हो जायगा कि '५ एक रूढ़-संख्या है' इस सरल वाक्य में जो कुछ कहा गया है उससे अधिक ऊपर वाले वाक्य में और कुछ नहीं कहा गया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विचार का सत्य के साथ जो सम्बन्ध है उसकी तुलना उद्देश्य तथा विधेय के साथ नहीं की जा सकती। तार्किक अर्थ में यदि सोचा जाय तो उद्देश्य तथा विधेय निस्संदेह विचार के तत्व हैं, ज्ञान के लिये उनका उपयोग एक ही स्तर का है। उद्देश्य तथा विधेय को मिलाने

---

६ अच्छा होता यदि हम ऐसे संकेतों के लिये, जिनका केवल भाव ही है, कोई नया नाम रखते। मान लीजिये यदि हम उनका नाम प्रतिकृति (रिप्रजेंटेशन) रखें तो रंगमंच के अभिनेता के शब्द प्रतिकृति हो जायेंगे। यही नहीं, वह अभिनेता स्वयं भी एक प्रतिकृति हो जायगा।

७ मेरे लिये निर्णय का अर्थ एक विचार को ग्रहण करना ही नहीं है, वह उसकी सत्यता की स्वीकारोक्ति है।

से हम केवल विचार को ही प्राप्त करते है। इस प्रकार न तो हम भाव से निर्देश की ओर ही चलते हैं और न विचार से उसके सत्य-मूल्य की ओर। उसमें हम एक ही स्तर पर घूमते है, एक स्तर से दूसरे स्तर पर कभी नहीं जाते। एक सत्य-मूल्य किसी विचार का अंश कभी नहीं हो सकता, उसी प्रकार जैसे सूर्य नही हो सकता, क्योंकि वह भाव नहीं वरन् पदार्थ है।

यदि हमारी यह मान्यता, कि किसी वाक्य का निर्देश उसका सत्य-मूल्य होता है, सही है तो इस सत्य-मूल्य को उस स्थिति में नहीं बदलना चाहिये जब कि उस वाक्य के किसी अंश को समान निर्देश वाली किसी दूसरी पदावली में बदल दिया जाता है। और यही वास्तव में होता भी है। (लाइबनित्स ने इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से दी है : Eadem sunt, quae sibi mutuo substitui possunt, salva veritate.) सत्य-मूल्य प्रत्येक ऐसे वाक्य में निहित ह जिसके अवयवों का निर्देश प्रसगोचित होता है। यह सत्य-मूल्य समान निर्देश वाले वाक्यांशों की अदल-बदल से नहीं बदलता और किसी सम्पूर्ण वाक्य के रूप में ही इस सत्य-मूल्य को प्राप्त किया जा सकता है।

यदि किसी वाक्य का सत्य-मूल्य उसका निर्देश है तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है है कि सभी सत्य वाक्यों का एक ही निर्देश होना चाहिये और, इसी प्रकार, दूसरी ओर, सभी असत्य वाक्यों का भी एक ही निर्देश होगा। वाक्य के निर्देश में, इस तरह, जो कुछ भी अपना विशिष्ट होता है, मिटा दिया जाता है। हमारा लगाव एक वाक्य के निर्देश से ही केवल नहीं हो सकता परन्तु केवल विचार हमें कोई ज्ञान नही प्रदान करता। ज्ञान, वास्तव में, हमें निर्देश अथवा सत्य-मूल्य से युक्त विचार से ही प्राप्त होता है। निर्णयों (जजमेंट्स) के विषय में यह माना जा सकता है कि उनमे विचार से सत्य-मूल्य की ओर बढा जाता है। परन्तु यह परिभाषा नहीं हो सकती। निर्णय अपने में बिल्कुल अनोखी वस्तु हैं; उसकी तुलना नहीं हो सकती। यह भी कहा जा सकता है कि निर्णय किसी सत्य-मूल्य के अंतर्गत उसके अवयवों के विभेद हैं। ऐसे भेद पुनः विचार की ओर उन्मुख होने से बनते है। किसी सत्य-मूल्य के प्रत्येक भाव के अनुरूप ही उसके अपने विश्लेषण का स्वरूप होगा। जो भी हो, यहां मैंने, 'अवयव' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ में किया है। वास्तव में मैंने एक शब्द के निर्देश को उसके वाक्य के निर्देश का अंग स्वीकार कर सम्पूर्ण वाक्य तथा उसके अगों के सम्बन्ध को उस वाक्य के निर्देश में स्थानान्तरित कर दिया है। इस प्रकार के वक्तव्य की आलोचना की जा सकती है क्योंकि सम्पूर्ण निर्देश तथा उसका एक अंग शेष अग के स्वरूप-निर्धारण के लिये पर्याप्त नहीं है, और चूँकि 'अंग' शब्द का प्रयोग एक दूसरे अर्थ में, अर्थात् घटक के अर्थ में, पहले ही प्रयुक्त हो चुका है, अतः यहाँ इसके लिये किसी नये पद का प्रयोग करने की आवश्यकता है।

इस मान्यता का, कि किसी वाक्य का सत्य-मूल्य उस वाक्य का निर्देश है, और परीक्षा की जानी चाहिये। हमने ऊपर देखा है कि किसी वाक्यांश को समान निर्देश वाली दूसरी पदावली से बदल देने से भी उस वाक्य का सत्य-मूल्य समान रहता है। परन्तु हमने ऐसे उदाहरणों पर विचार नहीं किया जिनमें हटाये जाने वाली पदावली स्वयं एक वाक्य है। यदि हमारा मत सही है तो, यदि एक वाक्य के अंग के रूप में कोई दूसरा वाक्य है और यदि उसको भी समान सत्य-

मूल्य वाले दूसरे वाक्य के साथ बदल दिया जाता है तो भी मूल वाक्य का सत्य-मूल्य नहीं बदलना चाहिये। कुछ दृष्टांतों में, जैसे, जब पूरा वाक्य या उसका एक अंग परोक्ष या अपरोक्ष उद्धरण हो, अपवादों की आशा की जा सकती है; क्योंकि, जैसाकि हमने देखा है, इन दृष्टांतों में शब्द अपना प्रचलित निर्देश नही रखते। अपरोक्ष उद्धरणों में एक वाक्य दूसरे वाक्य का नामोद्देश करता है और परोक्ष उद्धरणों में विचार का।

इस प्रकार आश्रित उपवाक्य या वाक्य-खण्डों पर भी विचार करना हमारे लिये आवश्यक हो गया। ये एक जटिल वाक्य के अंग के रूप में हमारे सामने आते हैं। ये जटिल वाक्य भी तार्किक दृष्टि से एक वाक्य, एक मुख्य वाक्य, ही हैं। परन्तु हमारे सामने यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इन आश्रित उपवाक्यों के विषय में भी यही सत्य है कि इनका निर्देश सत्य-मूल्य होता है? परोक्ष उद्धरणों के विषय में हम जानते हैं कि ऐसा नहीं है। वैयाकरण आश्रित उपवाक्यों को वाक्यों के अंगों का प्रतिनिधि मानते हैं और इस प्रकार उनको विशेषण, क्रिया-विशेषण तथा संज्ञा-उपवाक्यों में विभाजित करते हैं। इससे यह सोचा जा सकता है कि एक आश्रित उपवाक्य का निर्देश एक सत्य-मूल्य नहीं होता, वरन् उसी प्रकार का होता है जैसा किसी संज्ञा का, या विशेषण का, या क्रिया-विशेषण का। दूसरे शब्दों में, उसका निर्देश उन वाक्यांशों के निर्देश के समान ही होता है जिनका भाव एक विचार न होकर विचार का अंश-मात्र होता है। परन्तु इस समस्या के स्पष्टीकरण के लिये और सावधानी से छान-बीन करने की आवश्यकता है। ऐसा करने में हम व्याकरण के प्रवर्गों का अनुकरण न करके तार्किक दृष्टि से वर्ग बनाएँगे। सबसे पहले हमें ऐसे दृष्टान्तों को खोजना है जिनमें आश्रित उपवाक्यों का भाव एक स्वतंत्र विचार नहीं होता।

एक अमूर्त संज्ञा उपवाक्य (abstracten Nennsatzen) में, जो 'कि' से आरम्भ होता है, ऐसे परोक्ष उद्धरणों के दृष्टांत मिलते हैं। हमने देखा है कि परोक्ष उद्धरणों में शब्दों का परोक्ष निर्देश ही होता है और वह निर्देश उसके प्रचलित भाव के अनुरूप ही होता है। अतः इन दृष्टांतों में आश्रित उपवाक्य का निर्देश एक विचार होता है न कि सत्य-मूल्य—एक सम्पूर्ण विचार नहीं वरन् इन शब्दों का भाव मात्र : 'यह विचार कि........'। यह सम्पूर्ण जटिल वाक्य में निहित विचार का एक अंग-मात्र ही है। ऐसा ही होता है जब हम 'कहा कि', 'सुना कि', 'सम्मति है कि', 'विश्वास है कि', 'निष्कर्ष है कि' या इसी प्रकार के अन्य शब्दों का प्रयोग करते हैं।[८] 'देखता है', 'जानता है', 'कल्पना करता है' आदि शब्दों की स्थिति कुछ भिन्न है और बड़ी जटिल है। उस पर हम बाद में विचार करेंगे।

पहले प्रकार के दृष्टांतों में इस तथ्य को, कि आश्रित उपवाक्य का निर्दिष्ट-विषय विचार

---

८ 'अ झूठ बोला यह कह कर कि उसने ब को देखा है' वाक्य में आश्रित उपवाक्य एक ऐसे विचार का नामोद्देश करता है जिसके विषय में यह माना गया कि (१) उसे अ ने प्रतिपादित किया है (२) जबकि अ उसकी असत्यता से परिचित था।

है, इस तरह भी समझा जा सकता है कि आश्रित उपवाक्य के सत्य या असत्य होने का सम्पूर्ण वाक्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरणार्थ, हम इन दो वाक्यों में तुलना करें : 'कॉपरनिकस मानता था कि नक्षत्र-पथ वृत्ताकार होते हैं' तथा 'कॉपरनिकस मानता था कि सूर्य की प्रतीयमान गति पृथ्वी की वास्तविक गति के कारण ही उत्पन्न होती है।' यहाँ एक आश्रित उपवाक्य को दूसरे से बदला जा सकता है, परन्तु उससे वाक्यों की सत्यता पर कोई प्रभाव नही पड़ता। मुख्य उपवाक्य और आश्रित उपवाक्य मिलकर अपने अर्थ के रूप में एक सम्पूर्ण विचार रखते है और इस पूरे वाक्य की सत्यता में आश्रित उपवाक्य की न तो सत्यता निहित रहती है न असत्यता। ऐसे दृष्टांतों में किसी आश्रित उपवाक्य के किसी वाक्यांश को समान प्रचलित निर्देश वाले किसी दूसरे वाक्यांश के साथ नही बदला जा सकता; उसे केवल समान परोक्ष निर्देश वाले, अर्थात् समान प्रचलित भाव वाले वाक्य-खण्ड से ही बदला जा सकता है। यदि कोई यह निष्कर्ष निकाले कि किसी वाक्य का निर्देश उसका सत्य-मूल्य नही है क्योकि उस स्थिति में हमेशा समान सत्य-मूल्य वाले वाक्यों से उसे बदला जा सकेगा, तो वह कुछ अधिक सिद्ध करने की चेष्टा कर रहा है। इस तरह तो यह भी दावा किया जा सकता है कि 'प्रातःकालीन नक्षत्र' का निर्देश शुक्रग्रह नहीं है क्योंकि हम हमेशा 'प्रात.कालीन नक्षत्र' के स्थान पर 'शुक्रग्रह' नहीं रख सकते। हम केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते है कि किसी वाक्य का निर्देश हमेशा ही सत्य-मूल्य नही होता और 'प्रातःकालीन नक्षत्र' हमेशा शुक्रग्रह का स्थान नही ले सकता। यह स्थिति तभी उत्पन्न होती है जब शब्द का परोक्ष-निर्देश ही होता है। इस प्रकार का एक अपवाद उस आश्रित उपवाक्य में हमने देखा जिस पर अभी विचार किया गया है और जिसका निर्देश एक विचार है।

यदि कोई कहता है 'ऐसा प्रतीत होता है कि...........' तो उसका तात्पर्य होता है 'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि...........' या 'मै सोचता हूँ कि...........'। अतः वही दृष्टांत पुनः उपस्थित हो जाता है। 'पश्चाताप होना', 'सहमति देना', 'आरोप लगाना', 'आशा करना', 'आशंका होना', आदि पदों मे भी यही स्थिति रहती है। यदि वाटरलू के युद्ध की समाप्ति पर वेलिंगटन यह जान कर खुश था कि प्रशियानिवासी आ रहे हैं, तो उसके आनन्द का कारण उसका विश्वास ही था। यदि उसको धोखा दिया गया होता, तो भी जब तक उसे यह भ्रम बना रहता कि वे आ रहे हैं, उसका आनन्द कम न होता। साथ ही इस विश्वास के अभाव में भी उसे प्रसन्नता न हुई होती, फिर चाहे वे वास्तव में आ ही रहे होते।

जिस प्रकार एक विश्वास एक संवेग का आधार हो सकता है उसी प्रकार वह एक विश्वास का आधार भी हो सकता है, जैसे अनुमान में। इस वाक्य में कि 'पृथ्वी की गोलाई से कोलम्बस ने यह अनुमान किया कि वह पश्चिम की ओर यात्रा करके ही भारत पहुँच सकता है' हम इसके वाक्यांशों के निर्देश के रूप में दो विचार प्राप्त करते है। एक तो यह कि पृथ्वी गोल है, और दूसरा यह कि पश्चिम की ओर यात्रा करके कोलम्बस भारत पहुँच सकता था। यहाँ प्रासंगिक बात यही है कि कोलम्बस को दोनों मे विश्वास था तथा उसका एक में विश्वास दूसरे विश्वास का आधार था। पृथ्वी वास्तव में गोल है या नहीं, या पश्चिम

की ओर यात्रा करके कोलम्बस भारत पहुँच सकता था या नहीं, हमारे वाक्य की सत्यता के लिये महत्वहीन है। परन्तु यदि हम 'पृथ्वी' को हटा कर उसके स्थान में दूसरा वाक्यांश, अर्थात् 'ग्रह जिसके साथ उसके व्यास की चौथाई से अधिक व्यास वाला एक चन्द्रमा है', रख दे तो वास्तव में इससे अन्तर उत्पन्न हो जायगा। यहाँ शब्दों का परोक्ष निर्देश ही हमें प्राप्त होता है।

क्रिया-विशेषण उपवाक्य, जो 'इसलिये कि' (या 'के लिये कि') से आरम्भ होते हैं, इसी कोटि के होते हैं क्योंकि, निस्संदेह, उनका लक्ष्य एक विचार ही होता है। इसलिये उनके भी शब्दों का, सम्भावनार्थ क्रिया-प्रकार में, परोक्ष निर्देश ही होता है।

'आज्ञा दी', 'प्रश्न किया', 'मना किया' आदि के आगे 'कि' से आरम्भ होने वाले आश्रित उपवाक्य प्रत्यक्ष भाषण (डाइरेक्ट स्पीच) में आज्ञासूचक प्रतीत होंगे। ऐसे उपवाक्यों का केवल भाव ही होता है, कोई निर्देश नहीं होता। आज्ञा या प्रार्थना निस्संदेह विचार नहीं है, परन्तु वे विचार के समस्तरीय ही हैं। अतः 'आज्ञा दी', 'प्रश्न किया', आदि पर निर्भर रहने वाले आश्रित उपवाक्यों का परोक्ष निर्देश होता है। इस प्रकार के उपवाक्यों का निर्देश सत्य-मूल्य न होकर एक आज्ञा या प्रार्थना या इसी प्रकार कुछ और होता है।

'शंका है कि', 'नहीं ज्ञान है कि क्या', आदि पदावलियों द्वारा प्रस्तुत आश्रित प्रश्नों के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। स्पष्ट है कि शब्दों का यहाँ भी परोक्ष निर्देश ही होता है। प्रश्न को व्यक्त करने वाले तथा 'कौन', 'क्या', 'कहाँ', 'कब', 'कैसे', 'किसके द्वारा' आदि, से आरम्भ होने वाले आश्रित उपवाक्य कभी-कभी ऐसे क्रिया-विशेषण उपवाक्यों के समान प्रतीत होते हैं जिनके शब्दों का प्रचलित निर्देश होता है। ऐसे दृष्टांतों को (जर्मन भाषा में) भाषा के स्तर पर क्रिया-प्रकार के आधार पर अलग किया जा सकता है। सम्भावनार्थ क्रिया-प्रकार में एक आश्रित प्रश्न रहता है तथा शब्दों का परोक्ष निर्देश रहता है; अतः सामान्यतः एक व्यक्तिवाचक नाम को उसी वस्तु के दूसरे नाम से नहीं बदला जा सकता।

अभी तक जितने दृष्टान्तों पर हमने विचार किया उनमें आश्रित उपवाक्य के शब्दों का निर्देश परोक्ष ही था और इससे यह स्पष्ट था कि स्वयं उपवाक्यों का निर्देश भी परोक्ष था। अर्थात् उनका निर्देश एक विचार, आज्ञा, प्रार्थना, प्रश्न था न कि सत्य-मूल्य। निस्संदेह आश्रित उपवाक्य उस विचार, आज्ञा आदि का, जिसका वह वाक्य-संरचना में प्रतिनिधित्व करता है, व्यक्तिवाचक नाम माना जा सकता है।

अब हम उन आश्रित उपवाक्यों पर विचार करेंगे जिनमें भाव के रूप में किसी विचार के अभाव में तथा निर्देश के रूप में किसी सत्य-मूल्य के अभाव में भी शब्दों का प्रचलित निर्देश होता है। इसको उदाहरणों के द्वारा ही ठीक प्रकार से समझा जा सकता है:

> 'जिस किसी ने भी ग्रहपथों के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया था उसकी मृत्यु गरीबी में हुई।'

यदि इस दृष्टान्त में आश्रित उपवाक्य का भाव एक विचार होता तो उसे एक अलग

वाक्य में भी व्यक्त किया जा सकता था। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि व्याकरणसम्मत उद्देश्य 'जिस किसी ने भी' का कोई स्वतंत्र भाव नहीं है। उसका प्रयोग वाक्य के फल भाग 'उसकी मृत्यु ग़रीबी में हुई' का शेष वाक्य से सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक बनना ही है। इसलिये आश्रित उपवाक्य का भाव एक सम्पूर्ण विचार नहीं है और उसका निर्देश केपलर है न कि सत्य-मूल्य। शायद यह आक्षेप किया जाय कि सम्पूर्ण के भाव में अंश के रूप में एक विचार निहित है, अर्थात् ऐसा कोई व्यक्ति था जिसने सबसे पहले ग्रहपथों के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया था, क्योंकि जो भी पूरे वाक्य को सत्य मानता है उसके अंश की सत्यता से इन्कार नही कर सकता। निस्सन्देह यह ठीक है, परन्तु यह भी इसलिये है कि यदि ऐसा न होता तो आश्रित उपवाक्य 'जिस किसी ने भी ग्रहपथों के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया था' का कोई निर्देश नहीं होता। यदि कुछ भी प्रतिपादित किया जाता है तो हमेशा उसमें यह पूर्वमान्यता रहती है कि जिन सरल या जटिल व्यक्तिवाचक नामों का उसमें प्रयोग किया गया है, उनका निर्देश है। अतः यदि कोई यह कहता है कि 'केपलर की मृत्यु ग़रीबी में हुई' तो इसके पीछे यह पूर्वमान्यता है कि 'केपलर' नाम किसी वस्तु का नामोद्देश करता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं निकलता कि 'केपलर की मृत्यु गरीबी में हुई' इस वाक्य के भाव में ही यह विचार भी निहित है कि 'केपलर' नाम किसी वस्तु का नामोद्देश करता है। यदि ऐसा ही होता तो इसका नकारात्मकरूप :

'यह सत्य नहीं है कि केपलर की मृत्यु ग़रीबी में हुई'

यह न होकर यह होता कि

'यह सत्य नहीं है कि कोई केपलर था जिसकी मृत्यु गरीबी में हुई'

अर्थात् 'केपलर' नाम का कोई निर्देश-विषय नहीं है।

'केपलर' नाम किसी वस्तु का नामोद्देश करता है, यह 'केपलर की मृत्यु ग़रीबी में हुई' इसके प्रतिपादन के लिये भी उसी प्रकार एक पूर्वमान्यता है जिस प्रकार इसके विरोधी वाक्य के लिये। भाषाओं में एक कमी है; उनमें ऐसी पदावलियाँ होती है कि वे किसी पदार्थ का नामोद्देश नहीं करतीं, क्योंकि किसी वाक्य की सत्यता उनके लिये एक आवश्यक पूर्व-धारणा है (हालांकि व्याकरण की दृष्टि से उनमें इस कार्य को करने की क्षमता होती है)। इस प्रकार से नीचे दिये गये पहले वाक्य की सत्यता पर ही यह निर्भर करता है कि दिया हुआ दूसरा आश्रित उपवाक्य वास्तव में किसी पदार्थ का नामोद्देश करता है या केवल वैसा मालूम ही पड़ता है, जबकि वास्तव में उसका कोई निर्देश नही है :

(१) 'कोई ऐसा व्यक्ति था जिसने ग्रहपथों के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया था।'
(२) 'जिस किसी ने भी ग्रहपथों के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया था।'

इस प्रकार ऐसा प्रतीत हो सकता है कि हमारे आश्रित उपवाक्य में उसके भाव के अंश के रूप में यह विचार निहित हो कि कोई ऐसा व्यक्ति था जिसने ग्रहपथों के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया था। यदि यह सत्य होता तो उसका नकारात्मक रूप निम्न प्रकार से ही होता :

'या तो जिस किसी ने भी ग्रहपथों के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया उसकी मृत्यु गरीबी में नही हुई या ऐसा कोई व्यक्ति नही था जिसने ग्रहपथों के अण्डवृत्ताकार होने का पता लगाया।'

यह दोष भाषा की अपूर्णता के कारण उत्पन्न होता है। गणितीय विश्लेषण की प्रतीकात्मक भाषा भी इससे स्वतंत्र नहीं है। वहाँ भी प्रतीकों के ऐसे संयोग आते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी का नामोद्देश कर रहे हैं, परन्तु उनका निर्देश नहीं होता, जैसे, अपसारी असीम शृंखला (डाइवर्जेंट इन्फाइनाइट सीरीज़)। इससे बचा जा सकता है, उदाहरणार्थ, यह विशेष सकेत स्वीकार करके कि अपसारी असीम शृंखला ० संख्या के लिये प्रयुक्त की जायेगी। तार्किक दृष्टि से एक पूर्ण भाषा (Begriffsschrift) को निम्न शर्तों को पूरा करना चाहिये : प्रत्येक पदावली को, जो सुपरिचित संकेतों से व्याकरण के नियमों के अनुसार बनाकर व्यक्तिवाचक नाम के रूप में प्रयुक्त की गई है, वास्तव में किसी पदार्थ का नामोद्देश करना चाहिये, और, इसी प्रकार, किसी नये संकेत को बिना उसके उचित निर्देश को निश्चित किये व्यक्तिवाचक नाम के रूप में नहीं रखना चाहिये। तर्कशास्त्र की पुस्तकों में पदों की द्व्यर्थकता से उत्पन्न तर्क-दोषों के सम्बन्ध में चेतावनी दी होती है। मेरी समझ से व्यक्तिवाचक नाम के समान प्रतीत होने वाले निर्देशरहित पदों से उत्पन्न दोषों के विषय में भी सचेत रहना कोई कम महत्वपूर्ण नहीं है। गणित का इतिहास हमें अनेक ऐसे दोष बताता है जो इसी तरह उत्पन्न हुए हैं। द्व्यर्थकता तो भाषा का अवसरवादी प्रयोग करने का अवसर देती ही है, परन्तु निर्देशरहित पदों से उत्पन्न दोषों से भाषा का दुरुपयोग और आसान हो जाता है। 'जन-संकल्प' इसका एक अच्छा उदाहरण है, क्योंकि यह स्थापित करना आसान है कि इस शब्द का कोई सर्वमान्य निर्देश नहीं है। अतः इस प्रकार के तर्क-दोषों के स्रोत को दूर करना कोई कम महत्व की बात नही है, विशेष रूप से विज्ञानों में और वह भी हमेशा के लिये। तब इस प्रकार के आरोप, जिन पर ऊपर विचार किया गया है, असंभव हो जायेंगे क्योंकि किसी व्यक्तिवाचक नाम का कोई निर्देश है या नहीं, यह किसी विचार की सत्यता पर कभी नहीं निर्भर करेगा।

इन संज्ञा उपवाक्यों के विषय में प्रस्तुत विचार-सरणी में ऐसे विशेषण या क्रिया-विशेषण उपवाक्यों को भी सम्मिलित किया जा सकता है जो तार्किक दृष्टि से उनके निकट हों।

विशेषण उपवाक्य भी जटिल व्यक्तिवाचक नामों की रचना में सहायक बनते हैं हालांकि संज्ञा उपवाक्यों की भांति वे स्वयं इस कार्य के लिये पर्याप्त नहीं हैं। इन विशेषण उपवाक्यों को विशेषणों के ही समानार्थक समझना चाहिये। '४ का वर्गमूल ० से कम होता है' के स्थान पर हम '४ का ऋणात्मक (नेगेटिव) वर्गमूल' भी कह सकते हैं। यह एक जटिल व्यक्ति-वाचक नाम का दृष्टान्त है जिसे एकवाची निश्चयात्मक आर्टिकिल् (जर्मन भाषा में या अंग्रेजी में) की सहायता से धारणा के लिये प्रयुक्त पदावली से बनाया गया है। यदि वह धारणा किसी एक ही पदार्थ को सूचित करती है तो इस प्रकार की रचना का औचित्य है।[६]

---

६ जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस प्रकार की पदावली का निर्देश हमेशा

धारणाओं के लिये पदावलियाँ इस प्रकार निर्मित की जा सकती है कि धारणा की विशेषताओं का उल्लेख विशेषण उपवाक्यों के द्वारा हो जाय, जैसे ऊपर के दृष्टान्त में 'जो ० से कम होता है' के द्वारा हुआ है। प्रकट है कि इस प्रकार के विशेषण उपवाक्य का भाव उतना ही कोई विचार होगा, या सत्य-मूल्य निर्देश होगा, जितना सम्बन्धित संज्ञा उपवाक्य का। उसका भाव, जिसे अनेक स्थितियों में एक ही विशेषण के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, किसी विचार का अंश ही होगा। संज्ञा उपवाक्य की भाँति यहाँ भी कोई स्वतंत्र उद्देश्य नहीं होगा और इस प्रकार आश्रित उपवाक्य के भाव को स्वतंत्र वाक्य में कह सकने की संभावना भी नहीं होगी।

स्थान, क्षण तथा समय की अवधि तार्किक दृष्टि से पदार्थ माने गये हैं; अतः किसी स्थान, निश्चित क्षण या समय की अवधि के शापागत नाम को व्यक्तिवाचक नाम मानना चाहिये। अब देश और काल के क्रिया-विशेषण उपवाक्यों का प्रयोग भी उसी भाँति व्यक्तिवाचक नामों की रचना के लिये किया जा सकता है जिस प्रकार हमने संज्ञा उपवाक्यों के विषय में तथा विशेषण उपवाक्यों के विषय में देखा। इसी प्रकार, स्थान आदि से सम्बन्धित धारणाओं के लिये पदावलियों की रचना की जा सकती है। यहाँ भी यह ध्यान रखने की बात है कि इन आश्रित उपवाक्यों के भाव को एक स्वतंत्र वाक्य में नहीं व्यक्त किया जा सकता क्योंकि एक अनिवार्य अवयव यथा, स्थान या समय के निर्धारण, का अभाव रहता है और उसे केवल सम्बन्धवाचक सर्वनाम या समुच्चयबोधक अव्यय के द्वारा ही जाना जा सकता है।[१०]

सुरक्षित कर लेना चाहिये। ऐसा विशिष्ट संकेत के माध्यम से हो सकता है, उदाहरणार्थ जब कोई धारणा किसी पदार्थ को इंगित न करती हो या एक से अधिक पदार्थों को इंगित करती हो तो परिपाटी के अनुसार उसका निर्देश ० मानना चाहिये।

१० इन वाक्यों के भिन्न-भिन्न अर्थ बड़ी आसानी से किये जा सकते हैं। जैसे, वाक्य 'श्लेजविख-होल्स्टाइन के डेनमार्क से अलग किये जाने के बाद प्रशिया और ऑस्ट्रिया में लड़ाई हुई' के प्रत्यय को इस रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि 'श्लेज़विख-होल्स्टाइन के डेनमार्क से अलगाव के बाद प्रशिया और ऑस्ट्रिया में लड़ाई हुई।' दूसरे रूप में यह पर्याप्त स्पष्ट है कि उसके प्रत्यय के अंशरूप में यह विचार निहित नहीं है कि 'श्लेजविख-होल्स्टाइन कभी डेनमार्क से अलग किया गया था'; यह विचार तो एक अनिवार्य पूर्व मान्यता है अन्यथा 'श्लेजविख-होल्स्टाइन के डेनमार्क से अलगाव के बाद' का कोई निर्देश ही न होता। निस्संदेह हमारे वाक्य का यह अर्थ भी किया जा सकता है कि श्लेज़विख़-होल्स्टाइन को कभी डेनमार्क से अलग किया गया था। यह एक जटिल बात है और इस पर हम बाद में विचार करेंगे। एक उदाहरण से इस भेद को हम आसानी से समझ सकेंगे। मान लीजिये एक चीन निवासी, जिसे योरोप के इतिहास का कम ज्ञान है, इसे असत्य समझता है कि श्लेजविख-होल्स्टाइन को कभी डेनमार्क से अलग भी किया गया था। वह हमारे वाक्य के पहले रूप को न तो सत्य मानेगा न असत्य वरन् इस आधार पर कि

सोपाधिक उपवाक्यों में भी प्रायः एक अनिश्चित सूचक (इंडेफिनिट इंडीकेटर) रहता है और उसी प्रकार का सम्बन्धित शब्द आश्रित उपवाक्य में भी होता है। (यह हम पहले ही देख चुके हैं कि संज्ञा, विशेषण तथा क्रिया-विशेषण उपवाक्यों में इस प्रकार के शब्द आते हैं) चूंकि प्रत्येक सूचक दूसरे को इंगित करता है अतः ये दोनों उपवाक्य मिलकर ही एक समग्रता को निर्मित करते हैं। यह समग्रता नियमानुसार केवल एक अकेले विचार को ही व्यक्त करती है। निम्न वाक्य का उदाहरण इसे और स्पष्ट करेगा :

'यदि कोई संख्या एक से कम है तथा ० से अधिक तो उसका वर्ग १ से कम तथा ० से अधिक होता है।'

इस वाक्य के सोपाधिक उपवाक्य में तथा आश्रित उपवाक्य में ये सूचक क्रमशः 'कोई संख्या' तथा 'उसका' हैं। इनके अनिर्धारित होने का ही यह परिणाम है कि वाक्य के भाव को वह सार्वत्रिकता मिल जाती है जिसकी अपेक्षा एक नियम में की जाती है। इसका ही यह परिणाम है कि अकेले पूर्ववर्ती उपवाक्य का अपने भाव के रूप में कोई सम्पूर्ण विचार नहीं है और अनुवर्ती उपवाक्य के साथ मिलकर केवल एक ही विचार को व्यक्त करता है। (इस विचार के अंग विचार नहीं होते)। सामान्यतः यह कहना गलत है कि एक हेतुफलाश्रित निर्णय में दो निर्णयों को अन्योन्याश्रित सम्बन्ध में रखा जाता है। यदि यही या इसी के समान कुछ और कहा जाय तो 'निर्णय' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त किया जा रहा है जिस अर्थ में मैं 'विचार' का प्रयोग कर रहा हूँ। अतः मैं इसी बात को इस प्रकार कहूँगा : एक हेतुफलाश्रित विचार दो विचारों में एक अन्योन्याश्रित सम्बन्ध स्थापित करता है।' यह केवल तभी सत्य होगा जब वह अनिर्धारित सूचक अनुपस्थित हो।[11] परन्तु उस स्थिति में नियम वाली वह सार्वत्रिकता भी नहीं होगी।

यदि सोपाधिक तथा आश्रित दोनों उपवाक्यों में किसी विशिष्ट समय की सूचना अनिर्धारित रूप से देनी है तो ऐसा क्रिया के वर्तमान काल के प्रयोग से किया जा सकता है। पर इस स्थिति में यह प्रयोग किसी सामयिक वर्तमान काल की सूचना नहीं देगा। व्याकरण-सम्मत यह पद-रचना मुख्य तथा आश्रित उपवाक्यों में अनिर्धारित सूचक का कार्य करेगी। इसका निम्न उदाहरण दिया जा सकता है : 'जब सूर्य कर्क रेखा पर होता है, तो उत्तरी गोलार्व में सबसे लम्बा दिन होता है'। यहाँ आश्रित उपवाक्य के भाव को एक पूरे वाक्य में व्यक्त करना असंभव है क्योंकि वह भाव एक पूर्ण विचार नहीं है। यदि हम कहते हैं : 'सूर्य कर्क रेखा पर है' तो यह एक विशेष वर्तमान समय का निर्देश करेगा और इस प्रकार भाव का

आश्रित उपवाक्य का कोई निर्देश नहीं है, पूरे वाक्य के निर्देश से इन्कार करेगा। यह उपवाक्य केवल ऊपरी रूप में ही विशेष काल का निर्धारण करेगा। यदि वह हमारे वाक्य का दूसरे प्रकार से अर्थ लगाता है तब वह इसमें व्यक्त विचार को ऐसा पायेगा जिसे कि वह असत्य स्वीकार करेगा—सिवाय उस अंश के जो कि उसके लिये किसी निर्देश से रहित होगा।

११ कभी-कभी भाषागत सूचक व्यक्तरूप में नहीं दिया रहता; उसे सम्पूर्ण संदर्भ में ही समझना चाहिये।

परिवर्तन हो जायगा। उसी प्रकार मुख्य उपवाक्य का भाव भी एक विचार नहीं है; भाव केवल पूरे वाक्य का ही होता है जिसमें मुख्य तथा आश्रित उपवाक्य संयुक्त रहते हैं। यहाँ यह और जोड़ा जा सकता है कि पूर्ववर्ती तथा अनुवर्ती उपवाक्यों में अनेक सामान्य अवयव अनिर्धारित रूप से सूचित किये जा सकते हैं।

यह स्पष्ट है कि 'कौन' या 'क्या' से आरम्भ होने वाले संज्ञा उपवाक्यों का तथा 'कहाँ' 'कब', 'जब कभी' से आरम्भ होने वाले क्रिया-विशेषण उपवाक्यों का प्रायः इस प्रकार अर्थ लगाना पड़ता है कि वे सोपाधिक उपवाक्यों के समान प्रतीत हों, यथा 'जो कीचड़ में पत्थर फेंकता है वह अपने कपड़े गंदे करता है'।

विशेषण उपवाक्य भी सोपाधिक उपवाक्यो का स्थान ले सकते है। इस तरह ऊपर प्रयुक्त वाक्य को निम्न आकार में रखा जा सकता है : 'किसी ऐसी संख्या का वर्ग, जो १ से कम तथा ० से अधिक है, १ से कम तथा ० से अधिक होता है'।

यदि दोनो उपवाक्यों के सामान्य अवयव एक व्यक्तिवाचक नाम के द्वारा नामोद्देशित किये गये हों तो स्थिति बिल्कुल भिन्न हो जाती है। निम्नलिखित उदाहरण से हम इसे समझ सकेंगे :

'नेपोलियन ने, जिसने अपने दाहिने भाग को खतरे में देखा, स्वयं अपने रक्षकों का नेतृत्व कर दुश्मन का सामना किया'।

इस वाक्य में निम्न दो विचार व्यक्त किये गये हैं :

(१) नेपोलियन ने अपने दाहिने भाग को खतरे में देखा।

(२) नेपोलियन ने स्वयं अपने रक्षकों का नेतृत्व कर दुश्मन का सामना किया।

इस प्रकार एक व्यक्तिवाचक नाम सामान्य अवयवों को कब और किस अवस्था में नामोद्देशित करता है यह केवल संदर्भ के द्वारा ही जाना जा सकता है, परन्तु हर दशा में यह मानना चाहिये कि उसका निर्धारित निरूपण हुआ है। यदि सम्पूर्ण वाक्य का उल्लेख एक स्थापना के रूप में किया गया है तो हम एक साथ दोनों अवयव वाक्यों की स्थापना करते हैं। यदि उन दोनों में से कोई एक असत्य है तो सम्पूर्ण वाक्य असत्य होता है। यहीं हमें वह दृष्टान्त मिलता है जिसमें आश्रित उपवाक्य भाव के रूप मे एक सम्पूर्ण विचार रखता है (यदि हम उसे देश और काल का उल्लेख कर पूरा कर दे)। यहाँ एक आश्रित उपवाक्य का निर्देश एक सत्य-मूल्य है और यहीं हम यह आशा कर सकते है कि एक आश्रित उपवाक्य को समान सत्य-मूल्य वाले दूसरे वाक्य से बदला जा सकता है और इसमें सम्पूर्ण वाक्य के सत्य-मूल्य पर कोई असर नहीं पड़ेगा। परन्तु इसमें भी यह ध्यान रखना आवश्यक है, और वह भी व्याकरण-सम्बन्धी कारणों से, कि इस दूसरे उपवाक्य का उद्देश्य हमेशा 'नेपोलियन' ही होना चाहिये, क्योंकि तभी उसको 'नेपोलियन' के विशेषण उपवाक्य के रूप में प्रयुक्त किया जा सकेगा। परन्तु यदि उसको विशेषण उपवाक्य के रूप में नहीं रखा जाय और सम्बन्ध को 'और' के द्वारा व्यक्त किया जाय तो इस शर्त को रखने की आवश्यकता नहीं है।

'हालाँकि' से आरम्भ होने वाले सहायक उपवाक्य भी सम्पूर्ण विचार को व्यक्त करते हैं। इस समुच्चय बोधक अव्यय का वास्तव में कोई भाव नहीं होता। यह उपवाक्य के भाव को नहीं बदलता, वरन् उसके भाव को एक विशेष ढंग से प्रकाशित करता है (ऐसी ही स्थिति 'लेकिन' और 'फिर भी' की भी होती है)। हम सोपाधिक उपवाक्य को बिना पूरे वाक्य की सत्यता को प्रभावित किये किसी दूसरे समान सत्य-मूल्य वाले वाक्य के साथ बदल सकते हैं परन्तु यहाँ जिस प्रकाश में इस समुच्चय-बोधक अव्यय ने उपवाक्य को रखा है उस पर प्रभाव पड़ सकता है और ऐसा प्रतीत हो सकता है कि एक दुःखभरी रागिनी को बड़ी जिन्दा-दिली से गाया जा रहा है

पिछले दृष्टांत में सम्पूर्ण वाक्य के सत्य में उसके अवयवों का सत्य भी निहित था। पर ऐसे सोपाधिक उपवाक्यों की स्थिति दूसरी होती है जिनमें अनिर्धारित सूचक नहीं होता, वरन्, उसके स्थान पर, उसी के समान माना जाने वाला एक व्यक्तिवाचक नाम या ऐसा ही कुछ और होता है। उदाहरण के लिये इस वाक्य को ले सकते हैं : 'यदि सूर्य निकल चुका है तो आकाश घनाच्छादित है'। यहाँ काल वर्तमान है और निर्धारित है। स्थान भी निर्धारित ही माना गया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि सोपाधिक तथा आश्रित उपवाक्यों के सत्य-मूल्यों में यह सम्बन्ध स्थापित किया गया है कि ऐसा नहीं हो सकता कि पूर्ववर्ती वाक्य सत्य हो पर अनुवर्ती असत्य हो। अतः, यदि सूर्य नहीं निकलता है तो, चाहे आकाश घनाच्छादित हो या नहीं हो, हमारा वाक्य सत्य है और यदि सूर्य निकला है तथा आकाश घनाच्छादित है तो भी हमारा वाक्य सत्य है। चूंकि यहाँ हम सत्य-मूल्यों पर ही विचार कर रहे हैं, प्रत्येक अवयव उपवाक्य को समान सत्य-मूल्य वाले दूसरे वाक्य के साथ बदला जा सकता है और पूरे वाक्य के सत्य-मूल्य पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। निस्संदेह ऐसी स्थिति में उद्देश्य जिस रूप में हमारे सामने आये वह शायद हमें अनुपयुक्त मालूम हो, विचार भी बदला हुआ प्रतीत हो, परन्तु इस सबसे उसके सत्य-मूल्य पर कोई असर नहीं पड़ता। असल में हमें यह देख लेना चाहिये कि वाक्य के गौण विचारों का विरोध तो नहीं हो रहा है, हालांकि वे प्रकटरूप में व्यक्त नहीं होते और उन्हें वाक्य के भाव में नहीं गिना जाना चाहिये। अतः उनके सत्य-मूल्य को ध्यान में रखने की आवश्यकता नहीं है।[१२]

अपने विषय से सम्बन्धित साधारण दृष्टांतों पर ऊपर हमने विचार कर लिया है। अब जो कुछ हमने सीखा है उस पर संक्षेप में पर्यवेक्षण करेंगे।

सामान्यतः एक आश्रित उपवाक्य का भाव किसी विचार का कोई अंगमात्र ही होता है, पूरा विचार नहीं होता, तथा इस प्रकार निर्देश के रूप में कोई सत्य-मूल्य नहीं होता। इसके दो ही कारण हो सकते हैं : पहला, या तो आश्रित उपवाक्य के शब्दों का परोक्ष निर्देश

---

१२ ऊपर दिये हुए वाक्य के विचार को निम्न प्रकार से प्रकट किया जा सकता है : 'या तो सूर्य अभी तक नहीं निकला या आकाश घनाच्छादित है'। यह स्पष्ट करता है कि किस प्रकार ऐसे वाक्य-सम्बन्धों को समझना चाहिये।

है, जिससे आश्रित उपवाक्य का निर्देश (न कि भाव) एक विचार होता है या, दूसरा, किसी अनिर्धारित गुणक की उपस्थिति के कारण आश्रित उपवाक्य अपूर्ण है और मुख्य उपवाक्य के साथ संयुक्त होने पर ही किसी विचार को व्यक्त करता है। ऐसा हो सकता है कि किसी सहायक उपवाक्य का भाव एक सम्पूर्ण विचार हो, वैसी स्थिति में (यदि कोई व्याकरण-सम्बन्धी बाधा न हो तो) उसे समान सत्य-मूल्य वाले दूसरे वाक्य से बदला जा सकता है और सम्पूर्ण के सत्य-मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं उत्पन्न होगा।

सभी प्रकार के आश्रित उपवाक्यों की यदि परीक्षा की जाय तो कुछ ऐसे अवश्य मिल जायेंगे जो ऊपर के प्रवर्गों में नहीं आ सकते। जहाँ तक मैं समझता हूँ इसका कारण यही है कि इन आश्रित उपवाक्यों का भाव इतना सरल नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रायः हमेशा ही हमारे अभिव्यक्त मुख्य विचारों के साथ गौण विचार जुड़े रहते हैं। ये गौण विचार मनोवैज्ञानिक नियमों के अनुसार श्रोता के द्वारा अव्यक्तरूप से मुख्य विचार के साथ संयुक्त कर दिये जाते हैं। चूँकि गौण विचार भी स्वतः ही शब्दों के साथ लगभग मुख्य विचारों की भाँति ही संयुक्त प्रतीत होते हैं, हम उन्हें भी व्यक्त देखना चाहते हैं। इस प्रकार किसी वाक्य के भाव में गहराई आती है, और यहाँ तक हो सकता है कि उपवाक्यों की तुलना में उसमें अधिक संख्या सरल विचारों की प्रतीत हो। प्रायः वाक्यों को इसी प्रकार से समझना चाहिये, परन्तु कुछ कुछ दृष्टान्तों में ऐसा भी हो सकता है कि यह संदिग्ध हो कि गौण विचार उस वाक्य के भाव में ही निहित है अथवा केवल उसका सहवर्ती ही है।[13]

उदाहरणार्थ निम्न वाक्य को पुनः देखें :

'नेपोलियन ने, जिसने अपने दाहिने भाग को खतरे में देखा, स्वयं अपने रक्षकों का नेतृत्व कर दुश्मनों का सामना किया।'

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह वाक्य केवल उन्हीं दो विचारों को व्यक्त नहीं कर रहा है जिनका पहले उल्लेख किया गया है, वरन् इस तीसरे विचार को भी व्यक्त कर रहा है कि नेपोलियन का रक्षकों का नेतृत्व कर दुश्मन का सामना करने का कारण दाहिने भाग पर आये खतरे का उसका ज्ञान था। यह संदेह वास्तव में किया जा सकता है कि प्रस्तुत वाक्य इस विचार का केवल सुझाव-मात्र दे रहा है या उसे व्यक्त ही कर रहा है। मान लीजिये हम इस प्रश्न पर विचार करें कि क्या हमारा वाक्य असत्य होता यदि खतरे का ज्ञान होने के पहले ही नेपोलियन ने निर्णय ले लिया होता? यदि इसके बाद भी हमारा वाक्य सत्य हो सकता तो यह माना जाना चाहिये था कि वह गौण विचार उसके भाव का अंग नहीं है। संभवतः इसी दृष्टिकोण को समर्थन मिलेगा। इसका विकल्प तो और भी जटिल स्थिति उत्पन्न करेगा; क्योंकि तब उसके उपवाक्यों की संख्या से सरल विचारों की संख्या अधिक हो जायगी। यदि 'नेपोलियन ने अपने दाहिने भाग को खतरे में देखा' को हटा

---

१३ यह जानने के लिये कि एक स्थापना असत्य है या नहीं, या कोई शपथ मिथ्या है या नहीं, इसका महत्व हो सकता है।

कर उसके स्थान पर समान सत्य-मूल्य वाला दूसरा वाक्य' नेपोलियन की आयु पैंतालिस से अधिक हो चुकी थी' रख दिया जाय, तो न केवल हमारा पहला विचार बदल जायगा वरन् तीसरा विचार भी बदल जायगा। अतः बाद वाले का सत्य-मूल्य ही बदल जाता है। (यह सत्य-मूल्य तभी बदलता है जब आयु नेपोलियन के इस निर्णय की कारण नहीं होती कि वह रक्षकों का नेतृत्व करके दुश्मनों का सामना करे)। यह स्पष्ट करता है कि क्यों समान सत्य-मूल्य वाले उपवाक्यों को एक-दूसरे से इस प्रकार के दृष्टांतों में नहीं बदला जा सकता। एक उपवाक्य दूसरे से सम्बन्धित होकर जितना विचार व्यक्त करता है उतना अकेले नहीं कर सकता।

अब हम उन दृष्टांतों को देखें जिनमें ऐसा नियमितरूप से होता है।

'वेवेल ने ग़लती से मान लिया कि अलसेस-लोरेन की वापिसी फ्रांस की बदला लेने की भावना को शांत करेगी।'

इस वाक्य में दो विचार व्यक्त किये गये हैं, हालांकि उनको एक-दूसरे के पूर्ववर्ती या अनुवर्ती उपवाक्यों के द्वारा नहीं व्यक्त किया गया है। यथा:

(१) वेवेल का यह विश्वास था कि अलसेस-लोरेन की वापिसी फ्रांस की बदला लेने की भावना को शांत करेगी।

(२) अलसेस-लोरेन की वापिसी फ्रांस की बदला लेने की भावना को शांत करेगी।

पहले विचार की अभिव्यक्ति में आश्रित उपवाक्य के शब्दों का परोक्ष जबकि दूसरे विचार की अभिव्यक्ति में उन्हीं शब्दों का प्रचलित निर्देश है। यह प्रकट करता है कि आश्रित उपवाक्य को मूलवाक्य में दो प्रकार से समझा जाना चाहिये। उसके भिन्न-भिन्न निर्देश हैं, एक बार वह निर्देश विचार है तथा दूसरी बार सत्य-मूल्य। चूंकि सत्य-मूल्य इस आश्रित उपवाक्य का सम्पूर्ण निर्देश नहीं है, हम उसे समान सत्य-मूल्य वाले दूसरे उपवाक्य से नहीं बदल सकते। यही बात 'जानता' 'पता लगता है', 'ज्ञात है कि' आदि वाक्य-खण्डों के विषय में लागू होती है।

एक आश्रित उपवाक्य तथा उससे सम्बन्धित मुख्य उपवाक्य के द्वारा हम अनेक विचारों को व्यक्त करते हैं। ये विचार अलग-अलग मूल उपवाक्यों के अनुरूप नहीं होते। इस वाक्य से कि 'वर्फ़ पानी पर तैरता है क्योंकि उसका घनत्व पानी से कम है' हम निम्न तीन विचारों को प्राप्त करते है।

(१) वर्फ़ का घनत्व पानी से कम है।

(२) यदि किसी वस्तु का घनत्व पानी से कम होता है तो वह उस पर तैरती है।

(३) वर्फ़ पानी पर तैरता है।

तीसरे विचार को स्पष्टरूप से व्यक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह पहले दो में ही निहित है। दूसरी ओर, न तो पहला और तीसरा, और न दूसरा और तीसरा मिलकर हमारे वाक्य के भाव को प्रस्तुत कर सकेंगे। अतः अब यह देखा जा सकता है कि हमारा आश्रित उपवाक्य 'क्योंकि उसका घनत्व पानी से कम है' हमारे पहले विचार को तो

व्यक्त करता ही है साथ ही दूसरे का भी कुछ अंश व्यक्त करता है। इसी से यह ठीक है कि हमारे सहायक उपवाक्य समान सत्य-मूल्य वाले दूसरे वाक्यों से नहीं बदले जा सकते। क्योंकि यदि ऐसा होगा तो हमारा दूसरा विचार बदल जायगा और यह भी संभव है कि उसका सत्य-मूल्य भी बदल जाय। निम्न वाक्य में भी यही स्थिति है :

'यदि लोहे का घनत्व पानी से कम होता तो वह पानी के ऊपर तैरता।'

यहाँ हमें दो विचार मिलते हैं। पहला, लोहे का घनत्व पानी से कम नहीं है, और दूसरा, यदि किसी वस्तु का घनत्व पानी से कम है तो वह पानी पर तैरती है। सहायक उपवाक्य पुनः पहले सम्पूर्ण विचार को तथा दूसरे के कुछ भाग को व्यक्त करता है। इसी प्रकार हम अपने पूर्वपरिचित वाक्य को लें : 'श्लेजविख-होल्स्टाइन के डेनमार्क से अलग किये जाने के बाद प्रशिया तथा ऑस्ट्रिया में लड़ाई हुई।' यदि हम इस वाक्य की इस प्रकार से व्याख्या करें कि वह यह व्यक्त करे कि श्लेजविख-होल्स्टाइन को कभी डेनमार्क से अलग किया गया था, तो हमे पहला यही विचार मिलता है। दूसरा विचार यह मिलता है कि प्रशिया तथा ऑस्ट्रिया में लड़ाई हुई। यहाँ भी आश्रित उपवाक्य केवल एक ही विचार व्यक्त नहीं करता है वरन् दूसरे का भी कुछ अंश व्यक्त करता है। अतः सामान्यतः इसे समान सत्य-मूल्य वाले दूसरे वाक्य के साथ नहीं बदला जा सकता।

किसी भाषा में प्रयुक्त दृष्टांतों की सभी संभावनाओं का अध्ययन कठिन है। फिर भी मैं समझता हूँ कि मैं उन मुख्य स्थितियों को प्रकाश में ला सका हूँ जिनकी वजह से बिना सम्पूर्ण वाक्य-रचना को बिगाड़े हमेशा समान सत्य-मूल्य वाले वाक्य से एक आश्रित उपवाक्य को नही बदला जा सकता। ये स्थितियाँ निम्न हैं :

(१) जब आश्रित उपवाक्य का कोई सत्य-मूल्य नहीं होता क्योंकि वह केवल किसी विचार का अंशभाग ही व्यक्त करता है।

(२) जब आश्रित उपवाक्य का सत्य-मूल्य तो होता है परन्तु वह वहीं तक सीमित नहीं होता, क्योंकि उसका भाव कोई विचार तो होता ही है साथ ही दूसरे विचार का भी कुछ अंश होता है।

पहली स्थिति दो प्रकार से उत्पन्न होती है : (अ) शब्दों का परोक्ष निर्देश होने पर; (ब) यदि वाक्य का कोई अंश व्यक्तिवाचक नाम न होकर एक अनिर्धारित सूचक होता हो।

दूसरी स्थिति में सहायक उपवाक्य को दो प्रकार से समझना पड़ सकता है; पहला, अपने प्रचलित निर्देश में तथा दूसरा, परोक्ष निर्देश में। अथवा यह भी हो सकता है कि आश्रित उपवाक्य के किसी वाक्य का भाव किसी दूसरे विचार का अवयव हो। इस दूसरे विचार को आश्रित उपवाक्य द्वारा प्रकटरूप से व्यक्त विचार के साथ संयुक्त करके ही पूरे वाक्य का अर्थ प्रकट होता है।

ऊपर की बहस से इस निष्कर्ष की पर्याप्त संभावना हो जाती है कि ऐसे दृष्टांतों को, जिनमें समान सत्य-मूल्य वाले वाक्यों के साथ आश्रित उपवाक्य को नही बदला जा सकता,

हमारे इस दृष्टिकोण को प्रसिद्ध करने वाले के लिये नहीं रग्वा जा सकता कि किसी वाक्य का भाव यदि एक विचार है तो उसका निर्देश सत्य-मूल्य है।

अब हम अपने मूल विचार-बिन्दु पर आयें।

अ=अ और अ=ब के भिन्न-भिन्न संज्ञान मूल्य क्यों हैं? इसकी व्याख्या यह है कि ज्ञान के लिये वाक्य का भाव अर्थात् उसके द्वारा व्यक्त विचार उसके निर्देश से (अर्थात् उसके सत्य-मूल्य से) कम महत्वपूर्ण नहीं है। अब अ=ब है, तो निस्सदेह 'ब' का निर्देश 'अ' के निर्देश के समान ही है और अ=ब का सत्य-मूल्य वही है जो 'अ=अ' का है। इसके बाद भी 'ब' का भाव 'अ' से भिन्न हो सकता है और इस प्रकार 'अ=ब' का भाव 'अ=अ' से भिन्न होगा। इस स्थिति में दोनों वाक्यों का एक ही संज्ञान मूल्य नहीं होगा। यदि हम 'निर्णय' का अर्थ एक विचार से उसके सत्य-मूल्य की ओर बढ़ना समझते हैं, जैसा कि इस निबन्ध में माना गया है, तो हम कह सकते है कि निर्णय एक भिन्न वस्तु होते है।

तार्किक अरगुवाद

बर्ट्रैण्ड रसल

जिस दर्शन का मैंने प्रतिपादन किया है उसे साधारणतया यथार्थवाद (रियलिज़्म) का एक प्रकार माना जाता है, तथा उसमें यथार्थवादी सिद्धान्त से विपरीत प्रतीत होने वाले तत्त्वों का समावेश होने के कारण उस पर असंगतता का आरोप लगाया जाता है। जहां तक मेरा अपना सम्बन्ध है, मैं यथार्थवादियों और उनके प्रतिद्वन्दियों के बीच विवाद-विषय को मौलिक नहीं मानता, मैं जिन सिद्धांतों पर बल देना चाहता हूँ उनमें से किसी पर भी अपना दृष्टिकोण बदले बिना उक्त विवाद-विषय पर अपने दृष्टिकोण को बदल सकता हूँ। मेरे मत में दर्शन के लिए तर्कशास्त्र आधारभूत होता है, तथा दर्शन के सम्प्रदायों का वर्णन उनकी तत्व-मीमांसा के आधार पर नहीं वरन् उनके तर्कशास्त्र के आधार पर किया जाना चाहिये। मेरा अपना तर्कशास्त्र आणवीय है, और मैं यहां इसी पक्ष पर बल देना चाहूँगा। इसलिए मैं अपने दर्शन का किसी विशेषण सहित अथवा रहित 'यथार्थवाद' के रूप में वर्णन न करके 'तार्किक अणुवाद' के रूप में वर्णन करना अधिक उपयुक्त समझता हूँ।

प्राक्कथन के रूप में ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध मे यहाँ कुछ शब्द कहना लाभदायक सिद्ध होगा। मैं दर्शन के क्षेत्र में गणित के माध्यम से आया, अथवा कहें, गणित की सत्यता में विश्वास करने के लिए कुछ हेतु ढूँढ निकालने की इच्छा से आया। यौवन के प्रारंभ काल से ही मुझमें यह विश्वास करने की तीव्र इच्छा थी कि ज्ञान नामक वस्तु भी हो सकती है, पर साथ ही अधिकांशतः ज्ञान के रूप में जो कुछ स्वीकार किया जाता है उसे अंगीकार करने में मुझे बड़ी कठिनाई थी। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि विशुद्ध गणित में सन्देह-रहित सत्य को प्राप्त करने की सर्वाधिक सम्भावना थी, फिर भी यूक्लिड के कुछ स्वयं-सिद्ध स्पष्टतः संदिग्ध थे, तथा अंत्याणुकलन (इनफिनीटेसीमल केलकुलस), जिस रूप में मुझे पढ़ाया गया था वह हेत्वाभासों का एक समुच्चय था, और उसे मैं उससे भिन्न मानने में असमर्थ था। मेरे पास अंकगणित की सत्यता पर संदेह करने का कोई कारण नहीं था। किन्तु तब मुझे यह ज्ञात नहीं था कि समस्त परम्परागत विशुद्ध गणित को अंकगणित में समाविष्ट किया जा सकता है। अट्ठारह वर्ष की आयु में मैंने मिल के 'लॉजिक' को पढ़ा, परन्तु अंकगणित को स्वीकारने के जो कारण मिल ने दिये थे, उनसे मुझे गहरा असंतोष था। मैंने ह्यूम का अध्ययन नहीं किया था, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि विशुद्ध अनुभववाद (जिसे स्वीकारने की मेरी प्रवृत्ति थी) मिल द्वारा स्वीकृत वैज्ञानिक सिद्धांतों के समर्थन पोषक होने के स्थान

पर संशयवाद की ओर ही प्रेरित करता है। केम्ब्रिज में मैंने काण्ट व हेगल के अध्ययन के साथ ही ब्रेडले की 'लॉजिक' को भी पढ़ा जिसका मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। कुछ वर्षों तक मैं ब्रेडले का अनुयायी रहा, परन्तु अधिकांशतः जी० ई० मूर के साथ विवाद के फलस्वरूप मैंने १८९८ ई० के लगभग अपना मत परिवर्तित कर लिया। मैं फिर यह विश्वास करने में असमर्थ था कि ज्ञान की प्रक्रिया ज्ञेय में कोई अन्तर स्थापित कर सकती है। साथ ही मैं अनेकवाद की ओर अग्रसर होने के लिए बाध्य हो गया। गणितीय वाक्यों के विश्लेषण के फलस्वरूप मुझे यह मानना पड़ा कि जब तक हम अनेकवाद एवं सम्बन्धों की यथार्थता को स्वीकार नहीं कर लेते तब तक उनकी आंशिक सत्यों के रूप में भी व्याख्या नहीं की जा सकती। इस अवसर पर सयोगवश मैंने लीबनीज का अध्ययन किया, और मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा (जो बाद में कोतुरात की श्रेष्ठ गवेषणाओं से पुष्ट हुआ) कि उसकी विशिष्ट धारणाओं में से अनेक इस तार्किक सिद्धांत के कारण उत्पन्न हुई थीं कि प्रत्येक तर्क-वाक्य में एक उद्देश्य और एक विधेय होता है। इस सिद्धांत में लीबनीज़ स्पिनोजा, हेगल और ब्रेडले के साथ सहभागी है; मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि यदि उक्त सिद्धांत को अस्वीकृत कर दिया जाय तो इन सभी दार्शनिकों की तत्व-मीमांसा का सम्पूर्ण आधार ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसलिए मैं फिर उसी समस्या पर लौट आया जिसने मुझे प्रारम्भ में दर्शन की ओर प्रवृत किया था, अर्थात् गणित की आधार-शिला की समस्या, जिसको सुलझाने के लिए मैंने अधिकांशतः पीनो एवं फ्रेगे से व्युत्पन्न एक नवीन तर्क-शास्त्र का प्रयोग किया, तथा जो परम्परागत दर्शन के तर्क-शास्त्र से अधिक फलदायक सिद्ध हुआ (यह कम से कम मेरा विश्वास है)।

प्रथमतः मुझे यह ज्ञात हुआ कि गणित के विषय में रूढ़ दार्शनिक युक्तियाँ (जो मुख्यतः काण्ट से व्युत्पन्न थीं) इस बीच में होने वाली गणित की प्रगति से अवैध सिद्ध हो चुकी थीं। अयुक्तिवादी ज्यामिति ने अनुभवातीत संवेदनवाद (ट्रांसेंडेंटल एस्थेटिक) की युक्ति को खोखला बना दिया था। वीयस्ट्रास ने बता दिया था कि अवकलन एवं समाकलन गणित (डिफ्रेंशियल एण्ड इन्टीग्रल केलकुलस) में अंत्यणु (इनफिनिटेसीमल) की धारणा की अपेक्षा नहीं रहती, अतएव दार्शनिकों द्वारा देश, काल व गति की निरन्तरता जैसे विषयों पर जो कुछ भी कहा गया था उसे त्रुटि मात्र मानना चाहिये। केण्टर ने अनन्त संख्या के प्रत्यय को व्याघात से मुक्त कर दिया था, और इस प्रकार काण्ट एवं हेगल के अनेक विरोधाभाषों का निपटारा कर दिया था। अन्त में फ्रेगे ने विस्तार से यह बताया कि किस प्रकार अंकगणित का विशुद्ध तर्क-शास्त्र से, नवीन प्रत्ययों अथवा स्वयसिद्धों की आवश्यकता के बिना, निगमन किया जा सकता है, और इस प्रकार काण्ट के इस कथन को असिद्ध कर दिया कि "७+५=१२" संश्लेषणात्मक है—कम से कम इस अभ्युक्ति की साधारण व्याख्या के अनुसार। चूँकि ये सब निष्कर्ष किसी दुस्साहसिक विधि द्वारा नहीं वरन् धैर्यमय विस्तृत तर्क के द्वारा प्राप्त किए गए थे, इसलिए मैं यह सम्भाव्य मानने लगा कि दर्शन-शास्त्र ने बौद्धिक कठिनाइयों के दुस्साहसिक हल अपना कर त्रुटि की थी, तथा अधिक सावधानी व यथातथ्यता के द्वारा ही समाधान प्राप्त किये जा सकते है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों मैं इस मत को अधिकाधिक शक्ति से ग्रहण करता गया, तथा उसने मुझे यह शंका करने को प्रवृत किया है कि

विज्ञान से पृथक अध्ययन–क्षेत्र के रूप में एव स्वयं अपनी पद्धति से युक्त विषय के रूप में दर्शन की कल्पना कहीं धर्म-शास्त्र से प्राप्त दुर्भाग्यपूर्ण रिक्थ मात्र तो नहीं है।

फ्रेगे का कार्य अन्तिम इसलिए नही था कि एक तो वह गणित की अन्य शाखाओं पर प्रयोजित न हो कर केवल अंकगणित पर ही प्रयोजित होता था; दूसरे, उसके आधार–वाक्य उन व्याघातो से मुक्त नही थे जिनसे आकारी तर्क-शास्त्र के सभी गत संस्थान दूषित थे। 'प्रिसिपिया मेथेमेटिका' मे डॉ० ह्वाइटहैड व मैंने मिल कर इन दोनों दोषों का निवारण करने का प्रयत्न किया, किन्तु जो अब भी कतिपय आधारभूत अशों में (विशेषत: 'लघुकरण का स्वय सिद्ध'—एग्जियम ऑफ रिड्यूसिबिलिटी) अन्तिम समाधान से न्यून है। परन्तु मेरे विचार में इस पुस्तक के दोषों के अनन्तर भी उसका कोई भी पाठक उसके इस प्रमुख तर्क को चुनौती नही देगा कि किसी नवीन अपरिभाषित प्रत्यय अथवा असिद्ध तर्क-वाक्यों के बिना, सम्बन्धों के न्याय की सहायता से आकारी तर्क–शास्त्र से कतिपय प्रत्ययों एव स्वयंसिद्धों से समस्त विशुद्ध गणित की उपपत्ति की जा सकती है। इस पुस्तक में प्रतिपादित गणितीय तर्क-शास्त्र की प्राविधिक पद्धतियाँ बहुत सशक्त प्रतीत होती है, तथा वे ऐसी अनेक समस्याओं पर विचार-विमर्श के हेतु एक नवीन साधन प्रदान करने में समर्थ है जो अब तक दार्शनिक अस्पष्टता के आधीन रही है। मेरे तात्पर्य के उदाहरण के रूप मे डॉ० ह्वाइटहैड के 'कॉन्सेप्ट ऑफ नेचर' एव 'प्रिंसिपल्स ऑफ नेचुरल नॉलिज' नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है।

जब विशुद्ध गणित को एक निगमनात्मक संस्थान में व्यवस्थित किया जाता है—अर्थात् उन सभी तर्क-वाक्यो के समुच्चय के रूप में जिनका नियत आधार वाक्यों के समुच्चय से निगमन किया जा सके – तब यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम विशुद्ध गणित की सत्यता में विश्वास करना चाहते है तो वह पूर्णतया इसी आधार पर नहीं कर सकते कि हमें आधार-वाक्यों के समुच्चय की सत्यता में विश्वास है। कुछ आधार-वाक्य उनसे प्राप्त कुछ निष्कर्षों से बहुत कम सुस्पष्ट होते है, तथा उनमें विश्वास मुख्यतः उनके निष्कर्षों के कारण ही किया जाता है। जब किसी विज्ञान की एक निगमनात्मक संस्थान के रूप में व्यवस्था की जायगी तब सदा यह बात सत्य पाई जायगी। किसी संस्थान में तार्किक दृष्टि से सरलतम तर्क-वाक्य सर्वाधिक सुस्पष्ट नहीं होते, अथवा उक्त संस्थान में हमारे विश्वास के हेतुओं के प्रमुख अंश नही होते। आनुभविक विज्ञानों के सम्बन्ध में तो यह बात स्पष्ट है। उदाहरणार्थ विद्युत–गति–विज्ञान (इलोक्ट्रो–डायनेमिक्स) का मैक्सवैल के समीकरणों में समाहार किया जा सकता है, किन्तु इन समीकरणों में विश्वास उनके कतिपय तार्किक निष्कर्षों की निरीक्ष्य सत्यता के आधार पर किया जाता है। ठीक ऐसा ही तर्क-शास्त्र के विशुद्ध क्षेत्र में घटित होता है; तर्क-शास्त्र के कुछ तार्किक दृष्टि से प्राथमिक सिद्धान्तों में विश्वास स्वयं उनके कारण नही वरन् उनके परिणामों के कारण किया जाता है। "मुझे तर्क–वाक्यो के इस समुच्चय में क्यों विश्वास करना चाहिये ?" यह ज्ञानमीमांसात्मक प्रश्न इस तार्किक प्रश्न से सर्वथा भिन्न है कि "तर्क–वाक्यों का वह कौनसा लघुतम एवं तार्किक दृष्टि से सरलतम समूह है जिससे तर्क–वाक्यों के इस समुच्चय का निगमन किया जा सके ?"

इस तथ्य के अनन्तर भी कि अपने 'तार्किक' क्रम में तर्क-शास्त्र एवं गणित के तर्क-वाक्य शुद्ध निगमन द्वारा तर्क-शास्त्र के आधार-वाक्यों से निष्पादित होते हैं, तर्क-शास्त्र एवं विशुद्ध गणित में विश्वास करने के हमारे हेतु अंशतः केवल आगमनात्मक और सम्भाव्य होते हैं। मेरे विचार में यह बात महत्वपूर्ण है, क्योंकि तार्किक क्रम को ज्ञानमीमांसात्मक क्रम में तथा, विलोम रूप से ज्ञानमीमांसात्मक क्रम को तार्किक क्रम में सम्मिश्रित कर देने से त्रुटियों के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। गणितीय तर्क-शास्त्र गणित की सत्यता अथवा असत्यता पर प्रकाश केवल कल्पित विरोधाभासों को असिद्ध करके ही डाल सकता है। इससे इतना ही प्रकट होता है कि गणित 'सम्भवतः' सत्य हो सकती है। किन्तु गणित 'निश्चय ही' सत्य है, यह बताने के लिए अन्य विधियों एवं अन्य विचारों की आवश्यकता पड़ेगी।

डॉ० व्हाइटहेड और मैंने, अनुभव के द्वारा, गणितीय तर्क-शास्त्र पर प्रयोज्य जिस अति महत्वपूर्ण स्वतः-बोधात्मक सूत्र का पता लगाया, तथा जो तब से अन्य कई क्षेत्रों में प्रयोजित किया जा चुका है वह 'ऑखम के क्षुर' का एक रूप है। जब कल्पित सत्ताओं के किसी समूह में सुथरे तार्किक गुणधर्म होते हैं, तब अनेक उदाहरणों में, ऐसा पाया जाता है कि, उन कल्पित सत्ताओं के स्थान पर ऐसी विशुद्ध तार्किक संरचनाओं का प्रतिस्थापन किया जा सकता है जिनमें उतने सुथरे गुणधर्म नहीं होते। उस अवस्था में, उन कल्पित सत्ताओं से सम्बन्धित समझे जाने वाले तर्क-वाक्यों के समूह की व्याख्या करते समय हम उक्त तर्क-वाक्यों के समूह के किसी भी ब्यौरे में परिवर्तन किये बिना तार्किक संरचनाओं का प्रतिस्थापन कर सकते हैं। यह एक प्रकार की मितव्ययता है क्योंकि सुथरे गुणधर्मों वाली सत्ताएँ सदा अनुमित होती हैं, और जिन तर्क-वाक्यों में वे अभिव्यक्त होती हैं उनकी व्याख्या यदि उक्त अनुमान के बिना की जा सकती है तो अनुमान का आधार ही समाप्त हो जाता है, तथा हमारा तर्क-वाक्यों का समूह किसी संदिग्ध चरण की आवश्यकता के विरुद्ध सुरक्षित हो जाता है। इस सिद्धान्त का निम्नलिखित रूप में कथन किया जा सकता है : "जहाँ भी सम्भव हो, अज्ञात सत्ताओं के अनुमानों के स्थान पर ज्ञात सत्ताओं से उपलब्ध संरचनाओं का प्रति-स्थापन करो।"

इस सिद्धान्त के उपयोग भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु गणितीय तर्क-शास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिये वे विस्तार से बुद्धि-ग्राह्य नहीं हैं। इसका जो सर्व प्रथम उदाहरण मुझे प्राप्त हुआ उसे मैंने "अमूर्तता का सिद्धान्त" अथवा "अमूर्तता को अलगाने का सिद्धान्त" कहा है।[1] यह सिद्धान्त किसी भी सममित एवं संक्रामी सम्बन्ध के उदाहरण में प्रयोज्य होता है, यथा समानता का सम्बन्ध। हमारी प्रवृत्ति यह अनुमान करने की होती है कि उक्त सम्बन्ध किसी उभयनिष्ठ गुण के कारण उत्पन्न होते हैं। यह बात सत्य भी हो सकती है और नहीं भी; सम्भवतः वह कुछ उदाहरणों में सत्य होती है और अन्य में नहीं होती। किन्तु एक उभयनिष्ठ गुण के समस्त आकारी उद्देश्यों की पूर्ति उन पदों के समूह की सदस्यता से हो सकती

---

१ दे० "आवर नॉलेज ऑफ द एक्स्टरनल वर्ल्ड" पृ० ४२

है जिनका एक प्रदत्त पद से कथित सम्बन्ध हो। उदाहरणार्थ लम्बाई को लीजिए। मान लीजिये कि हमारे पास छड़ों का एक समूह है, जो सब समानतः लम्बी हैं। यह मानना सरल है कि उनका लम्बाई नामक एक गुण है जिनमें वे सभी सहभागी है। परन्तु वे सभी तर्क-वाक्य जिनमें यह कल्पित गुण घटित होता है अपने सत्य-मूल्य को अपरिवर्तित रूप में धारण किये रहेगे, यदि "छड़ 'क' की लम्बाई' के स्थान पर हम "उन समस्त छडों के समूह की सदस्यता जो 'क' जितनी लम्बी हैं" को ग्रहण कर ले। विभिन्न उदाहरणों में-यथा, वास्तविक संख्याओं की परिभाषा के उदाहरण में-एक सरलतर रचना सम्भव है।

इस सिद्धान्त का एक अति महत्वपूर्ण उदाहरण फ्रेगे द्वारा दी गई गण-संख्या की परिभाषा है जिसके अनुसार पदों के एक प्रदत्त समूह की गण संख्या प्रदत्त समूह के 'समरूप' सभी समूहों की कक्षा होती है-जहां दो समूह 'समरूप' तब होते है जब ऐसा एक एकैकी सम्बन्ध होता है जिसका क्षेत्र एक समूह होता है तथा जिसका विलोम क्षेत्र दूसरा समूह होता है। इस प्रकार एक गण-संख्या उन सभी कक्षाओं की कक्षा होती है जो एक प्रदत्त कक्षा के समरूप होती है। यह परिभाषा उन सभी तर्क-वाक्यों के सत्य मूल्यों को अपरिवर्तित बनाये रखती है जिनमें गण-संख्याएँ घटित होती है, तथा 'गण-संख्या' नामक उन सत्ताओं के अनुमान का परिहार करती है जिनकी अंकगणित को बुद्धि-ग्राह्य बनाने के उद्देश्य के अतिरिक्त कोई अपेक्षा नही थी, और जो अब उक्त उद्देश्य के लिए सर्वथा अनपेक्षित है।

कदाचित् और भी अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि समरूप विधियों द्वारा स्वयं कक्षाओं को भी अलगाया जा सकता है। गणित में ऐसे तर्क-वाक्यों की भरमार है जो यह अपेक्षा रखते प्रतीत होते है कि एक कक्षा अथवा एक समूह किसी न किसी अर्थ में एक एकात्मक सत्ता होना चाहिये-यथा, "न वस्तुओ के एक समय में कितने ही संयोजनों की संख्या $२^न$ होती है" तर्क-वाक्य। चूँकि $२^न$ सदा न से वृहत्तर होता है, इसलिए यदि कक्षाओं को स्वीकार किया जाय तो उक्त तर्क-वाक्य से कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है क्योंकि विश्व में सत्ताओं की कक्षाओं की संख्या विश्व में सत्ताओं की संख्या से अधिक होती है, तथा यदि कक्षाएँ सत्ताओं में समाविष्ट कर ली जायँ तो उक्त कथन विषमता-युक्त प्रतीत होगा। सौभाग्य से वे सभी तर्क-वाक्य जिनमें कक्षाओं का उल्लेख किया हुआ प्रतीत होता है इस मान्यता के बिना भी व्याख्यायित हो सकते है कि कक्षाएँ है। यह कदाचित् हमारे सिद्धान्त के समस्त उपनयों में से सर्वाधिक महत्व का है। (द्रष्टव्य : 'प्रिंसिपिया मैथेमेटिका', पृ० २०)।

एक अन्य महत्वपूर्ण उदाहरण मेरे द्वारा कथित "निश्चित विवरणों" से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् "सम अभाज्य", "इंगलैंड का वर्तमान सम्राट", "फ्राँस का वर्तमान सम्राट" जैसे वाक्यांश। "फ्राँस के वर्तमान सम्राट का अस्तित्व नही है" जैसे तर्क-वाक्यों की व्याख्या करने में सदा एक कठिनाई उत्पन्न हुई है। कठिनाई यह मानने से उत्पन्न हुई थी कि "फ्राँस का वर्तमान सम्राट" उक्त तर्क-वाक्य का उद्देश्य है, जिससे यह मानना आवश्यक हो गया कि यद्यपि उसका (सम्राट का) अस्तित्व नही है तथापि उसकी सत्ता है। किन्तु "गोल वर्ग" अथवा 'सम अभाज्य २ से अधिक है" को सत्तात्मक मानना भी कठिन है। वस्तुतः "गोल वर्ग

की सत्ता नहीं है" उतना ही सत्य है जितना" फ्रांस के वर्तमान सम्राट का अस्तित्व नहीं है"। इस प्रकार अस्तित्व और सत्तात्मकता के भेद से हमें कोई सहायता नहीं मिलती। तथ्य यह है कि जब "अमुक-तमुक" शब्द एक तर्क-वाक्य में प्रयुक्त होते है, तब उक्त तर्क-वाक्य में उनके अनुरूप कोई घटक नहीं होता, और जब उक्त तर्क-वाक्य का पूर्ण विश्लेषण किया जाता है तब 'अमुक-तमुक' शब्द तिरोहित हो जाते है। विवरणों के सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह है कि यदि "अ" "अमुक-तमुक" के आकार का वाक्यांश नहीं है (अथवा उसके लिये प्रयुक्त नहीं होता है) तो "अ का अस्तित्व है" ऐसा कथन अर्थहीन होगा। यदि "अमुक-तमुक" का अस्तित्व है, तथा "क" "अमुक-तमुक" है, तो यह अर्थहीन है कि "क का अस्तित्व है"। इस प्रकार "अस्तित्व" जिस अर्थ में एकात्मक सत्ताओं पर लागू किया जाता है उस अर्थ में आधारभूतों की सूची से पूर्णतः निकाल दिया गया है। सत्ता-सम्बन्धी युक्ति तथा उसके अधिकांश खण्डन दूषित व्याकरण पर आधृत पाये गये हैं। (द्रष्टव्य : 'प्रिंसिपिया मेथेमेटिका', १४)

विशुद्ध गणित में अनुमानों के स्थान पर संरचनाओं के प्रतिस्थापन के अनेक अन्य उदाहरण है, यथा श्रेणी, क्रमसूचक संख्याएँ, और वास्तविक संख्याएँ। किन्तु अब मैं भौतिकी में से उदाहरण प्रस्तुत करूँगा।

बिन्दु और क्षण प्रत्यक्ष उदाहरण है : डॉ० ह्वाइटहैड बता चुके हैं कि उनकी रचना ऐसी घटनाओं के समूहों से किस प्रकार की जाती है जिन सब का एक परिमित विस्तार होता है और एक परिमित अवधि होती है। सापेक्षता के सिद्धान्त में हमें मुख्यतः बिन्दुओं अथवा क्षणों की आवश्यकता न हो कर घटना-कणों की आवश्यकता होती है, जो पुरातन भाषा में वर्णित एक क्षण, अथवा एक तात्क्षणिक बिन्दु के अनुरूप होते है। (पूर्व काल में एक दिक्-बिन्दु सर्व काल तक स्थायी रहता था, और एक काल-क्षण अखिल दिक् में परिव्याप्त रहता था। आजकल गणितीय भौतिकी द्वारा अपेक्षित इकाई के न तो दिक्कीय और न कालिक विस्तार होता है।) घटना-कणों की रचना ठीक उसी तार्किक पद्धति द्वारा की जाती है, जिसके द्वारा बिन्दुओं व क्षणों की रचना की जाती थी। परन्तु इन संरचनाओं में हम विशुद्ध गणित की संरचनाओं से एक भिन्न स्तर पर होते है। एक घटना-कण की संरचना की सम्भावना कुछ गुण-धर्मो से युक्त घटना-समूहों के अस्तित्व पर निर्भर करती है; अपेक्षित घटनाओं का अस्तित्व है अथवा नहीं यह ज्ञात करना यदि सम्भव है तो केवल अनुभव द्वारा ही ऐसा किया जा सकता है। अतः (गणितीय अर्थ में) सातत्य की आशा करने अथवा घटना-कणों की संरचना की सम्भावना में विश्वास रखने का कोई प्रागनुभविक कारण नहीं हो सकता। यदि क्वांटम सिद्धांत के द्वारा विविक्त दिक्-काल की माँग की जाती है तो हमारा तर्क-शास्त्र उसे पूरा करने को उतना ही तत्पर है जितना वह सातत्य की माँग करने वाली पारम्परिक भौतिकी की आवश्यकताओं को पूरा करने में तत्पर है। यह प्रश्न केवल आनुभविक है, तथा हमारा तर्क-शास्त्र दोनों में से किसी भी विकल्प के अनुकूल है (जैसा कि उसे होना चाहिये)।

ऐसे ही विचार द्रव्य के एक कण अथवा परिमित आकार के द्रव्य-खण्ड पर लागू होते हैं। परम्परा से द्रव्य के वे दो सुथरे गुणधर्म होते हैं जो तार्किक संरचना के चिह्न है; प्रथम, यह

कि द्रव्य के दो खण्ड एक ही स्थान में एक ही काल में स्थित नहीं रह सकते; द्वितीय यह कि द्रव्य का एक ही खण्ड एक ही काल में दो स्थानों में स्थित नही रह सकता। अनुमानों के स्थान पर संरचनाओं के प्रतिस्थापन का अनुभव हमे ऐसी किसी भी सुथरी व यथातथ वस्तु के प्रति संदिग्ध बना देता है। हममे यह भावना उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती कि (द्रव्य की) अभेद्यता बिलियर्ड-गेंदों के निरीक्षण से प्राप्त एक आनुभविक तथ्य नहीं है, किन्तु ऐसी धारणा है जो तार्किक दृष्टि से अनिवार्य है। यह भावना पूर्णतः न्यायोचित है, परन्तु यदि एक द्रव्य एक तार्किक संरचना नहीं होता तो ऐसा नहीं हो सकता था। दिक्--काल के किसी भी लघु क्षेत्र मे बहुसंख्यक घटनाएँ सह-अस्तित्व रखती है; जब हम ऐसी सत्ता का प्रकथन करते है जो तार्किक संरचना नहीं है, तब हमें अभेद्यता जैसा कोई गुण धर्म उपलब्ध नहीं होता, किन्तु, इसके विपरीत, दिक्-काल के एक अंश में, चाहे वह कितना ही लघु क्यों न हो, घटनाओं की अनन्त परस्परव्याप्तता मिलती है। द्रव्य की अभेद्यता का कारण यह है कि हमारी परिभाषा उसे ऐसा बनाती है। मोटे रूप में, तथा यह कैसे घटित होता है इसकी धारणा प्रदान करने हेतु हम यह कह सकते है कि द्रव्य का एक खण्ड दिक्--काल के किसी परिपथ पर घटित होने वाला घटना-चक्र मात्र है, और हम द्रव्य-खण्डों नामक परिपथों की संरचना इस रूप में करते है कि वे परस्पर प्रतिच्छेद नहीं करते। द्रव्य अभेद्य है, क्योंकि यदि हम अपनी संरचनाओं का निर्माण अभेद्यता की उपलब्धि हेतु करें तो भौतिकी के नियमों का प्रकथन अधिक सुगमता से किया जा सकता है। अभेद्यता परिभाषा का तार्किक दृष्टि से एक अनिवार्य फल है, यद्यपि यह तथ्य कि उक्त परिभाषा सुविधाजनक है, आनुभविक है। द्रव्य-खण्ड उन ईंटो मे से नहीं है जिनसे जगत् का निर्माण होता है। ईंटें तो घटनाएँ है, तथा द्रव्य-खण्ड संरचना के वे भाग है जिन पर पृथक ध्यान देना हमारे लिये सुविधाजनक होता है।

मानसिक घटनाओं के दर्शन मे भी सरचना बनाम अनुमान सम्बन्धी हमारे सिद्धान्त को लागू करने की गुंजायश है। ज्ञाता, तथा ज्ञेय से किसी सज्ञान के सम्बन्ध,—इन दोनों में वह अभियोजनात्मक गुण है जो हमारे संशयों को जाग्रत करता है। यह स्पष्ट है कि यदि ज्ञाता का परिरक्षण करना है तो उसे एक संरचना के रूप में ही परिरक्षित करना पड़ेगा, न कि एक अनुमित सत्ता के रूप में; एक-मात्र प्रश्न यही है कि क्या ज्ञाता इतना पर्याप्त लाभदायक है कि उसकी संरचना मूल्यवान सिद्ध हो। पुनः, ज्ञेय से एक सज्ञान का सम्बन्ध भी एक सरल अंतिम इकाई नहीं है, जैसा कि मैं पहले कभी सोचा करता था। यद्यपि मैं व्यवहारवाद से सहमत नहीं हूँ, तथापि मेरे विचार से 'ज्ञान की प्रक्रिया' की जटिलता की ओर ध्यान आकर्षित करने में विलियम जेम्स सही थे। वर्तमान सामान्य सारांश मे उक्त मत के कारणों का विवरण देना असम्भव है। किन्तु जो भी हमारे सिद्धान्त को स्वीकार करता है वह इसमें सहमत होगा कि यहाँ उसे लागू करने की 'प्रथम दृष्ट्य, स्थिति है। मेरा 'एनेलिसिस ऑफ माइंड' नामक ग्रन्थ का अधिकांश इसी सिद्धांत के उपनयों से निर्मित है। किन्तु चूँकि मनोविज्ञान भौतिकी की तुलना में वैज्ञानिक दृष्टि से कम पूर्ण है, इसलिए उक्त सिद्धान्त को प्रयोजित करने के अवसर उतने समुचित नहीं है। यह सिद्धान्त अपने प्रयोग के लिये ऐसे तर्क

वाक्यों के समुचित विश्वसनीय संग्रह पर निर्भर करता है, जिनकी तर्कशास्त्री द्वारा इस प्रकार व्याख्या की जानी चाहिये कि अनिरीक्ष्य सत्ताओं के अनुमान के तत्व के न्यूनीकरण के साथ-साथ उनकी सत्यता का परिरक्षण हो। अतः इस सिद्धान्त में एक साधारणतः उन्नत विज्ञान का पूर्वग्रहण होता है, जिसकी अनुपस्थिति में तर्क-शास्त्री यह नहीं जान पाता कि उसे क्या संरचित करना चाहिये। कुछ काल पूर्व तक ज्यामितीय बिन्दुओं की संरचना करना आवश्यक प्रतीत होता था; अब घटना-कणों की आवश्यकता है। भौतिकी जैसे एक उन्नत विषय में इस परिवर्तन को देखते हुए यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान में संरचनाएँ केवल अंतःकालीन होनी चाहिये।

अब तक मैंने केवल यही बताया है कि जगत् के अंतिम संघटकों के अंश के रूप में किन तत्त्वों को मानना आवश्यक नहीं है। किन्तु तार्किक संरचनाएँ अन्य समस्त संरचनाओं की भाँति उपादान की अपेक्षा रखती है, तथा अब इस सकारात्मक प्रश्न की ओर उन्मुख होने का समय आ गया है कि ये उपादान क्या होंगे। पर यह प्रश्न, एक प्रस्तावना के रूप में, तर्क-शास्त्र एवं भाषा तथा उनके द्वारा निरूपित वस्तु से उनके सम्बन्ध के विवेचन की अपेक्षा रखता है।

मेरा विश्वास है कि दर्शन-शास्त्र पर भाषा का प्रभाव गहन एवं लगभग अज्ञात रहा है। यदि हम इस प्रभाव से पथभ्रष्ट होना नहीं चाहते हैं तो उसके प्रति सचेत होना आवश्यक है, तथा स्वयं से विमर्श-पूर्वक यह प्रश्न पूछना आवश्यक है कि वह कहाँ तक वैध है। इस प्रसंग मे द्रव्य-गुण तत्वमीमांसा सहित उद्देश्य-विधेय तर्क-शास्त्र का उदाहरण लीजिये। यह संदेहास्पद है कि दोनों में से किसी का भी आविष्कार अनार्य भाषा-भाषी लोगों ने किया होगा; निश्चय ही उनका चीन में उदय नहीं हुआ होगा—बौद्ध-दर्शन इस सम्बन्ध में अपवाद है, पर वह अपने साथ भारतीय दर्शन को चीन में लाया। पुनः एक भिन्न प्रकार के उदाहरण लें तो यह मानना स्वाभाविक है कि सार्थकता से प्रयुक्त होने योग्य एक व्यक्तिवाचक नाम एक एकात्मक सत्ता को सूचित करता है; हम यह मान लेते हैं कि "सुकरात" नामक कोई एक न्यूनाधिक स्थायी प्राणी है, क्योंकि वही नाम उन घटनाओं की एक श्रेणी के लिए प्रयोजित होता है जिन्हें हम उस प्राणी की अभिव्यक्तियाँ मानने को प्रवृत्त होते हैं। ज्यों-ज्यों भाषा अधिक अमूर्त बनती है, त्यों-त्यों दर्शन-शास्त्र में सत्ताओं का एक नवीन समूह प्रविष्ट हो जाता है, अर्थात् जाति-प्रत्यय, जो अमूर्त शब्दों द्वारा सूचित सत्ताएँ हैं। मैं यह स्थापन नहीं करना चाहता कि जाति-प्रत्यय नहीं होते; किन्तु निश्चय ही अनेक ऐसे अमूर्त शब्द हैं जो एकात्मक जाति-प्रत्ययों को सूचित नहीं करते—यथा, त्रिभुजत्व और विवेकत्व। इन रूपों में भाषा अपने शब्द-भण्डार एवं अपनी वाक्य-रचना के द्वारा हमें पथभ्रष्ट करती है। यदि हम चाहते हैं कि हमारा तर्क-शास्त्र हमें एक मिथ्या तत्व-मीमांसा की ओर प्रवृत्त न करे तो हमें इन दोनों के सम्बन्ध में सावधान रहना चाहिये।

वाक्य रचना और शब्द-भण्डार के दर्शन पर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव पड़े हैं। शब्द-भण्डार का सर्वाधिक प्रभाव साधारण ज्ञान पर पड़ा है। विलोमतः यह अनुरोध किया

जा सकता है कि साधारण ज्ञान हमारे शब्द-भण्डार को उत्पन्न करता है । इसमें केवल आंशिक सत्य है । प्रारम्भ में एक शब्द न्यूनाधिक समरूप वस्तुओं के लिए प्रयोजित किया जाता है, और यह विचार नहीं किया जाता कि उन वस्तुओं में कोई तद्रूपता है अथवा नहीं। परन्तु जब एक बार प्रचलन द्वारा वे विषय नियत हो जाते हैं जिन पर उक्त शब्द प्रयोजित किया जाना चाहिये, तब साधारण ज्ञान उस शब्द के अस्तित्व से प्रभावित होता है और यह मानने को प्रवृत्त होता है कि एक शब्द से एक विषय सूचित होना चाहिये जो एक विशेषण अथवा एक भाववाचक शब्द की स्थिति में एक जाति-प्रत्यय होगा । इस प्रकार शब्द-भण्डार का प्रभाव वस्तुओं एवं प्रत्ययों के एक प्रकार के प्लेटोवादी अनेकवाद को प्रेरित करता है।

इण्डो-यूरोपीय भाषाओं में वाक्य-रचना का प्रभाव सर्वथा भिन्न होता है । लगभग प्रत्येक तर्क-वाक्य एक ऐसे आकार में रखा जा सकता है जिसमें एक संयोजक से संयुक्त एक उद्देश्य तथा एक विधेय होता है । यह अनुमित करना स्वाभाविक है कि प्रत्येक तथ्य के एक तदनुरूप आकार होता है, और वह एक द्रव्य द्वारा एक गुण के अभिधारण में निहित होता है । निश्चय ही इससे एकवाद उत्पन्न होता है, क्योंकि यह तथ्य कि द्रव्य अनेक है (यदि वह तथ्य होता) अपेक्षित आकार का नहीं होता । सिद्धान्ततः दार्शनिक स्वयं को भाषायी आकारों के इस प्रकार के प्रभाव से मुक्त समझते है, किन्तु मुझे उनकी यह धारणा भ्रान्त प्रतीत होती है । अमूर्त विषय-वस्तुओं के सम्बन्ध में विचार करने में, यह तथ्य कि अमूर्तताओं को सूचित करने वाले शब्द साधारण शब्दों से अधिक अमूर्त नहीं होते, सदा शब्दों द्वारा सूचित वस्तुओं के बारे में विचार करने की तुलना में स्वयं शब्दों के सम्बन्ध मे विचार करना सरल बना देता है, तथा शब्दों के सम्बन्ध मे विचार करने के लोभ को संवरण करना असम्भव हो जाता है।

जो विचारक उद्देश्य-विधेय तर्क-शास्त्र के वशीभूत नहीं होते वे केवल एक ही चरण आगे बढ़ने में प्रवृत्त हो सकते है, तथा दो पदों के सम्बन्धों को स्वीकार कर सकते हैं, यथा पूर्व-और-पश्चात्, अधिक-और-कम, दाहिना-और-बायां । भाषा स्वयं को उद्देश्य-विधेय तर्क-शास्त्र के इस विस्तरण के अनुकूल बना लेती है, क्योंकि हम "अ ब से पूर्व है", "अ ब से अधिक है" आदि का कथन करते है । यह सिद्ध करना सरल है कि इस प्रकार के तर्क-वाक्य द्वारा अभिव्यक्त तथ्य एक द्रव्य द्वारा एक गुण के अभिधारण में अथवा दो या अधिक द्रव्यों द्वारा दो या अधिक गुणों के अभिधारण मे निहित नहीं होता । (द्रष्टव्य : 'प्रिंसिपल्स ऑफ मैथेमेटिक्स' २१४) । इसलिए उद्देश्य-विधेय तर्क-शास्त्र का विस्तरण उक्त सीमा तक उचित है, किन्तु स्पष्ट है कि ठीक ऐसी ही युक्तियों द्वारा उसका और भी अधिक विस्तरण अनिवार्य सिद्ध किया जा सकता है । मैं नहीं जानता कि त्रिपदीय, चतुष्पदीय, पंचपदीय................ सम्बन्धों की श्रेणी में किस सीमा तक अग्रसर होना अनिवार्य है । उदाहरण के लिये, प्रक्षेपी ज्यामिति मे एक रेखा पर बिन्दुओं के क्रम अथवा एक रेखा मे समतलों के क्रम द्वारा एक चतुष्पदीय सम्बन्ध अपेक्षित होता है ।

भाषा की विचित्रताओं का एक अति दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव विशेषणों एवं सम्बन्धों के प्रसंग मे पड़ता है । समस्त शब्द एक ही तार्किक रूप के होते है; एक शब्द सुनने अथवा पढ़ने

के अनुसार ध्वनियों अथवा आकारों की श्रेणी का वर्ग होता है । किन्तु शब्दों के अर्थ अनेक भिन्न रूपों के होते है; एक गुण (एक विशेषण द्वारा अभिव्यक्त) उन वस्तुओं से भिन्न रूप का होता है जिन पर उसका (सत्यता अथवा असत्यता से) आरोपण किया जा सकता है; (कदाचित् एक सम्बन्ध–सूचक अव्यय, एक सकर्मक क्रिया, या किसी अन्य प्रकार से अभिव्यक्त) एक सम्बन्ध उन पदों से भिन्न रूप का होता है जिनके मध्य वह लागू होता है अथवा नहीं होता है । एक तार्किक रूप की परिभाषा निम्नलिखित है : अ और ब एक ही तार्किक रूप के तभी, और केवल तभी, होते है जब अ को संघटक–तत्त्व के रूप में समाविष्ट करने वाले किसी प्रदत्त तथ्य के अनुरूप ब को एक संघटक–तत्त्व के रूप में समाविष्ट करने वाला तथ्य हो, जो या तो अ के स्थान पर ब को रखने से फलित होता है अथवा इस प्रकार फलित होने वाले तथ्य का निषेध होता है । उदाहरण के लिये, सुकरात और अरस्तू एक ही रूप के है, क्योंकि "सुकरात एक दार्शनिक था" तथा "अरस्तू एक दार्शनिक था" दोनों तथ्य हैं; सुकरात केलिगुला एक ही रूप के है क्योंकि "सुकरात एक दार्शनिक था" तथा "केलिगुला एक दार्शनिक नहीं था" दोनों तथ्य है । "प्रेम करना" और "हत्या करना" एक ही रूप के है, क्योंकि "प्लेटो सुकरात को प्रेम करता था" तथा "प्लेटो ने सुकरात की हत्या नहीं की" दोनों तथ्य है । उक्त परिभाषा से आकारी दृष्टि से यह फलित होता है कि जब दो शब्दों के अर्थ विभिन्न रूपों के होते है, तब उन शब्दों द्वारा सूचित वस्तुओं से उनके सम्बन्ध विभिन्न रूपों के होते हैं; कहने का तात्पर्य यह है कि शब्दों और उनसे सूचित वस्तुओं में एक ही अर्थ-सम्बन्ध नही होता वरन् उतने ही विभिन्न तार्किक रूपों के अर्थ–सम्बन्ध होते हैं जितने उन शब्दों द्वारा सूचित वस्तुओं में तार्किक रूप होते है । यह तथ्य दर्शन–शास्त्र में त्रुटियों एवं भ्रांतियों का एक प्रबल स्रोत है । विशेषतः, इसके कारण ऐसे किसी भी सम्बन्ध–सिद्धान्त को शब्दों में अभिव्यक्त करना असाधारण रूप से कठिन हो गया है जो तार्किक दृष्टि से सत्य बनने योग्य होता है, क्योंकि भाषा एक सम्बन्ध एवं उसके पदों की रूपात्मक भिन्नता को सुरक्षित नही रख सकती । सम्बन्धों की यथार्थता के पक्ष एवं विपक्ष में दी गई अधिकांश युक्तियाँ इसी भ्रान्ति–स्रोत से दूषित हो गई है ।

इस स्थान पर मैं एक क्षण के लिये विषयान्तर कर के यथा-सम्भव संक्षेप में सम्बन्धों के प्रति मेरी धारणा को स्पष्ट करना चाहूँगा । सम्बन्धों के विषय पर अतीत में मेरा अभिमत उतना स्पष्ट नही था जितना मै सोचता था, किन्तु मेरे आलोचक जिसे मेरा अभिमत मानते थे, वह कदापि नही था । स्वयं अपने विचारों में स्पष्टता की कमी के कारण मैं अपने अर्थ का प्रेषण करने में असमर्थ था । सम्बन्धों का विषय कठिन है, और अब भी मैं उस सम्बन्ध में स्पष्ट होने का दावा नहीं करता । परन्तु मेरे विचार से कुछ अंशों पर मैं स्पष्ट हूँ । जब मैंने "दी प्रिंसिपल्स ऑफ मेथेमेटिक्स" की रचना की थी तब तक मुझे तार्किक रूपों की अनिवार्यता ज्ञात नही हुई थी । रूपों का सिद्धान्त तर्क–शास्त्र पर गहरा प्रभाव डालता है, तथा मेरे विचार से यह प्रदर्शित करता है कि "वाह्य" सम्बन्धों के विरोधियों की युक्तियों में यथातथ सत्य–तत्त्व कौनसा है । परन्तु रूपों का सिद्धान्त उनकी मुख्य स्थिति को सबल

बनाने के विपरीत इसमें एक अधिक पूर्ण एवं उग्र अणवाद की ओर प्रवृत्त करता है जिसकी बीस वर्ष पूर्व मैं कल्पना नहीं कर सकता था। दर्शन-शास्त्र में उत्पन्न होने वाले प्रश्नों में सम्बन्धों का प्रश्न एक सर्वाधिक महत्व का प्रश्न है, क्योंकि अन्य अधिकांश प्रश्न उसी पर निर्भर करते हैं : एकवाद और अनेकवाद का प्रश्न; यह प्रश्न कि क्या सम्पूर्ण सत्य के अतिरिक्त कोई वस्तु पूर्णतः सत्य होती है, अथवा सम्पूर्ण तत्त्व के अतिरिक्त कोई वस्तु पूर्णतः तात्त्विक होती है; कुछ रूपों मे प्रत्ययवाद और यथार्थवाद का प्रश्न; कदाचित विज्ञान से पृथक एव अपनी विशिष्ट पद्धति से युक्त एक विषय के रूप में स्वयं दर्शन-शास्त्र का प्रश्न। यदि ब्रेडले के "एसेज ऑन ट्रुथ एण्ड रीयेलिटी" से मैं एक उद्धरण लूं तो मेरे अर्थ को स्पष्ट करने में सहायता मिलेगी, इसलिये नहीं कि मुझे उस पर कोई विवाद करना है, वरन् इसलिये कि वह ठीक उसी प्रश्न को उठाता है जिसे उठाना आवश्यक है। किन्तु सर्व प्रथम मैं बिना किसी तर्क के मेरे अपने अभिमत के प्रकथन का प्रयास करूँगा।[2]

इस एक प्रश्न पर पाँच वर्ष के चिन्तन के पश्चात् कुछ व्याघातों—उन व्याघातों में सरलतम एवं प्राचीनतम व्याघात क्रीट निवासी एपिमेनीडीज़ के सम्बन्ध में है, जिसने कहा था कि सब क्रीटनिवासी असत्यभाषी है, जिसे "मै असत्य बोल रहा हूँ" कथन करने वाले व्यक्ति पर घटित किया जा सकता है—से मुझे निश्चय हो गया कि रूपों के सिद्धान्त के बिना कोई भी हल प्राविधिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। अपने प्राविधिक रूप मे उक्त सिद्धान्त केवल यह प्रकथन करता है कि एक शब्द या प्रतीक किसी सार्थक तर्क-वाक्य का अंग हो सकता है, तथा इस दृष्टि से अर्थपूर्ण हो सकता है, किन्तु साथ ही वह हमेशा उसी तर्क-वाक्य अथवा किसी अन्य तर्क-वाक्य में किसी अन्य शब्द अथवा प्रतीक का स्थान निरर्थकता उत्पन्न किये बिना नहीं ग्रहण कर सकता। "ब्रूटस ने सीज़र की हत्या की" सार्थक है, परन्तु "हत्या की ने सीज़र की हत्या की" निरर्थक है; फलतः हम "हत्या की" को ब्रूटस के स्थान पर नहीं रख सकते, यद्यपि दोनों शब्द अर्थ-पूर्ण है। यह विशुद्ध साधारण ज्ञान की बात है, किन्तु दुर्भाग्यवश प्रायः समस्त दर्शन-शास्त्र इसे भूलने के प्रयास में निहित है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित शब्द स्वरूपतः इस दोष से ग्रसित है : गुण, सम्बन्ध, जटिल, तथ्य, सत्य, असत्य, नहीं, असत्यभाषी, सर्वज्ञता। इन शब्दों को अर्थ प्रदान करने के लिए हमें शब्दों अथवा प्रतीकों तथा जिन विभिन्न तरीकों से वे सार्थक होते है उनके माध्यम से टेढा-मेढ़ा पथ ग्रहण करना पड़ता है; और इसके अनन्तर भी हम प्रायः एक अर्थ पर न पहुँच कर विभिन्न अर्थो की अनन्त श्रेणी पर पहुँचते हैं। जैसा कि हम देख चुके है शब्द सभी एक ही तार्किक रूप के होते हैं, इसलिये जब दो शब्दों के अर्थ विभिन्न रूपों के होते है, तब उन दो शब्दों द्वारा सूचित वस्तुओं से उनके सम्बन्ध भी विभिन्न रूपों के होते हैं। गुण-वाचक शब्द और सम्बन्ध-वाचक शब्द एक ही रूप के होते है, इसलिये

---

२. इस विषय में मैं अपने मित्र विट्गेंस्टाइन का अत्यधिक ऋणी हूँ। द्रष्टव्य : उनका "ट्रैक्टेटस लॉजिकोफिलॉसाफिकस", केगन पॉल, १९२२। मैं उनके सब सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करता, किन्तु उनकी पुस्तक के पाठकों को उनके प्रति मेरा ऋण स्पष्ट हो जायगा।

हमारा यह कहना सार्थक है कि "गुण-वाचक शब्दों और सम्बन्ध-वाचक शब्दों के विभिन्न प्रयोग होते हैं।" किन्तु हमारा यह कहना सार्थक नही है कि "गुण सम्बन्ध नहीं हैं।" रूपों की हमारी परिभाषा के अनुसार, चूंकि सम्बन्ध सम्बन्ध होते हैं, इसलिये "गुण सम्बन्ध हैं" आकार के शब्द असत्य न होकर निरर्थक होने चाहिये, तथा इसी प्रकार "गुण सम्बन्ध नहीं हैं" आकार के शब्द सत्य न होकर निरर्थक होने चाहिये। फिर भी, यह कथन कि "गुण-वाचक शब्द सम्बन्ध-वाचक शब्द नहीं हैं" सार्थक एवं सत्य है।

अब हम आन्तरिक और वाह्य सम्बन्धों के प्रश्न पर यह स्मरण रखते हुए विचार कर सकते हैं कि दोनों पक्षों द्वारा किये गये सामान्य निरूपण रूपों के सिद्धान्त से असंगत हैं। मैं वाह्य सम्बन्धों के सिद्धान्त के कथन के प्रयास से श्री गणेश करूँगा। यह कहना व्यर्थ है कि "पद अपने सम्बन्धों से स्वतंत्र होते हैं" क्योंकि "स्वतंत्र" एक ऐसा शब्द है जिसका यहाँ कोई अर्थ नहीं है। दो घटनाएँ कारणता की दृष्टि से परस्पर स्वतंत्र तब कही जा सकती हैं, जब कोई भी कारण-शृंखला एक घटना से दूसरी घटना तक नही ले जाती; ऐसा सापेक्षता के विशेष सिद्धान्त में तब घटित होता है जब घटनाओं में दिक् की दृष्टि से पृथकत्व होता है। स्पष्ट है कि "स्वतंत्र" का यह अर्थ यहाँ विसंगत है। जब हम यह कहते हैं कि "पद अपने सम्बन्धों से स्वतंत्र होते हैं" तब यदि हमारा अर्थ यह होता है कि "जिन पदों में कोई प्रदत्त सम्बन्ध है वे उस सम्बन्ध के बिना भी यथावत रहेंगे" तो यह स्पष्टतः असत्य होगा; क्योंकि वे पद जो भी हैं उनमें उक्त सम्बन्ध है, अतएव जिन पदों में उक्त सम्बन्ध नहीं है, वे भिन्न होंगे। यदि हमारा तात्पर्य यह है कि—जैसा कि वाह्य सम्बन्धों के विरोधियों की कल्पनानुसार हमारा तात्पर्य है—कि सम्बन्ध एक तीसरा पद है जो दो पदों के मध्य में स्थित है और किसी रूप में उनसे नत्थी किया हुआ है, तो यह स्पष्टतः अर्थहीन है, क्योंकि उस दशा में उक्त सम्बन्ध एक सम्बन्ध नहीं रह जाता तथा उन पदों से सम्बन्ध का नत्थी होना मात्र वस्तुतः सम्बन्धात्मक रह जाता है। दो अन्य पदों के मध्य एक तीसरे पद के रूप में सम्बन्ध की धारणा रूपों के सिद्धान्त की अवहेलना करती है, तथा उसका अत्यधिक सावधानी से परिहार करना चाहिये।

तो फिर वाह्य सम्बन्धों के सिद्धान्त से हमारा क्या तात्पर्य हो सकता है? हमारा तात्पर्य मुख्यतः यह है कि सामान्यतः एक सम्बन्धात्मक तर्क-वाक्य आकारतः तार्किक दृष्टि से एक अथवा अनेक उद्देश्य-विधेय तर्क-वाक्यों के समतुल्य नहीं होता। और भी अधिक यथातथ कथन इस रूप में किया जा सकता है मानलो एक सम्बन्धात्मक तर्क-वाक्यात्मक फलन "XRY" प्रदत्त है तो सामान्यतः यह सम्भव नहीं होता कि हम ऐसे a, b, z विधेयों को उपलब्ध करलें कि "XRY", X और Y के समस्त मूल्यों के अनुसार, xa, yb, (x,y) z (जहाँ (x,y) x एवं y से निर्मित समष्टि को सूचित करता है) के अथवा इनमे से किसी एक अथवा दो के समतुल्य हो। जब मैं वाह्य सम्बन्धों के सिद्धान्त का दृढ़ कथन करता हूँ तो मेरा आशय केवल यही है: और जब ब्रैडले आन्तरिक सम्बन्धों के सिद्धान्त का दृढ़ कथन करते हैं तब स्पष्टतः वे अंशतः इसी आशय को अस्वीकृत करते हैं।

मैं "एकताओं" अथवा "सम्मिश्रों" के स्थान पर "तथ्यों" का कथन करना अधिक

समीचीन समझता हूँ। यह समझना आवश्यक है कि एक ऐसे वाक्य में किसी भी स्थान पर "तथ्य" शब्द सार्थक नहीं हो सकता जिसमें "सरल" शब्द सार्थकतः प्रयुक्त हो सके, और न तथ्य उस स्थान पर प्रयुक्त हो सकता है जहाँ सरल प्रयुक्त हो सके। हमें यह नहीं कहना चाहिये कि "तथ्य सरल नहीं होते।" हम यह कह सकते है कि "यदि हम सार्थकता का परिरक्षण करना चाहते हैं, तो सरल के लिये प्रयुक्त प्रतीक के स्थान पर तथ्य के लिये प्रयुक्त प्रतीक प्रतिस्थापित नहीं किया जाना चाहिये।" किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि उक्त वाक्य में "के लिये" शब्द का दो अवसरों पर प्रयोग विभिन्न अर्थ रखता है। यदि हमें रूपों से सम्बन्धित त्रुटियों से सुरक्षित रखने वाली भाषा की आवश्यकता है, तो एक तथ्य को सूचित करने वाला प्रतीक एक तर्क-वाक्य होना चाहिये, न कि एक शब्द अथवा अक्षर। तथ्यों का स्वीकरण अथवा अस्वीकरण किया जा सकता है, परन्तु उनका नामकरण नहीं किया जा सकता। (जब मैं कहता हूँ कि 'तथ्यों का नामकरण नहीं किया जा सकता," तब यह कथन वस्तुतः निरर्थक है। निरर्थकता से बच कर हम यह कह सकते है कि "एक तथ्य के लिये प्रयुक्त प्रतीक एक नाम नहीं होता") इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ किस प्रकार विभिन्न रूपो के लिये एक विभिन्न सम्बन्ध होता है। एक तथ्य को सूचित करने का साधन है उसका प्रकथन करना; एक सरल को सूचित करने का साधन है उसका नामकरण करना। स्पष्टतः नामकरण करना प्रकथन करने से भिन्न होता है, तथा जहाँ अधिक उन्नत रूपों का उल्लेख होता है वहाँ ऐसी ही भिन्नताओं का अस्तित्व रहता है, यद्यपि भाषा के पास उक्त भिन्नताओ को अभिव्यक्त करने का कोई साधन नहीं है।

ब्रेडले द्वारा किये गए मेरे अभिमत के परीक्षण में अन्य कई प्रश्न है जिनका उत्तर देना आवश्यक है। पर चूँकि मेरा वर्तमान उद्देश्य विवादात्मक न होकर व्याख्यात्मक है, इसलिये मैं उन प्रश्नों को छोड़ दूँगा, तथा आशा करता हूँ कि सम्बन्धों एवं सम्मिश्रों के प्रश्न पर अब तक मैं इतना यथेष्ट कह चुका हूँ कि मेरे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त का स्पष्टीकरण हो गया है। रूपो के सिद्धान्त के सम्बन्ध में मैं इतना और कहूँगा कि अधिकांश दार्शनिक जब-तब उसको मान कर चलते है, और विरले ही उसका निषेध करते हैं; परन्तु सभी (जहाँ तक मुझे विदित है) उसका यथातथ निरूपण करने अथवा उससे वे परिणाम निकालने की आनाकानी करते हैं जो उनके दर्शन- तंत्रों के लिये असुविधाजनक हैं।

अब मैं ब्रेडले की कतिपय आलोचनाओं पर आता हूँ (वही, पृ० २८० और आगे)। वे कहते हैं :

"रसल की मुख्य स्थिति मेरे लिये अगम्य रही है। मैं एक ओर तो यह सोचने को प्रवृत्त होता हूँ कि वे एक ऐसे दृढ़ अनेकवाद की प्रतिरक्षा करते है जिसे सरल पदों एवं बाह्य सम्बन्धों से परे कुछ भी मान्य नहीं है। दूसरी ओर रसल ऐसे विचारों का बलपूर्वक कथन एव निरन्तर प्रयोग करते हुए प्रतीत होते है जिनका उक्त अनेकवाद द्वारा अवश्य ही प्रत्याख्यान किया जाना चाहिये। वे निरन्तर ऐसी एकताओं पर अवलम्बित रहते है जो सम्मिश्र है तथा जिनका पदों एवं सम्बन्धों में विश्लेषण नहीं किया जा सकता। मेरे विचार से इन दो स्थितियों का सामं-

जस्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि मेरी समझ में दूसरी पहली का स्पष्ट व्याघात करती है।"

वाह्य सम्बन्धों के सम्बन्ध में मेरा अभिमत वही है जिसका मैंने अभी कथन किया है, न कि वह जिसे प्रतिपक्षियों ने मुझ पर थोपा है। किन्तु जहाँ तक एकताओं का प्रश्न है, वह अधिक जटिल है। यह एक ऐसा विषय है जिसका निरूपण करने में भाषा स्वरूपतः असमर्थ है। अतः मुझे पाठक से निवेदन करना पड़ेगा कि यदि जो मैं कहता हूँ वह मेरे आशय के यथातथ अनुरूप न हो, तो वह मुझे क्षमा कर देगा, और स्पष्ट अभिव्यक्ति में अपरिहार्य भाषाजन्य बाधाओं के अनन्तर भी मेरे आशय को समझने का प्रयत्न करेगा।

प्रारभ में मैं यह कहूँगा कि मैं सम्मिश्रों अथवा एकताओं में उसी अर्थ में विश्वास नही करता जिस अर्थ में सरल होते है। जब मैंने "दी प्रिंसिपल्स ऑफ मेथेमेटिक्स" को लिखा था तब मेरी ऐसी धारणा अवश्य थी, किन्तु रूपों के सिद्धान्त के कारण मैंने तब से उक्त मत का परित्याग कर दिया है। मोटे रूप में मै सरलों और सम्मिश्रों को सदा भिन्न-भिन्न रूपों के मानता हूँ। तात्पर्य यह है कि "सरल होते हैं" तथा "सम्मिश्र होते है" कथनों में "होते है" शब्दों का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थो में होता है। यदि मैं "होते है" शब्दों का उसी अर्थ से प्रयोग करता हूँ जो अर्थ उनका "सरल होते है" कथन में है, तो "सम्मिश्र नहीं होते हैं" शब्दों का आकार न तो सत्य है और न असत्य है, वरन् निरर्थक है। इससे प्रदर्शित होता है कि सम्मिश्रों के सम्बन्ध में जो मै कहना चाहता हूँ उसे साधारण भाषा में स्पष्टतः कहना कितना कठिन है। जो मै कहना चाहता हूँ उसे गणितीय तर्क-शास्त्र की भाषा में कहना अधिक सुगम है, परन्तु जब मैं अपने आशय का कथन करता हूँ तब उसे समझने के लिये लोगों को प्रेरित करना कठिन हो जाता है।

जब मैं "सरलों" का कथन करता हूँ तब मेरे लिये यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मैं किसी ऐसी सत्ता का कथन करता हूँ जिसका उस रूप में अनुभव नहीं किया जाता, वरन् जो विश्लेषण की सीमा के रूप में केवल अनुमान द्वारा ज्ञात की जाती है। सम्भव है कि अधिक तार्किक कौशल से उक्त सत्ताओं को मानने की आवश्यकता का परिहार किया जा सके। एक तार्किक भाषा त्रुटि उत्पन्न नही करेगी यदि उसके सभी सरल प्रतीक (अर्थात् वे प्रतीक जिनके किसी अंश में प्रतीक अथवा कोई सार्थक संरचना नहीं होती) किसी एक ही रूप के विषयों को सूचित करें, फिर वे विषय चाहे सरल न भी हों। ऐसी भाषा में एकमात्र दोष यही है कि जिन विषयों को वह अपने सरल प्रतीकों द्वारा सूचित करती है उनसे अधिक सरल विषयों को सूचित करने में वह असमर्थ होती है। किन्तु मैं स्वीकार करता हूँ कि मुझे यह स्पष्ट प्रतीत होता है (जैसा कि लाईबनीज को था) कि एक सम्मिश्र सरलों से निर्मित होना चाहिये, यद्यपि उसके संघटकों की संख्या अनन्त हो सकती है। यह स्पष्ट है कि द्रव्य के पुरातन प्रत्यय के तार्किक प्रयोग (अर्थात् वे प्रयोग जिनमें कालिक अवधि निहित नहीं होती) यदि प्रयोजित किये जा सकते हैं, तो केवल सरलोंपर ही किये जा सकते हैं; अन्य रूपों के विषय उस प्रकार का अस्तित्व नही रखते जैसा हम द्रव्य से सम्बद्ध करते है। प्रतीकात्मक दृष्टि से एक द्रव्य का सार यही है कि उसका नामकरण किया जा सकता है—पुरातन भाषा में यह कहेगे

कि वह एक तर्क-वाक्य में उद्देश्य के रूप में अथवा किसी एक सम्बन्ध के एक पद के रूप में घटित हो सकता है, अन्यथा कभी नही। यदि जिसे हम सरल समझते हैं वह वस्तुतः सम्मिश्र होता है तो उसका नामकरण करके हम कठिनाई में पड सकते है, क्योंकि उचित यह है कि हम उसका स्वीकरण करें। उदाहरणार्थ, यदि प्लेटो अरस्तू से प्रेम करता है, तो "सुकरात के प्रति प्लेटो का प्रेम" कोई एक सत्ता नही होता, वरन् केवल यह तथ्य होता है कि प्लेटो सुकरात से प्रेम करता है। और उसका 'एक तथ्य' के रूप में कथन करके ही हम उसे अनधिकृत रूप से अधिक द्रव्यात्मक और अधिक एकात्मक बना देते है।

गुण और सम्बन्ध यद्यपि विश्लेषण के प्रभाव अवश्य नहीं है तथापि वे द्रव्यों से इस बात में भिन्न हैं कि उनके द्वारा एक संरचना का संकेत होता है, तथा ऐसा कोई सार्थक प्रतीक नहीं हो सकता जो उनका पृथकत्व में संकेत करे। वे सब तर्क-वाक्य जिनमें एक गुण अथवा सम्बन्ध उद्देश्य का आभास देता है तभी सार्थक होते हैं जब उन्हें एक ऐसा आकार प्रदान किया जा सके जिसमें गुण गुणीकृत किया जाता है अथवा सम्बन्ध सम्बन्धित करता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो ऐसे सार्थक तर्क-वाक्य सम्भव हो जायेंगे जिनमें एक गुण अथवा एक सम्बन्ध एक द्रव्य का स्थान ग्रहण कर लेगा, जो रूपों के सिद्धान्त के विपरीत होगा, तथा व्याघातों की उत्पत्ति करेगा। इस प्रकार 'पीला' के उपयुक्त प्रतीक (उदाहरण के लिये यह मान लिया जाता है यह एक गुण है), एकाकी शब्द 'पीला' नहीं होता, वरन् तर्कवाक्यात्मक फलन 'क पीला है' है, जहाँ प्रतीक की सरचना उस स्थान को प्रदर्शित करती है जहाँ 'पीला' शब्द सार्थक बनने के लिये स्थित रहना चाहिये। इसी प्रकार 'पूर्वगामी' सम्बन्ध इस एक शब्द से सूचित नही होता, वरन् 'क ख का पूर्वगामी है' प्रतीक से सूचित होता है, जो उक्त शब्द के सार्थक प्रयोग को प्रदर्शित करता है। (यहाँ मान्यता यह है कि जब हम स्वयं गुण अथवा सम्बन्ध का कथन करते है तब क और ख के लिये कोई मूल्य नियत नही किये जाते हैं।)

सरलतम प्रकार के तथ्य के लिये प्रतीक 'क पीला है" अथवा 'क ख का पूर्वगामी है" के आकार का ही होगा, अन्तर केवल इतना ही है कि 'क' और 'ख' अब अनिर्धारित परिवर्त्य नहीं रहेंगे, वरन् नाम होंगे।

जिस शुद्ध तार्किक भाषा का मैं वर्णन करने का प्रयास कर रहा हूँ उसके वास्तविक सृजन के लिये इस तथ्य के अतिरिक्त कि हम सरलों का यथातथ अनुभव नहीं कर पाते, एक अन्य बाधा भी है। यह बाधा है अस्पष्टता। हमारे सभी शब्द अस्पष्टता द्वारा न्यूनाधिक दूषित होते हैं, और अस्पष्टता से मेरा तात्पर्य यह है कि यह सदा स्पष्ट नहीं होता कि वे एक प्रदत्त विषय पर लागू होते है अथवा नही। शब्द स्वरूपतः न्यूनाधिक सामान्य होते है तथा किसी एकाकी विशेष पर लागू नहीं होते, परन्तु उससे वे अस्पष्ट नहीं बनेंगे यदि जिन विशेषों पर वे लागू होते हैं वे एक निश्चित समूह हों। परन्तु व्यवहार में ऐसा कभी नही होता। पर यह एक ऐसा दोष है जिसका कल्पना में निवारण करना सुगम है, यद्यपि वास्तव में ऐसा करना कितना ही कठिन क्यों न हो।

एक आदर्श तार्किक भाषा (जो निश्चय ही दैनिक जीवन के लिए पूर्णतः अनुपयोगी रहेगी) के सम्बन्ध में उपर्युक्त विवेचन का द्विविध उद्देश्य है : प्रथमतः, भाषा के स्वरूप से जगत् के स्वरूप के सम्बन्ध में अनुमानों को प्रतिबन्धित करना, जो भाषा के तार्किक दोषों पर आधारित होने के कारण दोषपूर्ण होते हैं; द्वितीयतः, व्याघातों के निवारणार्थ भाषा से तर्क-शास्त्र जो अपेक्षा रखता है उसकी छान-बीन के आधार पर यह निर्देश करना कि हम औचित्य से जगत् की संरचना किस प्रकार मान सकते है । यदि मैं सही हूँ, तो तर्क-शास्त्र में ऐसा कोई तत्त्व नही है जो हमें एकवाद और अनेकवाद, अथवा अन्तिम सम्बन्धात्मक तथ्यों के अस्तित्व को मानने वाले और न मानने वाले मत की पारस्परिक सत्यता का निर्णय करने में सहायता दे सके। अनेकवाद एवं सम्बन्धों के पक्ष में स्वयं मेरा निर्णय आनुभविक आधार पर इस निश्चय के पश्चात् लिया गया है कि तद्विरोधी प्रागनुभविक युक्तियाँ दोषपूर्ण हैं । किन्तु मै यह नहीं सोचता कि इन युक्तियों का युक्तियुक्त खण्डन तार्किक रूपों के पूर्ण निरूपण के विना किया जा सकता है, जिसका उपर्युक्त विवरण एक रूप-रेखा मात्र है ।

अब मैं पद्धति के प्रश्न पर आता हूँ जिसे मैं बहुत महत्वपूर्ण मानता हूँ । दर्शन-शास्त्र के प्रदत्त हम किसको मानें ? हम किस विषय को सत्य होने की अधिकतम सम्भावना से युक्त मानेंगे, तथा अन्य प्रमाणों के प्रतिकूल होने की दशा में किस विषय को अस्वीकार के योग्य मानेगे ? मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि अब तक प्रतिपादित किसी भी दर्शन की तुलना में विज्ञान में मुख्यतः सत्यता की अधिक सम्भावना है (निश्चय ही, मैं यहाँ अपने दर्शन को अपवाद नहीं समझता) । विज्ञान में अनेक ऐसे विषय है जिन पर लोगों की सहमति है; दर्शन में ऐसे कोई विषय नहीं हैं । इसलिए, यद्यपि विज्ञान में प्रत्येक तर्कवाक्य असत्य हो सकता है, और यह लगभग निश्चित है कि कुछ तर्क-वाक्य असत्य हैं, तथापि हमारी बुद्धिमत्ता इसी में है कि हम अपने दर्शन का निर्माण विज्ञान के आधार पर करें, क्योंकि विज्ञान की तुलना में दर्शन में त्रुटि का जोखिम अवश्य ही अधिक है । यदि हम दर्शन में निश्चयात्मकता की आशा कर सकते तो बात कुछ अन्यथा होती, परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ, ऐसी आशा एक असम्भव कल्पना होगी ।

निश्चय ही जिन दार्शनिकों के सिद्धान्त स्पष्टतः विज्ञान के प्रतिकूल जाते है, वे सदा विज्ञान की व्याख्या इस प्रकार से करने का दावा करते हैं कि वह अपने स्तर पर सत्यता की उस गौण मात्रा सहित सत्य बना रहे जिससे बिचारे वैज्ञानिक को संतुष्ट रहना चाहिये । जो इस प्रकार की स्थिति का समर्थन करते हैं वे, मेरी समझ में, विस्तार-पूर्वक यह बताने को बाध्य हैं कि उक्त व्याख्या किस प्रकार की जानी चाहिये । मुझे विश्वास है कि अनेक उदाहरणों में ऐसी व्याख्या सर्वथा असम्भव होगी । उदाहरणार्थ, मैं यह विश्वास नहीं करता कि सम्बन्धों की सत्ता (ऊपर की गई व्याख्या के अर्थ में) में अविश्वास करने वाले दार्शनिक सम्भवतः विज्ञान के उन अनेक अंशों की व्याख्या कर सकते है जो असममित सम्बन्धों का प्रयोग करते है । यदि सम्बन्धों के विरुद्ध (उदाहरणार्थ) ब्रेडले द्वारा उठाई गई आपत्तियों का कोई उपाय मुझे न भी सूझे, तो भी मैं उनका कोई उत्तर सम्भव नहीं है यह मानने की

अपेक्षा उनका कोई न कोई उत्तर सम्भव है यह मानना अधिक सम्भावना-पूर्ण मानूँगा, क्योंकि मेरे विचार में विज्ञान की ऐसी मूलभूत असत्यता की तुलना में एक अति सूक्ष्म एवं अमूर्त युक्ति में त्रुटि होने की सम्भावना अधिक है। यह स्वीकार करने पर भी कि जिन वस्तुओं के ज्ञान में हमें विश्वास है वे सभी सन्देहपूर्ण हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शन-शास्त्र में जिस ज्ञान का हमें विश्वास है वह विज्ञान के विवरणों से अधिक संदिग्ध होता है, यद्यपि वह कदाचित् विज्ञान के अति अनियंत्रित सामान्यीकरणों से अधिक संदिग्ध नहीं होता।

व्याख्या का प्रश्न लगभग प्रत्येक दर्शन के लिये महत्वपूर्ण होता है, तथा मुझमें यह अस्वीकार करने की प्रवृत्ति नहीं है कि कई वैज्ञानिक निष्कर्षों को एक सामंजस्यपूर्ण दर्शन में संगठित करने से पूर्व उनकी व्याख्या करना आवश्यक है। "संरचना बनाम अनुमान" का सूत्र भी स्वयं एक व्याख्या का सूत्र है। पर मेरा विचार है कि किसी भी वैध व्याख्या द्वारा विवरणों में परिवर्तन नहीं आना चाहिये, यद्यपि वह मूलभूत विचारों को एक नवीन अर्थ प्रदान कर सकती है। व्यवहार की दृष्टि से इसका तात्पर्य यह है कि 'रचना' का परिरक्षण करना अनिवार्य है। और इसकी एक कसौटी यह है कि किसी विज्ञान के सभी तर्कवाक्य बने रहने चाहिये, यद्यपि उनके पदों के नवीन अर्थ लगाये जा सकते हैं। एक अदार्शनिक स्तर का उदाहरण प्रकाश के भौतिक सिद्धान्त का हमारे रंग के प्रत्यक्षीकरण से सम्बन्ध का लिया जा सकता है। यह सिद्धान्त विभिन्न दृष्ट रंगों के अनुरूप विभिन्न भौतिक घटनाओं की व्यवस्था करता है, तथा इस प्रकार भौतिक वर्ण-क्रम की ठीक वैसी ही रचना निर्धारित करता है जैसी हम इन्द्र-धनुप का प्रत्यक्षीकरण करते समय देखे गये वर्ण-क्रम मे पाते हैं। यदि रचना का परिरक्षण नहीं हो तो हम किसी व्याख्या को वैध नही मान सकते। और एक एकवादी तर्कशास्त्र के द्वारा ठीक इस रचना ही का विनाश किया जाता है।

निश्चय ही मेरा यह सुझाव देने का तात्पर्य नहीं है कि विज्ञान के किसी भी क्षेत्र में वर्तमान समय में निरीक्षण के द्वारा जो रचना प्रकट की गई है वह ठीक वही है जो वास्तव में अस्तित्व रखती है। इसके विपरीत यह उच्चतम अंशों में सम्भाव्य है कि वास्तविक रचना निरीक्षित रचना से अधिक सूक्ष्म हो। यह बात मनोवैज्ञानिक सामग्री पर उतनी ही लागू होती है जितनी भौतिक सामग्री पर यह इस तथ्य पर आधारित है कि जहाँ हम एक भेद (यथा दो रंगों के मध्य) का प्रत्यक्षीकरण करते हैं वहाँ एक भेद होता है, किन्तु जहाँ हम एक भेद का प्रत्यक्षीकरण नही करते वहाँ यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि एक भेद नहीं है। अत: सभी व्याख्याओं में हमें यह माँग करने का अधिकार है कि निरीक्षित भेदों का परिरक्षण हो तथा अनिरीक्षित भेदों के लिए व्यवस्था रक्खी जाय, यद्यपि निरीक्षित भेदों से अनुमान द्वारा सम्बन्धित अनिरीक्षित भेदों के अतिरिक्त हम पहले से यह नहीं बता सकते कि अनिरीक्षित भेद किस प्रकार के होंगे।

विज्ञान में रचना ही अध्ययन का प्रमुख विषय होती है। सापेक्षता के सिद्धान्त का अधिकांश महत्व इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि उसने त्रिविमितीय दिक् और एक विमितीय काल नामक दो समुच्चयों के स्थान पर एक ही चतुर्विमितीय समुच्चय (दिक्-काल) की

प्रतिस्थापना की है। यह एक रचना-सम्बन्धी परिवर्तन है, अतएव इसके दूरगामी परिणाम होते हैं, परन्तु जिस परिवर्तन में रचना-सम्बन्धी परिवर्तन का समावेश नहीं होता उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गणितीय परिभाषा एवं रचना का अध्ययन ("सम्बन्ध-संख्याओं" के नाम से) "प्रिंसिपिया मैथेमेटिका" के चतुर्थ भाग के अन्तर्गत आता है।

मेरी संधारणा के अनुसार दर्शन-शास्त्र का कार्य-व्यापार प्रमुखतः तार्किक विश्लेषण है, जिसके पश्चात् तार्किक संश्लेषण आना चाहिये। दर्शन-शास्त्र किसी भी विशिष्ट विज्ञान की तुलना में विभिन्न विज्ञानों के सम्बन्धों एवं उनके सम्भाव्य पारस्परिक द्वन्द्वों से अधिक सम्बन्धित होता है; विशेषतः वह भौतिकी एवं मनोविज्ञान अथवा मनोविज्ञान एवं तर्कशास्त्र के पारस्परिक द्वन्द्वों को सहन नहीं कर सकता। दर्शन-शास्त्र को व्यापक होना चाहिये, तथा उसमें जगत् के सम्बन्ध में ऐसी परिकल्पनाओं को निर्दिष्ट करने का साहस होना चाहिये जिनकी परिपुष्टि अथवा खण्डन करने की स्थिति में विज्ञान अब तक नहीं है। किन्तु इनको सदा परिकल्पनाओं के रूप में ही प्रस्तुत किया जाना चाहिये, न कि (जैसा प्रायः किया जाता है) धर्म के मताग्रहों की भाँति अटल सत्यों के रूप में। यद्यपि व्यापक रचना दर्शन-शास्त्र के कार्य-व्यापार का एक भाग है, तथापि मेरी धारणा यह नहीं है कि वह सबसे महत्वपूर्ण भाग है। मेरे विचार से उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग ऐसी संधारणाओं की आलोचना एवं स्पष्टीकरण करने में निहित है, जिनको मूलभूत समझ कर बिना आलोचना के स्वीकार कर लेने की आशंका रहती है। उदाहरण के रूप में मैं निम्नलिखित का उल्लेख करता हूँ: मनस्, जड़ द्रव्य, चैतन्य, ज्ञान, अनुभव, कारणता, संकल्प, काल। मेरा विश्वास है कि ये सभी संधारणाएँ अनिश्चित एवं अनुमानित हैं, मूलतः अस्पष्टता से दूषित हैं, किसी भी निश्चित विज्ञान में समाविष्ट होने के अयोग्य है। घटनाओं के भौतिक समुच्चयों मे ऐसी तार्किक संरचनाएँ निर्मित की जा सकती हैं जिनमें उपर्युक्त सामान्य संधारणाओं के यथेष्ट समरूप गुण हो सकते है, जिनके आधार पर उनके प्रचलन की व्याख्या की जा सके, किन्तु जिनमें यथेष्ट असमान गुण भी हो सकते हैं और फलतः उपर्युक्त संधारणाओं को मूलभूत मान लेने के कारण बहुत-सी त्रुटियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

मैं जगत् की सम्भाव्य रचना की निम्नलिखित रूप-रेखा निर्दिष्ट करता हूँ; यह एक रूप-रेखा से अधिक कुछ भी नहीं है, तथा केवल सम्भावना के रूप में ही प्रस्तुत की जाती है।

जगत् अनेक सत्ताओं से निर्मित है जो संख्या में कदाचित् परिमित, कदाचित् अपरिमित हैं और एक-दूसरी से विभिन्न सम्बन्ध रखती हैं, तथा कदाचित् विभिन्न गुणों से युक्त हैं। इन सत्ताओं में से प्रत्येक को एक "घटना" कहा जा सकता है; पुरातन भौतिकी के दृष्टिकोण से एक घटना एक लघु परिमित काल एवं एक लघु परिमित परिमाण के दिक् में स्थित रहती है, परन्तु चूँकि हम एक पुरातन धारणा के दिक् एवं एक पुरातन धारणा के काल को मान्यता नहीं देते, इसलिए उक्त कथन को उसके अंकित-मूल्य के अनुसार स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्येक घटना अन्य निश्चित संख्यक घटनाओं से एक सम्बन्ध रखती

है जिसे "सह-उपस्थिति" कहा जा सकता है; भौतिकी दृष्टि से "सह-उपस्थित" घटनाओं का एक समूह दिक्-काल के एक लघु क्षेत्र में स्थित रहता है। सह-उपस्थित घटनाओं के समूह का एक उदाहरण एक काल में किसी व्यक्ति के मनस् की अन्तर्वस्तुएँ है—अर्थात् उसकी समस्त संवेदनाएँ, प्रतिमाएँ, विचार आदि, जो कालिक सह-अस्तित्व रखते हैं। उसका दृष्टि-क्षेत्र एक अर्थ में दिक्कीय विस्तार रखता है, परन्तु उसे भौतिक दिक्-काल के विस्तार से सम्भ्रान्त नही करना चाहिये; उसके दृष्टि-क्षेत्र का प्रत्येक अंश प्रत्येक अन्य अंश से एव "उनके मनस् की तत्कालीन शेष अन्तर्वस्तुओं" से सह-उपस्थिति रखता है, और सह-उपस्थित घटनाओं का एक समुदाय दिक्-काल के एक लघुतम क्षेत्र में स्थित रहता है। ऐसे समुदाय न केवल मस्तिष्कों मे वरन् सभी स्थानो में विद्यमान रहते हैं। यदि एक कैमरा स्थापित किया जा सके तो, "रिक्त आकाश" मे किसी भी बिन्दु पर अनेक तारो का फोटोग्राफ लिया जा सकता है; हमारा विश्वास है कि प्रकाश अपने उद्गम-स्थान और हमारे नेत्रों के मध्य में स्थित क्षेत्रों में से यात्रा करता है, अतएव इन क्षेत्रों में कुछ न कुछ घटित होता रहता है। यदि अनेक विभिन्न उद्गम-स्थानों से प्रकाश दिक्-काल के किसी लघुतम क्षेत्र तक पहुँचता है तो इन उद्गम-स्थानों में से प्रत्येक के अनुरूप कम से कम एक घटना इस लघुतम प्रदेश में स्थित रहती है, तथा ये सभी घटनाएँ सह-उपस्थिति रखती है।

सह-उपस्थित घटनाओं के एक समूह को हम एक "लघुतम क्षेत्र" के रूप में परिभाषित कर सकते है। हम देखते है कि लघुतम क्षेत्र एक चतुर्विमितीय समुच्चय का निर्माण करते हैं, तथा अल्प तार्किक कौशल द्वारा उनसे भौतिकी द्वारा अपेक्षित दिक्-काल के समुच्चय की रचना कर सकते है। हम यह भी देखते है कि अनेक विभिन्न लघुतम क्षेत्रों में प्रत्येक मे से हम प्राय: एक-एक घटना-समूह को उपलब्ध कर सकते हैं जो निकटवर्ती क्षेत्रों से उपलब्ध होने की दशा में गहरी समानता रखते है, तथा अन्वेषण-योग्य नियमों के अनुसार क्षेत्र-क्षेत्र मे विभिन्न होते हैं। ये नियम प्रकाश, ध्वनि आदि के संचरण के नियम होते हैं। हमें यह भी विदित होता है कि दिक्-काल-गत कुछ क्षेत्रों में सर्वथा विलक्षण गुण होते है; ये वे क्षेत्र है जिन्हे 'जड़द्रव्य' से युक्त कहा जाता है। भौतिकी के नियमों के अनुसार इन क्षेत्रों को ऐसे परिपथों अथवा नलिकाओं में एकत्रित किया जा सकता है जो दिक्-काल की अन्य तीन विमितियों की अपेक्षा एक विमिति में अधिक विस्तारित होते है। ऐसी नलिका जड़-द्रव्य के एक खण्ड के "इतिहास" को निर्मित करती है; स्वयं जड़-द्रव्य के खण्ड की दृष्टि से जिस विमिति में वह अधिकतम विस्तारित होता है उसे "काल" कहा जा सकता है, किन्तु वह केवल उक्त जड़द्रव्य-खण्ड का व्यक्तिगत काल होता है, क्योंकि वह अन्य जड़द्रव्य-खण्ड जिस विमिति में अधिकतम विस्तारित है उसके ठीक-ठीक अनुरूप नहीं होता। दिक्-काल एक जड़-द्रव्य-खण्ड के अन्तर्गत ही विलक्षण नहीं होता, वरन् वह अपने पड़ोसी क्षेत्र में भी विलक्षण होता है, तथा ज्यों-ज्यों दिक्-कालिक दूरी अधिक होती जाती है त्यों-त्यों वह कम विलक्षण होता जाता है: इस विलक्षणता का नियम गुरुत्वाकर्षण का नियम है।

कुछ सीमा तक सभी प्रकार के जड़ द्रव्य, किन्तु विशेषतः कुछ प्रकार के जड़-द्रव्य

(अर्थात् तांत्रिकोतक) "आदतों" के निर्माण की प्रवृत्ति रखते है, अर्थात् वे एक प्रदत्त वातावरण में अपनी रचना को इस रूप में परिवर्तित कर लेते हैं कि जब भविष्य में वे एक समरूप वातावरण में होते हैं तब वे एक नवीन ढंग से प्रतिक्रिया करते हैं, परन्तु यदि समरूप वातावरणों की अवसर पुनरावृत्ति होती है तो अन्त में प्रतिक्रिया प्रथम अवसर पर की गई प्रतिक्रिया से भिन्न रहते हुए भी लगभग एक रूप हो जाती है। (जब मैं वातावरण के साथ एक जड़ द्रव्य की प्रतिक्रिया का कथन करता हूँ, तब मैं उसे निर्मित करने वाली सहउपस्थित घटनाओं के समूह के संघटन एवं दिक्-काल गत उस परिपथ के स्वरूप का उल्लेख करना चाहता हूँ जिसे साधारणतः हमें उसकी गति कहना चाहिये; इनको "वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया" उस सीमा तक कहा जाता है जिस सीमा तक उनको वातावरण के लक्षणों से सहसंबंधित करने वाले नियम उपलब्ध होते हैं।) आदत के आधार पर "मनस्" कही जाने वाली सत्ता की विलक्षणताओं की संरचना की जा सकती है; एक मनस् दिक्-काल के उस क्षेत्र की सहउपस्थित घटनाओं के समूहों का एक परिपथ है जहाँ ऐसा जड़-द्रव्य विद्यमान हो जिसमें आदतें निर्मित करने की विशेष प्रवृत्ति होती है। जितनी अधिक मात्रा में उक्त प्रवृत्ति विद्यमान होती है, मनस् उतना ही अधिक जटिल एवं संगठित हो जाता है। इस प्रकार एक मनस् और एक मस्तिष्क वस्तुतः भिन्न नहीं होते अपितु जब हम एक मनस् का प्रकथन करते हैं तब मुख्यतः हम सम्बन्धित क्षेत्र में सहउपस्थित घटनाओं के समूह, तथा उन अन्य घटनाओं से उनके विभिन्न संबंधों का उल्लेख करते हैं जो विचाराधीन दिक्-कालिक नलिका के इतिहास की अन्य अवधियों की अंश होती है, और जब हम एक मस्तिष्क का प्रकथन करते हैं तब हम सहउपस्थित घटनाओं के समूह को उसकी सम्पूर्णता में लेते है, तथा सहउपस्थित घटनाओं के अन्य सम्पूर्ण समूहों से उसके बाह्य सम्बन्धों पर विचार करते हैं; एक शब्द में, हम उक्त नलिका के आकार पर विचार करते है, न कि उन घटनाओं पर जिनसे उसका प्रत्येक अनुप्रस्थ-विभाग निर्मित होता है।

हाँ, उपर्युक्त संक्षिप्त परिकल्पना को वैज्ञानिक तथ्यों से पूर्णतः अनुकूल बनाने के लिये कई रूपों में प्रवर्धित एवं परिष्कृत करना पड़ेगा। उसको एक पूर्ण सिद्धांत के रूप में नहीं, अपितु केवल इस प्रकार के विचार के एक सुझाव के रूप में प्रस्तुत किया गया है जो सत्य हो सकता है। हाँ, अन्य ऐसी परिकल्पनाओं को सरलता से कल्पित किया जा सकता है, जो सत्य हो सकती है, यथा यह परिकल्पना कि मेरे इतिहास को निर्मित करने वाले घटना-समूहों की श्रेणी से बाहर किसी वस्तु का अस्तित्व नही है। मैं यह नहीं मानता कि किसी एक-मात्र सम्भाव्य परिकल्पना को उपलब्ध करने की कोई पद्धति हो सकती है, अतएव मुझे तत्त्वमीमांसा में निश्चितता अप्राप्य प्रतीत होती है। इस दृष्टि से मुझे स्वीकार करना पड़ता है कि अन्य अनेक दर्शन उत्कृष्ट स्थिति में हैं, क्योंकि अपने पारस्परिक मतभेदों के अनन्तर भी उनमें से प्रत्येक अपने-अपने अनन्य सत्य की निश्चितता को प्राप्त करता है।

सामान्य ज्ञान का पक्ष

ज्यॉर्ज एडवर्ड मूर

जो कुछ आगे कहा जायगा, उसमें मैंने एक एक करके केवल उन कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण बातों के कथन का प्रयास किया है जिनमें मेरी दार्शनिक स्थिति दूसरे कुछ दार्शनिकों द्वारा अपनाई गई स्थिति से भिन्न है। यह हो सकता है कि जिन बातों के कथन करने का मुझे अवकाश मिला है, वे वास्तव में अत्यधिक महत्वपूर्ण न हों, और संभवतया उनमें से कुछ बातें ऐसी हों जिनके बारे में किसी दार्शनिक का मेरे से कभी कोई वास्तविक भेद न रहा हो। परन्तु, मेरा ऐसा विश्वास है कि (कही जाने वाली) प्रत्येक एक ऐसी बात है जिसके बारे में बहुतों का मुझसे वास्तविक भेद रहा है; यद्यपि (अधिकांशतया) प्रत्येक एक ऐसी बात भी है जिसके बारे में बहुतों का मुझसे सामंजस्य रहा है।

१. प्रथम बात ऐसी है जिसके अन्तर्गत बहुत सी दूसरी बातें गर्भित है। और यह बात ऐसी है जिसका, सिवाय विस्तृत रूप से कह सकने के, मैं जैसा चाहता हूँ वैसा स्पष्ट कथन नहीं कर सकता। इस बात का कथन करने के लिए जिस पद्धति का मैं उपयोग करूँगा, वह यह है। मैं [१] शीर्षक के अन्तर्गत तर्क वाक्यों की एक बड़ी सूची का कथन करके प्रारम्भ करूँगा जो प्रथम दृष्टि में ऐसे स्पष्ट सत्य प्रतीत हो सकते हैं जिनका कथन करना उचित न मालूम पड़े। वे तर्क वाक्य वास्तव में ऐसे तर्क वाक्यों का एक समूह है जिनमें से प्रत्येक की सत्यता का (मेरे स्वयं की दृष्टि में) मुझे सुनिश्चित ज्ञान है। तत्पश्चात्, मैं [२] शीर्षक के अन्तर्गत उस एक तर्क वाक्य का कथन करूँगा जो तर्क वाक्यों के वर्गों के सम्पूर्ण समूह का कथन करेगा। प्रत्येक वर्ग की परिभाषा इस प्रकार है:— वर्ग वह है जिसमें वे सब तर्क वाक्य सम्मिलित हैं जो [१] में व्यक्त तर्क वाक्यों में से किसी एक के किसी एक दृष्टि से समान है। अतः [२] एक ऐसा तर्क वाक्य है जिसका तब तक कथन नहीं किया जा सकता जब तक [१] में व्यक्त तर्क वाक्यों की सूची अथवा उसी प्रकार की कोई और सूची न दे दी गई हो। [२] स्वयं एक तर्क वाक्य है जो एक ऐसा स्पष्ट सत्य प्रतीत हो सकता है जिसका कथन उचित न मालूम पड़े। और यह भी (मेरी स्वयं की दृष्टि में) एक ऐसा तर्क वाक्य है जिसकी सत्यता का मुझे सुनिश्चित ज्ञान है। परन्तु, फिर भी मेरा विश्वास है कि यह एक ऐसा तर्क वाक्य है जिसके बारे में बहुत से दार्शनिकों का भिन्न-भिन्न कारणों से मुझ से भेद रहा है। यद्यपि उन्होंने सीधे रूप से स्वयं [२] को अस्वीकार नहीं किया है तो भी उन्होंने जो विचार अपनाये हैं वे इससे असंगत हैं। अतः मेरी पहली बात यह कही जा सकती है कि [२], अपने सब अभिप्रायों सहित,

जिनमें से कुछ को मैं स्पष्टतया व्यक्त करूँगा, सत्य है।

[१] मैं अब सत्यों की अपनी सूची से प्रारम्भ करता हूं, उनमें से प्रत्येक की सत्यता का (मेरी स्वय की दृष्टि में) मुझे सुनिश्चित ज्ञान है। इस सूचि में जिन तर्क वाक्यों का समावेश करना है वे निम्नलिखित हैं :

वर्तमान में एक जीवित मनुष्य शरीर का अस्तित्व है और यह मेरा शरीर है। इस शरीर की उत्पत्ति किसी समय में भूतकाल में हुई थी। और उस समय से अब तक लगातार इसका अस्तित्व रहा है, यद्यपि इसका अस्तित्व बिना परिवर्तनों के नहीं रहा है। उदाहरणार्थ उत्पत्ति के समय और उसके कुछ समय पश्चात् यह वर्तमान समय से बहुत छोटा था। उत्पत्ति के समय से यह या तो पृथ्वी की सतह के संसर्ग में रहा है या पृथ्वी की सतह से अधिक दूर नहीं रहा है; और इसके उत्पन्न होने के प्रत्येक क्षण से उन दूसरी वस्तुओं का भी अस्तित्व रहा है जो तीन विस्तारों में आकार और माप लिये हुए हैं (उसी परिचित अर्थ में जिसमें यह शरीर लिये हुए है), उन दूसरी वस्तुओं से यह विभिन्न दूरियों पर रहा है (उसी परिचित अर्थ में जिसमें यह अब उस अंगीठी कानस (मैंटल पीस) और उस पुस्तक कपाट (बुक–केस) इन दोनों से दूरी पर है, और अंगीठी कानस की अपेक्षा पुस्तक कपाट से अधिक दूरी पर है); इसी प्रकार की दूसरी वस्तुओं का भी अस्तित्व (प्रायः सब अवस्थाओं में) रहा है जिनके साथ इसका संसर्ग था, (उसी परिचित अर्थ में जिसमें यह मेरे दायें हाथ में पकड़ी हुई कलम से, और मेरे पहने हुए कपड़ों से सम्बन्धित है)। उन वस्तुओं में से जिन्होंने इस अर्थ में इसके वातावरण का निर्माण किया है (अर्थात् या तो इसके संसर्ग में रहे हैं या इससे कुछ दूरी पर रहे है, वह दूरी चाहे जितनी अधिक हो), इसके उत्पन्न होने के प्रत्येक क्षण से, एक बहुत बड़ी संख्या में दूसरे जीवित मनुष्य शरीर रहे हैं, उनमें से प्रत्येक इस शरीर की तरह (क) किसी समय उत्पन्न हुआ है (ख) उत्पन्न होने के पश्चात् अस्तित्व में रहा है (ग) उत्पन्न होने के प्रत्येक क्षण से या तो पृथ्वी सतह के संसर्ग में रहा है या पृथ्वी सतह से अधिक दूर नहीं रहा है; और इन शरीरों में से बहुत से पहले ही मर चुके हैं और अब अस्तित्व में नहीं रहे हैं। परन्तु पृथ्वी मेरे शरीर के उत्पन्न होने के बहुत वर्षो पूर्व भी अस्तित्व में थी; और इन बहुत वर्षो में प्रत्येक समय एक बहुत बड़ी संख्या में मनुष्य शरीर भी इस पृथ्वी पर जीवित थे, और इनमें से बहुत से शरीर मेरे उत्पन्न होने से पूर्व मर चुके थे और अपना अस्तित्व खो चुके थे। अन्त में (एक भिन्न प्रकार के तर्क वाक्यों के वर्ग की ओर यदि हम ध्यान दे) मैं एक मनुष्य हूँ, और मेरे शरीर के उत्पन्न होने के पश्चात् विभिन्न समयों में मुझे बहुत से विभिन्न अनुभव बहुत से विभिन्न प्रकार के हुए है। उदाहरणार्थ, मैंने प्रायः दोनों, अपने शरीर और दूसरी वस्तुओं का, जिनमें दूसरे मनुष्य शरीर भी समाविष्ट हैं, जिन्होंने इस वातावरण का निर्माण किया, प्रत्यक्ष किया है। मैंने इस प्रकार की वस्तुओं का केवल प्रत्यक्ष ही नहीं किया, वरन् उनके बारे में तथ्यों का भी अवलोकन किया है। उदाहरणार्थ, तथ्य जिसका मैं अवलोकन कर रहा हूँ वह यह है कि वह अंगीठी कानस वर्तमान में उस पुस्तक कपाट की अपेक्षा मेरे शरीर के अधिक निकट है; मुझे दूसरे तथ्यों की भी चेतना

रही है, जिनका मैं उस समय अवलोकन नहीं कर रहा था, उदाहरणार्थ, तथ्य जिसकी मुझे अभी चेतना है वह यह है कि मेरा शरीर कल अस्तित्व-मान था और तब भी कुछ समय के लिये उस पुस्तक कपाट की अपेक्षा उस अंगीठी कानन के अधिक निकट था, मैं भविष्य के बारे में कई आशाओं को लिये हुए हूँ, और सत्य और असत्य दोनो प्रकार के बहुत से दूसरे विश्वासों को भी; मैंने उन काल्पनिक वस्तुओं, व्यक्तियो और घटनाओं के बारे में सोचा है, जिनकी वास्तविकता मे मैंने कभी विश्वास नहीं किया; मैंने स्वप्न देखे हैं और मैंने बहुत से विभिन्न प्रकार के भावों का अनुभव किया है और जैसे मेरा शरीर एक ऐसे मनुष्य का अर्थात् मेरे स्वयं का शरीर रहा है जिसने अपने जीवनकाल में उपर्युक्त (और अन्य) प्रकार के विभिन्न अनुभव किये हैं, उसी प्रकार उन दूसरे बहुत से मनुष्य शरीर के सम्बन्ध मे है जो इस पृथ्वी तल पर रहे है, उनमें से प्रत्येक का शरीर ऐसे भिन्न मनुष्य का शरीर रहा है जिसने अपने शरीर के जीवनकाल में उपर्युक्त (और अन्य) विभिन्न प्रकार के बहुत से विभिन्न अनुभव किये हैं।

[२] मैं अब एक स्पष्ट सत्य को व्यक्त करता हूँ जिसका कथन, जैसा कि दृष्टिगोचर होगा, बिना [१] में दिये गये स्पष्ट सत्यों की सूची के नहीं किया जा सकता था। मेरी दृष्टि मे यह स्पष्ट सत्य भी ऐसा है जिसकी सत्-ता का मुझे सुनिश्चित ज्ञान है, और यह निम्न लिखित है:

बहुत अधिक (मैं 'सब' शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ) मनुष्यो के बारे में जो एक वर्ग मे समाविष्ट है (जिसमें मैं भी सम्मिलित हूँ) (उस वर्ग की परिभाषा निम्न प्रकार से प्रस्तुत की जा सकती है: मनुष्यों के वर्ग से अभिप्राय है वे मनुष्य जिनके मनुष्य शरीर है, जो उत्पन्न हुए थे और पृथ्वी पर कुछ समय के लिये जीवित रहे और जिन्होने उन शरीरो के जीवन काल में [१] में व्यक्त प्रकारों के बहुत से विभिन्न अनुभव प्राप्त किये है), यह सत्य है कि प्रत्येक ने अपने जीवन काल में अपने आप या अपने शरीर के बारे में और [१] में तर्क वाक्यो के लिखने के समयों से पूर्व किसी समय के बारे में बहुधा ऐसे एक तर्क वाक्य का ज्ञान प्राप्त किया है, जिसकी सगति [१] में व्यक्त प्रत्येक तर्क वाक्य से है। वह ज्ञान इस अर्थ में है कि इसका कथन अपने आप या अपने शरीर के बारे में और [१] की अपेक्षा पूर्व समय के बारे मे (अर्थात् प्रत्येक दशा में वह समय जब उसने इसे जाना) ठीक उसी प्रकार का है जिस प्रकार कि [१] में व्यक्त उस संगत तर्क वाक्य का है जो मेरे या मेरे शरीर के बारे मे और उस तर्क वाक्य के लिखने के समय के बारे में कथन करता है।

दूसरे शब्दों में, जो कुछ [२] शीर्षक का कथन है वह तो केवल यही है कि हमारे में से प्रत्येक ने ('हमारे' से अभिप्राय बहुत से मनुष्यों से है जो एक वर्ग में समाविष्ट हैं और जिसकी परिभाषा ऊपर प्रस्तुत की जा चुकी है) बहुधा अपने आप या अपने शरीर के विषय में और इसको जानने के समय के विषय में प्रत्येक उस तथ्य का ज्ञान प्राप्त किया है, जिसे [१] शीर्षक के अन्तर्गत तर्क वाक्यों की सूची लिखने में मैंने अपने आप या अपने शरीर के विषय में और उस तर्क वाक्य को लिखने के समय के विषय में प्राप्त करने का दावा किया था, अर्थात् जैसा

मुझे ज्ञात था (जब मैंने इसको लिखा) "वर्तमान में एक जीवित मनुष्य शरीर का अस्तित्व है और यह मेरा शरीर है", उसी प्रकार हममें से प्रत्येक ने अपने आप के विषय में और किसी दूसरे समय के विषय में एक भिन्न किन्तु संगत तर्क वाक्य का बहुधा ज्ञान प्राप्त किया है, जिसको वह तब इस प्रकार उचित रूप से व्यक्त कर सकता था "वर्तमान में एक मनुष्य शरीर का अस्तित्व है जो मेरा शरीर है"; जैसा मुझे ज्ञान है "मेरे अतिरिक्त दूसरे बहुत से मनुष्य शरीर वर्तमान समय से पूर्व पृथ्वी पर जीवित रहे हैं" उसी प्रकार हममें से प्रत्येक को एक भिन्न किन्तु संगत तर्क वाक्य का बहुधा ज्ञान है और वह यह है "मेरे अतिरिक्त दूसरे बहुत से मनुष्य शरीर वर्तमान समय से पूर्व पृथ्वी पर जीवित रहे हैं; जैसा मुझे ज्ञान है, 'मेरे अतिरिक्त दूसरे बहुत से मनुष्यों ने वर्तमान समय से पूर्व प्रत्यक्ष किया है, स्वप्न देखा है; और महसूस किया है" उसी प्रकार हममें से प्रत्येक को एक भिन्न किन्तु संगत तर्क वाक्य का बहुधा ज्ञान है और वह यह है कि मेरे अतिरिक्त दूसरे बहुत से मनुष्यों ने वर्तमान समय से पूर्व प्रत्यक्ष किया है, स्वप्न देखा है कि और महसूस किया है; इसी प्रकार [१] शीर्षक के अन्तर्गत गिनाये गये तर्क वाक्यों में से प्रत्येक के लिये उपर्युक्त दृष्टि प्रस्तुत की जा सकती है।

मुझे आशा है कि [२] तर्क वाक्य का क्या कथन है इसको यहाँ तक समझने में कोई कठिनाई नही है। मैंने उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि मेरा यह कथन कि "तर्क वाक्यों की [१] में व्यक्त तर्क वाक्यों में से प्रत्येक से संगति" इससे क्या अभिप्राय है। और [२] का जो कुछ कथन है वह तो केवल यह है कि हममें से प्रत्येक को बहुधा यह ज्ञात है कि वह तर्क वाक्य जिसकी संगति [१] में व्यक्त तर्क वाक्य से है, सत्य है। हाँ, प्रत्येक समय में जब उसने एक ऐसे तर्क वाक्य की सत्यता का ज्ञान प्राप्त किया तो उसने एक भिन्न संगत तर्क वाक्य का ही ज्ञान प्राप्त किया।

परन्तु दो बातें ऐसी हैं जिनका, उन कुछ दार्शनिकों के दृष्टिकोण से जिन्होंने आंग्ल भाषा का प्रयोग किया है, मेरे विचार से स्पष्ट कथन किया जाना चाहिये, यदि मुझे इस बात को बिलकुल स्पष्ट करना है कि [२] का कथन करने में यथार्थ रूप से क्या कथन कर रहा हूँ।

प्रथम बात यह है : कुछ दार्शनिकों ने 'सत्य' शब्द का प्रयोग एक ऐसे अर्थ में करना उचित सोचा प्रतीत होता है कि एक तर्क वाक्य जो आंशिक रूप से असत्य है वह ऐसा होते हुए भी सत्य हो सकता है; और इसलिए उनमें से कुछ दार्शनिक संभवतया यह कहेंगे कि [१] में गिनाये गये तर्क वाक्य उनकी दृष्टि में सत्य हैं, जब कि सदैव वे विश्वास करते हैं कि ऐसा प्रत्येक तर्क वाक्य आंशिक रूप से असत्य है। अतः मैं यह बिलकुल स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं 'सत्य' शब्द का प्रयोग ऐसे किसी भी अर्थ में नहीं कर रहा हूँ। मैं इसका प्रयोग ऐसे अर्थ में कर रहा हूँ (और मेरे विचार से यह साधारण प्रयोग है) कि यदि एक तर्क वाक्य आंशिक रूप से सत्य है, तो यह परिणाम निकलता है कि यह सत्य नहीं है, यद्यपि यह आंशिक रूप से सत्य हो सकता है। संक्षेप में, मैं इस बात का समर्थन कर रहा हूँ कि [१] में व्यक्त सब तर्क वाक्य, और बहुत से दूसरे तर्क वाक्य भी जो इनमें से प्रत्येक से संगति रखते हैं, पूर्णतया सत्य हैं; मैं [२] का कथन करने में यह कथन कर रहा हूँ। और इसलिये कोई भी

दार्शनिक जो वास्तव में इन तर्क वाक्यों के वर्गों में से किसी या सब के बारे में यह विश्वास रखता है कि प्रस्तुत वर्ग का प्रत्येक तर्क वाक्य आंशिक रूप से असत्य है, वास्तव में मुझसे सहमत नहीं है और ऐसी दृष्टि अपनाये हुए है जो [२] से असंगत है, यद्यपि वह यह कहने में अपने आपको उचित समझे कि वह इन सब वर्गों से सम्बन्धित कुछ तर्क वाक्यों की सत्यता मे विश्वास करता है।

और द्वितीय बात यह है। कुछ दार्शनिको ने ऐसे कथनो का प्रयोग करना जैसे कि "पृथ्वी गत बहुत वर्षो से अस्तित्वमान रही है" उचित सोचा प्रतीत होता है। इससे ऐसा लगता है कि उन्होने वही कथन किया जिसमें उन्होने सचमुच विश्वास किया, जबकि वास्तव में उनका विश्वास यह है कि प्रत्येक तर्क वाक्य जो ऐसा कथन करने वाला साधारणतया समझा जायगा, कम से कम आंशिक रूप से असत्य है, और वास्तव में उनका जो कुछ विश्वास है वह यह है कि तर्क वाक्यों का कोई दूसरा समूह है जो किसी प्रकार उनसे सम्बन्धित है जिनको उपर्युक्त कथन वस्तुतः व्यक्त करते हैं, और जो इनके विपरीत वास्तव में सत्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि वे दार्शनिक ऐसे कथन का प्रयोग कि "पृथ्वी गत बहुत वर्षो से अस्तित्वमान रही है" यह व्यक्त करने के लिये नही करते कि यह कथन क्या व्यक्त करने वाला साधारणतया समझा जायगा, वरन् यह व्यक्त करने के लिये करते है कि कोई तर्क वाक्य जो इससे किसी प्रकार सम्बन्धित है, सत्य है; जब कि सदैव वे यह विश्वास करते है कि वह तर्क वाक्य जो इस कथन को व्यक्त करने वाला साधारणतया समझा जायगा, कम से कम आंशिक रूप से असत्य है। अतः मैं यह बिलकुल स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि मै [१] में प्रयुक्त कथनो का किसी सूक्ष्म अर्थ में प्रयोग नही कर रहा था। उनमें से प्रत्येक का मैंने ठीक ठीक वही अर्थ समझा जिसको प्रत्येक पाठक ने उनको पढ़ते समय चाहा होगा कि मैं समझूँ। और इसलिये कोई भी दार्शनिक जिसका यह मत है कि इनमें से प्रत्येक का कथन ऐसा है कि यदि इसको इसी प्रचलित अर्थ में समझा जाय तो एक ऐसे तर्क वाक्य को व्यक्त करता है जो किसी प्रचलित भ्रम का द्योतक है, मुझ से सहमत नही है और ऐसी दृष्टि लिये हुए है जो [२] से असंगत है, यद्यपि चाहे वह यह विश्वास करे कि कोई दूसरा सत्य तर्क वाक्य है जो प्रस्तुत कथन द्वारा उचित रूप से व्यक्त किया जा सकता है।

जो कुछ मैंने अभी कहा है, उसमें मैंने यह स्वीकार किया है कि ऐसे कथनों का जैसे कि "पृथ्वी गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान रही है" एक अर्थ है जो साधारणतया प्रचलित अर्थ कहा जा सकता है। और यह, मुझे भय है, मेरी एक ऐसी मान्यता है जिसका कुछ दार्शनिक खण्डन कर सकते है। वे यह सोचते प्रतीत होते हैं कि यह प्रश्न, कि "क्या आप विश्वास करते हैं कि पृथ्वी गत बहुत वर्षो से अस्तित्वमान रही है' एक ऐसा स्पष्ट प्रश्न नही है जिसका 'हाँ' या 'ना' में उत्तर दिया जा सके या उत्तर के रूप में यह कहा जा सके कि "मैं कोई कथन नहीं कर सकता", परन्तु यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उचित रूप से इस प्रकार कहकर उत्तर दिया जा सकता है : कि "इसका उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि आप "पृथ्वी" और "अस्तित्व" और "वर्षों" का क्या अर्थ लगाते हैं : यदि आपका अर्थ

क्रमशः अमुक है और अमुक है अमुक है तो मुझे उत्तर स्वीकृत है; किन्तु आपका अर्थ क्रमशः अमुक है और अमुक है और अमुक है या क्रमशः अमुक है और अमुक है और अमुक है या क्रमशः अमुक है और अमुक है और अमुक है तो मुझे उत्तर स्वीकृत नहीं है या यह कम से कम अत्यन्त संदिग्ध है। मुझे यह प्रतीत होता है कि ऐसा दृष्टिकोण उतना ही गंभीरता से त्रुटिपूर्ण है जितना कोई अन्य दृष्टिकोण हो। सकता है ऐसा कथन जैसे कि "पृथ्वी गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान रही है" एक असंदिग्ध कथन का प्रतिरूप है, जिसका अर्थ हम सब समझते हैं। कोई भी जो इसके प्रतिकूल दृष्टि अपनाता है, मेरी मान्यता है, इस प्रश्न को कि क्या हम इसका अर्थ समझते हैं (जिसको हम सब समझते हैं) दूसरे पूर्णतया भिन्न प्रश्न से कि क्या हमें इसके अर्थ का ऐसा ज्ञान है जिससे हम इसके अर्थ का एक यथार्थ विश्लेषण दे सकें, अवश्य गड़बड़ा देता है। यह प्रश्न कि किसी भी समय (क्योंकि जैसा मैंने [२] की व्याख्या करते हुए कहा था, प्रत्येक भिन्न समय जब कथन किया जाता है तो एक भिन्न तर्क वाक्य सूचित होता है) इस तर्क वाक्य का कि "पृथ्वी बहुत वर्षों से अस्तित्वमान रही है यथार्थ विश्लेषण क्या है, मुझे लगता है, एक अत्यन्त कठिन प्रश्न है, और ऐसा प्रश्न है जिसका, जैसा मैं शीघ्र ही स्पष्ट करूँगा, उत्तर किसी को भी ज्ञात नहीं है। किन्तु यह विश्वास करना कि जो कुछ हम कथन से समझते हैं उसका कई अपेक्षाओं से क्या विश्लेषण है इसे हम नहीं जानते हैं पूर्णतया इस विश्वास से भिन्न है कि हम इस कथन को समझते ही नहीं हैं। यह स्पष्ट है कि यदि हम उस कथन को समझते ही नहीं तो हम यह प्रश्न भी नहीं उठा सकते कि जो कुछ हम उस कथन से समझते हैं उसका विश्लेषण कैसे किया जाय। अतः ज्योंही हमें यह ज्ञात होता है कि एक व्यक्ति जो ऐसे कथन का प्रयोग करता है इसका अपने साधारण अर्थ में प्रयोग कर रहा है, त्योंही हम उसके अर्थ को समझ जाते हैं। इसलिये यह व्याख्या करने में कि [१] में प्रयुक्त कथनों का (उनमें से वे ही जिनका साधारण अर्थ है, यह साधारण अर्थ सबका नहीं है) मैं साधारण अर्थ में प्रयोग कर रहा था, मैंने अपने आशय को स्पष्ट करने के लिये जो कुछ आवश्यक है उसे प्रस्तुत किया है।

परन्तु अब, यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि [२] को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त कथन समझे गये हैं तो, मेरा विचार है, जैसा मैंने कहा है, कि बहुत से दार्शनिकों ने वास्तव में ऐसे विचार अपनाये हैं जो [२] से असंगत हैं। और जिन दार्शनिकों ने ऐसा किया है उनको, मेरे विचार से, दो प्रमुख समुदायों में विभाजित किया जा सकता है [क] तर्क वाक्यों के वर्गों के सम्पूर्ण समूह के बारे में जो कुछ [२] का कथन है वह तो यह है कि हमने, हममें से प्रत्येक ने इन वर्गों में से प्रत्येक सम्बन्धित तर्क वाक्यों की सत्यता का बहुधा ज्ञान प्राप्त किया है। और इस तर्क वाक्य से असंगत विचार रखने का एक तरीका प्रस्तुत वर्गों में से एक या अधिक के बारे में, यह विश्वास करना है कि उस वर्ग का कोई भी तर्क वाक्य सत्य नहीं है—कि सब तर्क वाक्य कम से कम आंशिक रूप से असत्य हैं। क्योंकि, इन वर्गों में से किसी एक के भी सम्बन्ध में, यदि उस वर्ग का कोई भी तर्क वाक्य सत्य नहीं है तो यह स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति उस वर्ग के किसी भी तर्क वाक्य की सत्यता का ज्ञान

प्राप्त नही कर सकता और इसलिये यह स्पष्ट है कि हमको इन वर्गों में से प्रत्येक से सम्बन्धित तर्क वाक्यों की सत्यता का ज्ञान नही हो सकता है। और दार्शनिकों का मेरा प्रथम समुदाय उन दार्शनिकों का है जिनके विचार उपर्युक्त कारण से [२] से असंगति लिये हुए है। उन्होंने, प्रस्तुत वर्गों में से एक या अधिक के बारे में केवल यह दृष्टि अपनाई है कि उस वर्ग का कोई भी तर्क वाक्य सत्य नही है। उनमें से कुछ ने प्रस्तुत वर्गों में से सबके बारे में यह दृष्टि अपनाई है; और कुछ ने केवल कुछ के बारे में। परन्तु उन दार्शनिकों ने दोनों दृष्टियों में से किसी को भी अपनाया हो, वे [२] से असगत विचार को लिये हुए है। [ख] दूसरी ओर कुछ दार्शनिकों ने [२] में व्यक्त वर्गों मे से किसी के बारे में यह कहने का तो साहस नही किया कि उस वर्ग के कोई भी तर्क वाक्य सत्य नही हैं, परन्तु उन्होंने जो कहा वह यह है कि इन वर्गों में से कुछ ऐसे हैं जिनके बारे मे किसी भी मनुष्य ने कभी यह सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त नही किया कि प्रस्तुत वर्ग का कोई भी तर्क वाक्य सत्य है अर्थात् उनका [क] समुदाय के दार्शनिकों से इस बात में गहन अन्तर है कि उनके मतानुसार इन सब वर्गों के तर्क वाक्य सत्य हो सकते हैं परन्तु फिर भी उनके विचार [२] से असंगत हैं क्योंकि वे इन वर्गों में से कुछ के बारे में यह स्वीकार करते हैं कि हममें से किसी ने भी कभी प्रस्तुत वर्ग के किसी भी तर्क वाक्य की सत्यता का ज्ञान प्राप्त नही किया है।

[क] मैंने यह कथन किया कि कुछ दार्शनिकों ने जो इस समुदाय के है यह स्वीकार किया है कि [२] में व्यक्त किसी भी वर्ग के तर्क वाक्य पूर्णतया सत्य नही है जबकि दूसरे कुछ दार्शनिकों ने इसी विचार को [२] में व्यक्त वर्गों में से केवल कुछ के बारे मे स्वीकार किया है। और मेरे विचार से इस प्रकार का प्रमुख विभाजन निम्न प्रकार रहा है। [१] में व्यक्त तर्क वाक्यों में से कुछ (और इसलिये [२] में व्यक्त सगत वर्गों के सब तर्क वाक्य) तर्क वाक्य ऐसे है जो सत्य नही हो सकते, यदि कुछ भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व न रहा हो और यदि वे एक दूसरे से देश सम्बन्ध न रखे हुए हो : अर्थात् वे ऐसे तर्क वाक्य है जो, किसी अर्थ में भौतिक वस्तुओं की सत्यता और देश की सत्यता को सूचित करते है। उदाहरणार्थ यह तर्क वाक्य कि 'मेरा शरीर गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान है और उस समय के प्रत्येक क्षण से या तो पृथ्वी के संसर्ग में रहा है या पृथ्वी से अधिक दूर नही रहा है', एक ऐसा तर्क वाक्य है जो भौतिक वस्तुओं की वास्तविकता (शर्त यह है कि आप 'भौतिक वस्तुएँ' पद का प्रयोग एक ऐसे अर्थ में करें कि भौतिक वस्तुओं की वास्तविकता को अस्वीकार करना यह सूचित करे कि कोई भी तर्क वाक्य जिसका कथन यह है कि मनुष्य शरीरों का अस्तित्व रहा है या पृथ्वी अस्तित्व में रही है, पूर्णतया सत्य नही है) और देश की वास्तविकता (शर्त यह है कि आप देश पद का प्रयोग एक ऐसे अर्थ में करें कि देश की वास्तविकता को अस्वीकार करना यह सूचित करे कि कोई भी तर्क वाक्य जिसका कथन यह है कि कोई भी वस्तु उन्ही परिचित अर्थों में जो [१] में निर्दिष्ट हैं, सर्वदा दूसरी वस्तु के संसर्ग में रही है या उससे दूर रही है, पूर्णतया सत्य नहीं है) इन दोनों को सूचित करता है। परन्तु [१] में व्यक्त दूसरे तर्क वाक्य (और इसलिये [२] में व्यक्त संगत वर्गों के तर्क वाक्य) ऐसे हैं जो (कम से कम स्पष्ट रूप से) न तो भौतिक वस्तुओं की वास्तविकता और न ही देश की वास्तविकता को सूचित

करते हैं : उदाहरणार्थ, ये ऐसे तर्क वाक्य है कि जैसे कि 'मैंने स्वप्न देखे हैं' और 'मैंने विभिन्न समयों में कई विभिन्न भावों का अनुभव किया है'। यह सत्य है कि इस द्वितीय वर्ग के तर्क वाक्य एक बात अवश्य सूचित करते हैं जो प्रथम वर्ग के तर्क वाक्यों द्वारा भी सूचित की जाती है, (और वह बात यह है) कि काल (किसी अर्थ में) वास्तविक है, और दूसरी बात भी सूचित करते है जो प्रथम वर्ग के तर्क वाक्यों द्वारा सूचित नहीं होती, (और वह बात यह है) कि (किसी अर्थ में) कम से कम एक आत्मा का अस्तित्व वास्तविक है। परन्तु मेरा विचार है कि कुछ दार्शनिक हैं जो, भौतिक वस्तुओं या देश की वास्तविकता को अस्वीकार करते हुए (प्रस्तुत अर्थों में), यह स्वीकार करने के इच्छुक हैं कि आत्माएँ और काल अभिलषित अर्थ में वास्तविक हैं। दूसरी ओर, दूसरे दार्शनिकों ने इन कथनों का प्रयोग कि काल वास्तविक नहीं है अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये किया है, और कम से कम इनमें से कुछ ने, मैं सोचता हूँ, इस कथन का ऐसा कुछ अभिप्रोय लिया है जो [१] में व्यक्त किसी भी तर्क वाक्य की सत्यता से असंगत है। उनका जो अभिप्राय है वह यह है कि प्रत्येक तर्क वाक्य जो "अब" या "वर्तमान में" इन शब्दों के प्रयोग द्वारा व्यक्त किया जाता है, उदाहरणार्थ, "मैं अब देखने और सुनने की दोनों क्रियाओं को कर रहा हूँ" या "वर्तमान में एक जीवित मनुष्य शरीर है" या जो भूतकाल के प्रयोग द्वारा व्यक्त किया जाता है, उदाहरणार्थ, "भूतकाल में मुझे बहुत से अनुभव हुए है या "पृथ्वी बहुत समय से अस्तित्व में रही है", कम से कम आंशिक रूप से असत्य तो है ही।

चारों कथन जिनको मैंने अभी प्रस्तुत किया है, अर्थात्, "भौतिक वस्तुएँ वास्तविक नहीं हैं", 'देश वास्तविक नहीं है', 'काल वास्तविक नहीं है', 'आत्मा वास्तविक नही है', मैं सोचता हूँ [१] में प्रयुक्त तथ्यों के विपरीत वस्तुतः संदिग्ध हैं। और यह सम्भव है कि उनमें से प्रत्येक के लिये किसी दार्शनिक ने अपने किसी ऐसे विचार के सूचनार्थ प्रस्तुत कथन का प्रयोग किया हो जो [२] के साथ असंगत न हो। मेरा ऐसे दार्शनिकों से, यदि कोई हैं, इस समय कोई प्रयोजन नहीं है। परन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से प्रत्येक कथन का अत्यधिक स्वाभाविक और समुचित प्रयोग ऐसा है जिसके अनुसार यह अवश्य ही [२] से असंगत विचार को व्यक्त करता है, और उनमें से प्रत्येक के लिये कुछ दार्शनिकों ने, मैं सोचता हूँ, उपर्युक्त विचार को व्यक्त करने के अभिप्राय से प्रस्तुत कथन का वास्तव में प्रयोग किया है। इसलिये ऐसे प्रत्येक-दार्शनिक [२] से असंगत विचारों को लिये हुए हैं।

ऐसे सर्व विचार, जो चाहे [१] में व्यक्त सब तर्क वाक्यों से असंगत है या उनमें से केवल कुछ के साथ, मुझे निश्चित रूप से बिलकुल असत्य प्रतीत होते हैं, मैं सोचता हूँ कि उनके विषय में निम्नलिखित बातें विशेषतः उल्लेखनीय हैं :

[अ] यदि [२] में व्यक्त तर्क वाक्यों के वर्गों में से कोई भी ऐसा है कि उस वर्ग का कोई भी तर्क वाक्य सत्य नहीं है तो यह परिणाम निकलता है कि कोई भी दार्शनिक कभी अस्तित्व में नहीं रहा है, और इसलिये ऐसे किसी वर्ग के बारे में कोई भी व्यक्ति कभी यह विश्वास नहीं कर सकता है, कि इससे सम्बन्धित कोई भी तर्क वाक्य सत्य नहीं है। दूसरे

शब्दों में, यह तर्क वाक्य कि इन वर्गों में से प्रत्येक से सम्बान्धित कुछ तर्क वाक्य सत्य हैं, एक ऐसा तर्क वाक्य है जो इस विशेषता को लिये हुए है कि, यदि किसी दार्शनिक ने इसको कभी भी अस्वीकार किया है तो इससे यह परिणाम निकलता है कि उसने इसका सर्वथा निषेध किया है, और इसका निषेध करने में उसने अवश्य त्रुटि की है। क्योंकि जब मैं 'दार्शनिकों' शब्द का प्रयोग करता हूँ तो मेरा अभिप्राय जैसा कि हम सब का निश्चित रूप से केवल उन दार्शनिकों से है जो मनुष्य शरीर लिये हुए ऐसे मनुष्य हैं जो पृथ्वी पर रहे हैं और जिन्होंने विभिन्न समयों में बहुत से विभिन्न अनुभव किये हैं। इसलिए, यदि कोई दार्शनिक रहे हैं तो वे उपर्युक्त वर्ग के मनुष्य भी रहे है; और यदि वे उपर्युक्त वर्ग के मनुष्य भी रहे है तो [१] में कथित अवशेष बातें सत्य भी अवश्य हैं। इसलिये कोई भी विचार जो इस तर्क वाक्य से कि बहुत से तर्क वाक्य जिनकी [१] में व्यक्त तर्क वाक्यों में से प्रत्येक से संगति है, सत्य हैं, असंगत है, केवल इसी प्राक्कल्पना पर सत्य हो सकता है कि किसी दार्शनिक ने कभी कोई ऐसा विचार नही अपनाया है। इसलिये यह परिणाम निकलता है कि, यह विचारने में कि क्या उपर्युक्त तर्क वाक्य सत्य हैं, मैं अविरुद्ध रूप से इस तथ्य को महत्व नही दे सकता कि बहुत से दार्शनिकों ने, जिनका मैं सम्मान करता हूँ, जहाँ तक मेरा विश्वास है, उन विचारों को अपनाया है जो इससे असंगत हैं : और जो इसके प्रतिकूल कोई प्रभाव रखते है। क्योंकि, यदि मुझे मालूम है कि उन्होंने ऐसे विचार अपनाये हैं तो मुझे वास्तव में ज्ञात है कि वे गलती पर हैं; और यदि मेरे इस विश्वास का कि प्रस्तुत तर्क वाक्य सत्य है कोई प्रमाण नही है, तो मेरे पास उससे भी कम प्रमाण इस विश्वास का है कि उन्होने इससे असंगत विचार अपनाये हैं। क्योंकि मैं इस बात के लिये अधिक निश्चित हूँ कि वे अस्तित्वमान रहे है और उन्होंने कुछ विचार अपनाये है, अर्थात् मैं इसकी अपेक्षा कि उन्होंने प्रस्तुत तर्क वाक्य से असंगत विचार अपनाये हैं अधिक निश्चित हूँ कि प्रस्तुत तर्क वाक्य सत्य है।

[आ] यह बात अवश्य है कि उन सब दार्शनिकों ने जिन्होने ऐसे विचार अपनाये हैं, बार बार, अपने दार्शनिक ग्रन्थों में भी उन दूसरे विचारों को व्यक्त किया है जो उनसे असंगत है। अर्थात् कोई भी दार्शनिक ऐसे विचारों को संगत रूप से नहीं अपना सका है। उनकी असंगतता प्रथम इस बात से व्यक्त हुई कि उन्होंने दूसरे दार्शनिकों के अस्तित्व का निर्देश किया है। दूसरे इस बात से व्यक्त हुई है कि उन्होंने मनुष्य जाति के अस्तित्व का निर्देश किया है और विशेषतया इस बात से व्यक्त हुई है कि उन्होने 'हम' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में मैंने पहले लगातार किया है, जिस अर्थ में कोई भी दार्शनिक यह कथन करता है कि 'हम' ऐसा ऐसा करते है, उदाहरणार्थ, यह कि हम कभी कभी उन तर्क वाक्यों का विश्वास करते हैं जो सत्य नहीं हैं, केवल इस बात का ही कथन नहीं कर रहा है कि उसने स्वयं ने ऐसा विश्वास किया है, वरन् इस बात का भी कथन कर रहा है कि बहुत से मनुष्यों ने जो शरीर लिये हुए है और पृथ्वी पर रहे हैं, वैसा ही किया है। निस्सदेह बात यह है कि सब दार्शनिक मनुष्यों के ऐसे वर्ग मे सम्मिलित है जिसका अस्तित्व [२] के सत्य होने पर ही संभव है : अर्थात् सब दार्शनिक मनुष्यों के ऐसे वर्ग में सम्मिलित है जिन्होंने बहुधा उन तर्क वाक्यों का ज्ञान प्राप्त किया है जिनकी [१] मे व्यक्त प्रत्येक तर्क वाक्य से संगति

हैं। इस तर्क वाक्य से कि इन सब वर्गों के तर्क वाक्य सत्य हैं, असंगत विचार रखने में, वे उन तर्क वाक्यों से असंगत विचार रखे हुए हैं जिनकी सत्यता का उन्होंने स्वयं ज्ञान प्राप्त किया, और इसलिये उनसे केवल यह आशा की जाती थी कि वे ऐसे तर्क वाक्यों के बारे में कभी अपना ज्ञान प्रदर्शित करें। विचित्र बात यह है कि दार्शनिकों ने वस्तुतः उन तर्क वाक्यों को जो ऐसे तर्क वाक्यों से असंगत हैं जिनकी सत्यता का उनको स्वयं को ज्ञान था अपने दार्शनिक मंतव्यों के भाग के रूप में स्वीकार किया है। और फिर भी जहाँ तक मुझे विदित है ऐसा वस्तुतः बहुधा हुआ है। इसलिये मेरी स्थिति इस प्रथम बात में [क] समूह के दार्शनिकों से भिन्न है, वह भिन्नता इस बात में नहीं है कि मैं कोई ऐसी बात स्वीकार करता हूँ, जिसको वे स्वीकार नहीं करते हैं वरन् वह भिन्नता केवल इस बात में है कि मैं उन बातों को अपने दार्शनिक मंतव्यों के भाग के रूप में स्वीकार नहीं करता जिनको वे इस रूप में स्वीकार करते हैं; अर्थात् मैं ऐसे तर्क वाक्यों को स्वीकार नहीं करता जो उन कुछ तर्क वाक्यों से असंगत हैं जिनको वे और मैं समान रूप से स्वीकार करते हैं। परन्तु यह अन्तर मुझे महत्वपूर्ण प्रतीत होता है।

[इ] इनमें से कुछ दार्शनिकों ने, अपनी स्थिति के पक्ष में, [१] में व्यक्त कुछ या सब तर्क वाक्यों के बारे में यह दिखाने के लिये तर्क प्रस्तुत किये हैं कि इस प्रकार का संभवतया कोई भी तर्क वाक्य पूर्णतया सत्य नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्येक ऐसा तर्क वाक्य दो असंगत तर्क वाक्यों को जन्म देता है और निस्सदेह मुझे यह स्वीकार है कि यदि [१] में व्यक्त किसी भी तर्क वाक्य ने दो असंगत तर्क वाक्यों को जन्म दिया तो वह सत्य नहीं हो सकता था। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि मेरे पास एक पूर्णतया निर्णायिक तर्क यह दिखाने के लिये है कि उनमें से कोई भी तर्क वाक्य दो असंगत तर्क वाक्यों को जन्म नहीं देता। अर्थात् वह तर्क यह है : [१] में व्यक्त सब तर्क वाक्य सत्य हैं; कोई भी सत्य तर्क वाक्य दो असंगत तर्क वाक्यों को जन्म नहीं देता है; अतः [१] में व्यक्त कोई भी तर्क वाक्य दो असंगत तर्क वाक्यों को जन्म नहीं देता है।

(ई) यद्यपि, जैसा मैंने कहा है, किसी भी दार्शनिक ने, जिसने तर्क वाक्य के इन प्रकारों में से किसी के भी बारे में यह स्वीकार किया है कि उस प्रकार का कोई भी तर्क वाक्य सत्य नहीं है, साथ में उन दूसरे विचारों को भी अस्वीकार नहीं किया है जो इस सम्बन्ध में उसके अपने विचार से असंगत हैं, तथापि मेरा यह विचार नहीं है कि इन तर्क वाक्यों में से किसी या सबके बारे में यह दृष्टि कि उनमें से कोई भी तर्क वाक्य सत्य नहीं है, अपने आप में आत्म-विरोधी विचार है, अर्थात् यह विचार दो असंगत तर्क वाक्यों का सूचक है। इसके विपरीत मुझे ऐसा बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह सोचना कि "काल वास्तविक नहीं था", "भौतिक वस्तुएँ वास्तविक नहीं थीं", "देश वास्तवित नहीं था", "आत्माएं वास्तविक नहीं थीं", संभव था। और मेरे इस विचार के पक्ष में कि उपर्युक्त बातों में से कोई भी बात जो हो सकती थी वास्तव में नहीं है मेरे पास, मैं सोचता हूँ, केवल इस तर्क से अधिक उपयुक्त तर्क नहीं है कि [१] में व्यक्त सब तर्क वाक्य वास्तव में सत्य हैं।

[ख] यह विचार जो साधारणतया [क] की अपेक्षा अधिक सही समझा जाता है इस दोष को लिये हुए है कि, [क] के विपरीत, यह वास्तव में आत्म-विरोधी है, अर्थात् दो परस्पर असंगत तर्क वाक्यों का सूचक है।

अधिकांश दार्शनिकों का जिन्होने यह विचार अपनाया है विश्वास है कि यद्यपि हममें से प्रत्येक को उन तर्क वाक्यों का ज्ञान है जो [१] में व्यक्त कुछ तर्क वाक्यों से संगत है, अर्थात् जो उन तर्क वाक्यों से सगत हैं जो केवल यह कथन करते हैं कि मैंने स्वयं भूतकाल में विभिन्न समय मे अमुक प्रकारों के अनुभव किये हैं, तथापि हममें से किसी को भी ऐसे तर्क वाक्यों का सुनिश्चित ज्ञान नही है, जो या तो (अ) भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व का कथन करते हैं या (आ) मेरे अतिरिक्त दूसरी आत्माओं के अस्तित्व का कथन करते हैं और इस बात का कथन करते है कि उन दूसरी आत्माओं ने भी अनुभव प्राप्त किये है। वे दार्शनिक स्वीकार करते हैं कि हम वास्तव में अवश्य उपर्युक्त दोनों प्रकार के तर्क वाक्यों में विश्वास करते है कि वे सत्य हो सकते है : उन दार्शनिकों में से कुछ यहाँ तक भी कहेंगे कि हम उनके वारे में यह जानते है कि वे अति संभाव्य है, परन्तु वे यह स्वीकार नही करते कि हमको उनकी सत्यता का सुनिश्चित ज्ञान है। उनमें कुछ दार्शनिकों ने ऐसे विश्वासों को "साधारण ज्ञान के विश्वास" कहा है, जिसके द्वारा उन्होंने अपना यह मत व्यक्त किया है कि इस प्रकार के विश्वास मनुष्य जाति द्वारा बहुधा अपनाये गये है : परन्तु उनका यह निर्णय है कि प्रत्येक दशा मे उपर्युक्त बातों का केवल विश्वास किया जा सकता है, उनका सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त नही किया जा सकता और कुछ दार्शनिकों ने इसी बात को यह कह कर व्यक्त किया है कि वे श्रद्धा की वस्तुएँ हैं, ज्ञान की नहीं।

उन लोगों के विषय में जिन्होंने यह उपर्युक्त दृष्टिकोण अपनाया है अब एक उल्लेखनीय बात जिसको सामान्यतया, मेरे विचार से, उन्होंने उचित महत्व नहीं दिया है यह है कि प्रत्येक दशा में, वह दार्शनिक जो इस दृष्टिकोण को अपनाता है "हमारे" विषय में कथन कर रहा है—अर्थात् केवल अपने ही विषय में नही वरन् दूसरे बहुत से मनुष्यों के विषय में भी कथन कर रहा है। जब वह यह कहता है कि "किसी भी मनुष्य ने कभी दूसरे मनुष्यों के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त नही किया है", तो वह यह कह रहा है कि "मेरे अतिरिक्त दूसरे बहुत से मनुष्य रहे हैं, और उनमें से किसी ने भी (किसी में मैं भी सम्मिलित हूँ) कभी दूसरे मनुष्यों के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है" यदि वह यह कहता है कि "ये विश्वास तो साधारण विश्वास है किन्तु ये ज्ञान के विषय नहीं है तो वह यह कह रहा है के "मेरे अतिरिक्त दूसरे बहुत से मनुष्य रहे है जिन्होंने ये विश्वास किये हैं, परन्तु न तो मैंने न दूसरे किसी ने उनकी सत्यता का कभी ज्ञान प्राप्त किया है।" दूसरे शब्दों में, वह दृढ़ निश्चय पूर्वक (यह तो) कथन करता है कि ये विश्वास साधारण विश्वास है पर इस बात की ओर प्रायः ध्यान नहीं देता कि यदि वे साधारण विश्वास है तो वे अवश्य सत्य हैं; क्योंकि यह तर्क वाक्य कि ये साधारण विश्वास हैं ऐसा है जिसने अ और आ दोनों प्रकार के तर्क वाक्य तार्किक रूप से निकलते है; यह तर्क वाक्य तार्किक रूप से इस तर्क वाक्य का सूचक है कि स्वयं दार्शनिक के अतिरिक्त बहुत से मनुष्यों के

ऐसे मनुष्य शरीर रहे हैं जो पृथ्वी पर रहे हैं और जिन्होंने इस प्रकार के विश्वासों सहित अनेक अनुभव किये हैं। यही कारण है कि यह मंतव्य समूह [क] के मंतव्यों के विपरीत मुझे आत्म-विरोधी प्रतीत होता है। इसका [क] से अन्तर इस बात में है कि इसका कथन सामान्यतया मनुष्य ज्ञान के विषय में है अतएव यह बहुत से मनुष्यों के अस्तित्व का वस्तुतः कथन रहा है जबकि [क] समूह के दार्शनिक अपने मंतव्य का कथन करने में ऐसा नहीं कर रहे हैं; वे तो केवल उन दूसरी बातों का विरोध कर रहे हैं जिनको वे स्वयं अपनाये हुए हैं। यह सत्य है कि एक दार्शनिक जो यह कहता है कि "मेरे अतिरिक्त बहुत से मनुष्य अस्तित्व में रहे हैं, और हममें से किसी ने कभी अपने अतिरिक्त किसी दूसरे मनुष्य के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है" केवल अपना विरोध कर रहा है यदि वह यह स्वीकार करता है कि "मेरे अतिरिक्त निस्संदेह बहुत से मनुष्य अस्तित्व में रहे हैं या, दूसरे शब्दों में मुझे ज्ञान है कि मेरे अतिरिक्त दूसरे मनुष्य अस्तित्व में रहे हैं। परन्तु, मुझे लगता है, इसी प्रकार का विरोध ऐसे दार्शनिक वस्तुतः सामान्य रूप से करते आ रहे हैं। वे मुझे सदा इस तथ्य को प्रदर्शित करते प्रतीत होते हैं कि वे इस तर्क वाक्य को कि ये विश्वास साधारण विश्वास हैं या इस तर्क वाक्य को कि वे स्वयं अकेले ही मनुष्य जाति के सदस्य नहीं हैं, कोरा सत्य ही नहीं मानते वरन् निश्चित रूप से सत्य मानते हैं; और यह निश्चित रूप से सत्य नहीं हो सकता यदि कम से कम मनुष्य जाति के एक सदस्य ने अर्थात् स्वयं ने उन्हीं वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त न कर लिया हो जिनको वह सदस्य यह कह कर घोषित कर रहा है कि किसी भी मनुष्य ने उनका कभी ज्ञान प्राप्त नहीं किया है।

फिर भी, मेरा मंतव्य कि मुझे [१] में व्यक्त सब तर्क वाक्यों की सत्यता का सुनिश्चित ज्ञान है एक ऐसा मंतव्य कदापि नहीं है जिसको इन्कार करने पर दो असंगत तर्क वाक्य सूचित होते हों। यदि मुझे इन सब तर्क वाक्यों की सत्यता का सुनिश्चित ज्ञान है तो, मैं सोचता हूँ, यह बिल्कुल असंदिग्ध है कि दूसरे मनुष्यों ने भी इनसे संगत तर्क वाक्यों का ज्ञान प्राप्त किया है अर्थात् [२] भी सत्य है, और इसकी सत्यता का मुझे ज्ञान है। परन्तु (प्रश्न यह है कि) क्या मुझे [१] में व्यक्त तर्क वाक्यों की सत्यता का वस्तुतः ज्ञान है? क्या यह संभव नहीं है कि मुझे उस पर केवल विश्वास ही हो? या मुझे उनके अति संभाव्य होने का ज्ञान हो? इस प्रश्न के उत्तर में मुझे इससे अधिक कुछ नहीं कहना है कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे तो उनका सुनिश्चित ज्ञान है। यह वस्तुतः स्पष्ट है कि उनमें से बहुतों के विषय में मुझे सीधा ज्ञान नहीं है अर्थात् मुझे उनका इसलिये ज्ञान है कि भूतकाल में मैंने उन दूसरे तर्क वाक्यों की सत्यता का ज्ञान प्राप्त किया है जो उनके लिये प्रमाण थे। उदाहरणार्थ, यदि मुझे इस बात का ज्ञान है कि पृथ्वी मेरे उत्पन्न होने के बहुत वर्षों पूर्व अस्तित्व में रही थी तो मुझे इस का सुनिश्चित ज्ञान इसीलये है कि मैंने भूतकाल में उन दूसरी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त किया है जो इसके लिये प्रमाण थीं। पर मुझे सुनिश्चित रूप से इस बात का ज्ञान नहीं है कि यथार्थ रूप से प्रमाण क्या था। तथापि यह बात मेरे इसके ज्ञान पर संदेह करने के लिये मुझे उपयुक्त तर्क प्रतीत नहीं होती। हम सब, मैं सोचता हूँ, इस विचित्र स्थिति में हैं कि यद्यपि हमें बहुत सी बातों का ज्ञान है और उनके बारे में हमें यह भी ज्ञान है कि हमारे पास उनके लिये कोई प्रमाण अवश्य रहा है, तथापि हमें यह ज्ञान नहीं है कि हम उनका

ज्ञान कैसे प्राप्त करते हैं अर्थात् हमें यह ज्ञान नहीं है कि प्रमाण क्या था। यदि 'हम' कोई शब्द है और यदि हमें ज्ञान है कि 'हम' कोई शब्द है, तो ऐसा अवश्य होना चाहिये : क्योंकि यह कि 'हम' शब्द है प्रस्तुत वस्तुओं में से एक है और मुझे ज्ञान है कि 'हम' शब्द है अर्थात् मुझे ज्ञान है कि बहुत से दूसरे मनुष्य मनुष्य शरीरों को लिये हुए इस पृथ्वी पर रहे हैं तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मुझे सुनिश्चित ज्ञान है।

यदि मेरे दार्शनिक मंतव्य की प्रथम बात को अर्थात् [२] में मेरे विश्वास को किसी ऐसे नाम से इंगित करना है जो दार्शनिकों द्वारा दूसरे दार्शनिकों के मंतव्यों का वर्गीकरण करने में वस्तुतः प्रयुक्त हुआ है तो इसको यह कह कर, मैं सोचता हूँ, व्यक्त किया जाना चाहिये कि मैं उन दार्शनिकों में से एक हूँ जिन्होंने यह स्वीकार किया है कि 'जगत् के विषय में साधारण ज्ञान वाली दृष्टि' किन्ही मूलभूत विशेषताओं में, पूर्णतया सत्य है। परन्तु यह स्मरण रखना आवश्यक है कि मेरे कथनानुसार विना अपवाद के सब दार्शनिकों का इस उपर्युक्त बात को अपनाने में मुझसे सामंजस्य रहा है : और वास्तविक भेद, जो साधारणतया इस प्रकार व्यक्त किया जाता है केवल उन दो प्रकार के दार्शनिकों में है जिन्होंने जगत् के विषय में साधारण ज्ञान वाली दृष्टि में व्यक्त इन विशेषताओं से भी असंगत विचार अपनाये हैं और जिन्होंने ऐसे असंगत विचार नहीं अपनाये हैं।

प्रस्तुत विशेषताएँ (अर्थात् [२] में व्यक्त किसी, वर्ग के तर्क वाक्य) सब ऐसी विशेषताएँ हैं जो यह विशेष गुण लिये हुए हैं कि यदि हमें ज्ञान है कि वे 'जगत् के विषय में साधारण ज्ञान वाली दृष्टि' में व्यक्त विशेषताएँ है तो यह परिणाम निकलता है कि वे सत्य है : यह स्वीकार करना आत्म विरोधी है कि हमें उन विशेषताओं के बारे में यह ज्ञान है कि वे साधारण ज्ञान वाली दृष्टि में व्यक्त विशेषताएँ हैं और फिर भी वे सत्य नही है क्योंकि यह कथन कि हमें उपर्युक्त बात का ज्ञान है इस कथन जैसा है कि वे विशेषताएँ सत्य हैं। और उनमें से बहुत सी विशेषताओं का यह विशेष गुण भी है कि यदि वे 'जगत् के विषय में साधारण ज्ञान वाली दृष्टि' में व्यक्त विशेषताएँ हैं (चाहे 'हमें' इस बात का ज्ञान हो चाहे न हो) तो यह परिणाम निकलता है कि वे सत्य है, क्यों कि यह कथन कि 'जगत् के विषय में साधारण ज्ञान वाली दृष्टि है', इस कथन जैसा है कि वे सत्य हैं। दार्शनिकों द्वारा प्रयुक्त यह पद "जगत् के विषय में साधारण ज्ञान वाली दृष्टि' 'या साधारण विश्वास' अत्यधिक अस्पष्ट है और मुझे यह विदित है कि ऐसे बहुत से तर्क वाक्य हो सकते है जो "जगत् के विषय में साधारण ज्ञान वाली दृष्टि" में या साधारण विश्वासों में व्यक्त विशेषताएँ कही जा सकती है, जो सत्य नहीं है और जो इसी प्रकार हेय दृष्टि से व्यक्त करने योग्य है जिस प्रकार कुछ दार्शनिक साधारण विश्वासों के सम्बन्ध में ऐसी दृष्टि लिये हुए है। परन्तु उन 'साधारण विश्वासों' के प्रति हेय दृष्टि अपनाना जिनको मैंने व्यक्त किया है निस्सदेह मूढ़ता की पराकाष्टा है और अवश्य 'जगत् के विषय में साधारण ज्ञान वाली दृष्टि' में बहुत बड़ी संख्या में दूसरी विशेपताएँ हैं जो भी निस्संदेह सत्य हैं यदि ये उपर्युक्त विशेपताएँ सत्य है तो : उदाहरणार्थ, इस पृथ्वी तल पर केवल मनुष्य ही नहीं रहे है वरन् पौधों और पशुओं की बहुत सी उपजातियाँ भी, इत्यादि इत्यादि।

उन सब बातों में से जिनमें मेरी दार्शनिक स्थिति कुछ दूसरे दार्शनिकों द्वारा अपनाई गई स्थिति से भिन्न है द्वितीय महत्वपूर्ण बात जो मुझे प्रतीत होती है वह ऐसी है जिसको मैं निम्न प्रकार से व्यक्त करूँगा। मेरा मत यह है कि यह मानने का कोई उपयुक्त हेतु नहीं है कि (क) प्रत्येक शारीरिक तथ्य तार्किक रूप से किसी मानसिक तथ्य पर आश्रित है या (ख) कि प्रत्येक शारीरिक तथ्य कारण रूप से मानसिक तथ्य पर आश्रित है। इस प्रकार कहने में अवश्य मैं यह कथन नहीं कर रहा हूँ कि ऐसे कोई शारीरिक तथ्य हैं जो (तार्किक और कारण रूप दोनों से) मानसिक तथ्यों से पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। मेरा तो वस्तुतः विश्वास है कि ऐसे शारीरिक तथ्य हैं जो मानसिक तथ्यों से पूर्णतया स्वतन्त्र हैं; परन्तु मेरे कथन का उद्देश्य ऐसा सिद्ध करना नहीं है। मैं तो केवल यही कहना चाहता हूँ कि इसके विपरीत विश्वास करने का कोई उपयुक्त हेतु नहीं है; इससे मेरा अभिप्राय है कि किसी भी मनुष्य को जो ऐसा शरीर लिये हुए है जो पृथ्वी पर रहा है, अपने शरीर के जीवनकाल में इसके विपरीत विश्वास करने का कोई उपयुक्त हेतु नहीं है। बहुत से दार्शनिकों ने, मैं सोचता हूँ, केवल यही विश्वास नहीं किया है कि या तो प्रत्येक शारीरिक तथ्य तार्किक रूप से किसी मानसिक तथ्य पर आश्रित है ("शारीरिक और मानसिक तथ्य" पदों को उसी अर्थ में समझा जाना चाहिये जिसमें मैं उनका प्रयोग कर रहा हूँ) या प्रत्येक शारीरिक तथ्य कारण रूप से किसी मानसिक तथ्य पर आश्रित है या दोनों प्रकार से, वरन् यह भी विश्वास किया है कि उनके स्वयं के पास ऐसे विश्वासों के लिये उपयुक्त हेतु था। अतः मेरा उनसे इस सम्बन्ध में भेद है।

"शारीरिक तथ्य" पद के प्रयोग को केवल उदाहरण देकर समझा सकता हूँ। मेरा शारीरिक तथ्यों से अभिप्राय निम्न प्रकार के सदृश तथ्यों से है : "वह अंगीठी-कानस अभी पुस्तक-कपाट की अपेक्षा इस शरीर के अधिक निकट है;" "पृथ्वी गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान रही है", "चन्द्रमा गत वर्षों से सदैव सूर्य की अपेक्षा इस पृथ्वी के अधिक निकट रहा है", "वह अंगीठी-कानस हलके रंग का है"। परन्तु जब मैं कहता हूँ "इन तथ्यों के सदृश", तो मेरा यह अभिप्राय किसी अपेक्षा से उनके सदृश तथ्यों से है; यह अपेक्षा क्या है मैं स्पष्ट नहीं कर सकता हूँ। "शारीरिक तथ्य" पद तो सामान्यतया प्रयुक्त होता है और मैं सोचता हूँ कि मैं तो इसका प्रयोग साधारण अर्थ में ही कर रहा हूँ। इसके अतिरिक्त मेरी बात को स्पष्ट करने के लिये कोई परिभाषा देने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि जो उदाहरण मैंने प्रस्तुत किये हैं उनमें से कुछ ऐसे हैं जिनके विषय में मेरा मत है कि उनको (अर्थात् इन विशेष शारीरिक तथ्यों को) तार्किक रूप से या कारण रूप से मानसिक तथ्य पर आश्रित मानने का कोई हेतु नहीं है।

दूसरी ओर, 'मानसिक तथ्य', 'शारीरिक तथ्य' से अधिक असाधारण पद है, और मैं इसका प्रयोग एक विशेष सीमित अर्थ में कर रहा हूँ, जो अर्थ संभवतया स्वाभाविक होते हुए भी स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। यह सही है कि दूसरे कई अर्थ हो सकते हैं जिनमें इस पद का उचित प्रयोग हो सकता है, परन्तु मेरा अभिप्राय तो सीमित अर्थ से है; और अतः यह आवश्यक है कि मैं इसका स्पष्टीकरण करूँ।

सम्भवतया, मेरे विचार से, तीन विभिन्न प्रकार के 'मानसिक तथ्य' हो सकते हैं। मुझे यकीन है कि केवल प्रथम प्रकार के मानसिक तथ्यों के बारे में यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के तथ्य है; परन्तु अन्य दो प्रकारों में से किसी भी प्रकार के तथ्य यदि हैं तो वे सीमित अर्थ में 'मानसिक तथ्य' है, और अतः मुझे इस बात का अवश्य स्पष्टीकरण करना चाहिये कि उन दो प्रकार के तथ्यों की प्राक्कल्पना से क्या अभिप्राय है।

[य] प्रथम प्रकार यह है : मैं अभी सचेत हूँ; और साथ में मै अभी किसी वस्तु का अवलोकन भी कर रहा हूँ। ये दोनों तथ्य प्रथम प्रकार के मानसिक तथ्य है; और मेरे प्रथम प्रकार के तथ्य के अन्तर्गत केवल वे ही तथ्य है जो इन दो प्रकारों में किसी एक के या दूसरे के किसी एक अपेक्षा से, सदृश है।

[च] यह बात कि मैं अभी सचेत विशेष व्यक्ति और विशेष समय के सम्बन्ध में किसी अर्थ में स्पष्टतया एक तथ्य है। इसके परिणाम स्वरूप यह कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति उस समय सचेत है। और प्रत्येक तथ्य जो इस अर्थ में इसके सदृश है, प्रथम प्रकार के मानसिक तथ्य के अन्तर्गत गर्भित है। इस प्रकार यह तथ्य कि मै गत दिवस भी विभिन्न समयों से सचेत था प्रथम प्रकार का तथ्य नही है : परन्तु इससे यह परिणाम निकलता है कि इस प्रकार के दूसरे वहुत से तथ्य है (या हमें साधारणतया 'थे' शब्द का प्रयोग करना चाहिये क्योकि वर्तमान में हमारा सम्बन्ध भूतकालीन समयों से है) अर्थात् ऐसे वे तथ्य है जिनको मै प्रत्येक प्रस्तुत समय में उचित रूप से यह कह कर कि "मैं अभी सचेत हूँ" व्यक्त कर सकता था। कोई भी तथ्य जो व्यक्ति और समय के वारे में इस अर्थ को लिये हुए है (चाहे व्यक्ति मै हूँ या दूसरा, और चाहे समय भूतकाल है अथवा वर्तमानकाल) और जिससे यह परिणाम निकलता है कि वह व्यक्ति उस समय सचेत है, प्रथम प्रकार के मानसिक तथ्य के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाना चाहिये : और मैं ऐसे तथ्यों को [च] वर्ग से सम्वन्धित तथ्य नाम देता हूँ।

[छ] मेरे द्वारा प्रस्तुत यह दूसरा उदाहरण कि मै अभी किसी वस्तु का अवलोकन कर रहा हूँ, इस तथ्य से कि मै अभी एक विशेष प्रकार से सचेत हूँ, स्पष्टतया सम्वन्धित है। इससे केवल यही परिणाम नही निकलता कि मैं अभी सचेत हूँ (क्योकि इस तथ्य से कि मै किसी वस्तु का अवलोकन कर रहा हूँ यह परिणाम निकलता है कि मै सचेत हूँ : यदि मैं सचेत नहीं होता तो किसी वस्तु का अवलोकन नहीं कर सकता था, यद्यपि यह सम्भव है कि मैं विना किसी वस्तु का अवलोकन किये सचेत हो सकता था), वरन् यह भी कि विशेष प्रकार से सचेत होना भी एक तथ्य है, जिसका अभिप्राय है कि मैं उस प्रकार सचेत हूँ : यह सब उसी अर्थ में जिस अर्थ में यह तर्क वाक्य (किसी विशेष वस्तु के सम्बन्ध मे) कि 'यह लाल है' इस तर्क वाक्य को (उसी वस्तु के सम्बन्ध मे) कि 'यह रूपवान है' जन्म देता है और यह रूपवान होने के एक विशेष प्रकार से सम्वन्धित तर्क वाक्य भी है; जिसका अभिप्राय है कि वह वस्तु उस प्रकार रूपवान है और किसी भी तथ्य को जो [च] वर्ग के किसी भी तथ्य से इस विशेष प्रकार से सम्वन्धित है मेरे प्रथम प्रकार के मानसिक तथ्य के अन्तर्गत सम्मिलित

किया जाना चाहिए, और उसे [छ] वर्ग का तथ्य नाम दिया जाना चाहिये। अतः यह तथ्य कि मैं अभी सुन रहा हूँ इस तथ्य के कि मैं अभी अवलोकन कर रहा हूँ सदृश होने से [छ] वर्ग का तथ्य है; और अपने से तथा भूतकाल से सम्बन्धित प्रत्येक तथ्य ऐसा है, जिसे उस भूतकाल में यह कह कर उचित प्रकार से व्यक्त किया जा सकता था कि 'मैं अभी स्वप्न देख रहा हूँ', 'मैं अभी कल्पना कर रहा हूँ', 'मैं वर्तमान में इस तथ्य से अभिज्ञ हूँ'—इत्यादि। संक्षेप में, 'कोई भी तथ्य जो विषय व्यक्ति (स्वयं अथवा अन्य)' विशेष समय (भूतकाल अथवा वर्तमान काल), और किसी विशेष प्रकार के अनुभव से ऐसा सम्बन्धित है कि उस व्यक्ति को उस समय उस विशेष प्रकार का अनुभव है, एक [छ] वर्ग का तथ्य है और केवल ऐसे तथ्य ही [छ] वर्ग के तथ्य हैं।

मेरे प्रथम प्रकार के मानसिक तथ्यों में केवल [च] और [छ] से सम्बन्धित तथ्य ही सम्मिलित हैं और वे सब तथ्य सम्मिलित हैं जो इनमें से किसी भी प्रकार के हैं।

[र] यह कि [च] और [छ] वर्गों के बहुत से तथ्य हैं मुझे पूर्णतया निश्चित प्रतीत होता है। परन्तु बहुत से दार्शनिकों ने [च] वर्ग के तथ्यों के विश्लेषण के सम्बन्ध में एक ऐसा दृष्टिकोण अपनाया प्रतीत होता है कि यदि यह विश्लेषण सत्य है तो दूसरे प्रकार के भी तथ्य होंगे जिन्हें भी मैं मानसिक तथ्य कहना चाहूँगा। मुझे जरा भी विश्वास नहीं है कि यह विश्लेषण सत्य है, लेकिन मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह सत्य हो सकता है; और क्योंकि हम इस बात को समझ सकते हैं कि यह सत्य है, ऐसा मानने से क्या अभिप्राय है, हम यह भी समझ सकते हैं कि इस दूसरे प्रकार के मानसिक तथ्य हैं, ऐसा मानने का क्या अभिप्राय है।

बहुत से दार्शनिकों ने इस विश्लेषण के बारे में कि हममें से प्रत्येक उस समय क्या जानता है जब वह यह जानता (किसी समय) है कि "मैं अभी सचेत हूँ", निम्नलिखित विचार अपनाया है। उन्होंने इस विचार को अपनाया है कि कोई एक आन्तरिक गुण है (जिससे हम सब परिचित हैं और जिसे 'अनुभव' का नाम दिया जा सकता है) जो ऐसा है कि किसी भी समय जब कोई मनुष्य यह जानता है कि "मैं अभी सचेत हूँ" तो वह, उस गुण के, अपने आप के, और समय के बारे में यह जान रहा है कि अभी एक ऐसी घटना घटित हो रही है जो इस गुण सहित है (अर्थात् जो एक अनुभव है) और जो एक मेरा अनुभव है, और यह तथ्य ऐसा है जैसा वह इस वाक्य के द्वारा कि "मैं अभी सचेत हूँ" प्रकट करता है। और यदि यह विचार सत्य है तो बहुत से तथ्य होने चाहिये जिनमें से प्रत्येक तीन प्रकार का है. उनमें से प्रत्येक को मुझे मानसिक तथ्य नाम देना चाहिये। अर्थात् (१) तथ्य जो किसी ऐसी घटना से सम्बन्धित है जो उपर्युक्त माने गये आन्तरिक गुण सहित है और जो किसी ऐसे समय में सम्बन्धित है कि जिसके परिणाम स्वरूप यह कहा जा सके कि वह घटना उस समय घटित हो रही है (२; तथ्य जो इस कल्पित आन्तरिक गुण और किसी समय से ऐसे सम्बन्धित है कि जिनके परिणाम स्वरूप यह कहा जा सके कि अमुक घटना जो उस गुण सहित है उस समय घटित हो रही है और (३) तथ्य जो किसी ऐसे गुण से सम्बन्धित है

जो कल्पित आन्तरिक गुण होने का एक विशेष प्रकार है (उसी अर्थ में जिस अर्थ में ऊपर व्याख्या की गई है कि लाल होना रूपवान होने का एक विशेष प्रकार है) और जो किसी समय से ऐसे सम्बन्धित है कि जिसके परिणाम स्वरूप यह कहा जा सके कि कोई घटना जो उस विशेष गुण सहित है उस समय घटित हो रही है। अवश्य यह बात है कि उपर्युक्त प्रकार के तथ्य न केवल नहीं है वरन् सम्भव ही नही हो सकते हैं, यदि उससे सम्बन्धित आन्तरिक गुण न हो जिसे हममे से प्रत्येक (किसी भी अवसर पर) उपर्युक्त प्रकार से परिभाषित इस कथन द्वारा कि मै अभी सचेत हूँ प्रकट करता है; और मुझे ऐसे गुण के होने में अत्यन्त सदेह है; दूसरे शब्दों मे, यद्यपि मुझे इन दोनों बातों का सुनिश्चित ज्ञान है कि मुझे बहुत से अनुभव हुए हैं और कि मुझे बहुत से प्रकार के अनुभव हुए हैं, तथापि मुझे इस बात में अत्यन्त सदेह है कि प्रथम कथन से वही अभिप्राय है जो इस कथन से है कि बहुत सी ऐसी घटनाएँ हुई हैं, जिनमे से प्रत्येक एक अनुभव थी और मेरा अनुभव थी; और मुझे इस बात में भी अत्यन्त संदेह है कि द्वितीय कथन से वही अभिप्राय है जो इस कथन से है कि बहुत सी ऐसी घटनाएँ हुई है जिनमें से प्रत्येक मेरा अनुभव थी और जिनमें, से प्रत्येक एक ऐसा भिन्न गुण लिये हुए थी जो अनुभव होने का एक विशेप प्रकार थी। यह तर्क वाक्य कि मुझे अनुभव हुए हैं इस तर्क वाक्य को आवश्यक रूप से उत्पन्न नही करता कि कुछ घटनाएँ ऐसी हुई है जो अनुभवात्मक थी, और मै इस कथन से अपने आपको सन्तुष्ट नही कर सकता कि मै उपर्युक्त कल्पित प्रकार की घटनाओं से परिचित हूँ। परन्तु फिर भी मुझे यह सम्भव प्रतीत होता है कि "मैं अभी सचेत हूँ' इसका प्रस्तुत विश्लेषण उचित है, मैं उपर्युक्त प्रकार की घटनाओं से वास्तव मे परिचित हूँ, यद्यपि मुझे यह दृष्टिगोचर नही होता कि मै परिचित हूँ। और यदि मैं परिचित हूँ तो मुझे उपर्युक्त विवेचित तीन प्रकार के तथ्यों को 'मानसिक तथ्य' कहने की वाञ्छा होनी चाहिये। यह अवश्य है कि यदि उपर्युक्त अर्थ में परिभाषित अनुभव है तो यह सम्भव होगा (जैसा बहुतों ने विचारा) कि ऐसे कोई अनुभव नही हो सकते जो किसी व्यक्ति के अनुभव न हों, और उस स्थिति में उपर्युक्त तीन प्रकारों में से कोई भी तथ्य [च] या [छ] वर्ग के किसी तथ्य पर तार्किक रूप से आश्रित होगा, यद्यपि आवश्यक रूप से उनसे अभिन्न नही होगा। परन्तु मुझे यह भी सम्भावना प्रतीत होती है कि यदि "अनुभव" है तो अनुभव ऐसे भी हो सकते है जो किसी व्यक्ति से सम्बन्धित न हों, और उस स्थिति में, ऐसे मानसिक तथ्य होंगे जो [च] या [छ] वर्ग के किसी भी तथ्य से न अभिन्न होंगे और न उनमें से किसी पर तार्किक रूप से आश्रित।

[ज] अन्त में, कुछ दार्शनिकों ने, जहाँ तक मै विचार सका हूँ, यह स्वीकार किया है कि ऐसे तथ्य है या हो सकते है जो किसी ऐसे व्यक्ति से सम्बन्धित तथ्य है, जिससे यह परिणाम निकलता है कि वह सचेत है या कि किसी विशेप प्रकार से सचेत है, परन्तु जो तथ्य [च] और [छ] वर्गो के तथ्यों से इस मुख्य बात में भिन्न है कि वे किसी विशेष समय से सम्बन्धित तथ्य नहीं है : उन्होने इस बात की सम्भावना प्रकट की है कि एक या एक से अधिक व्यक्ति हो सकते है जो समयातीत सचेत हों और जो विशेष प्रकार से समयातीत सचेत हों। और दूसरों ने इस प्राक्कल्पना को विचारा है कि [र] में वर्णित आन्तरिक

गुण ऐसा हो सकता है जो केवल किसी घटना से ही सम्बधित न हो वरन् जो एक या एक से अधिक ऐसे गुणों से भी सम्बन्धित हों जो किसी समय घटित नहीं होते हैं : दूसरे शब्दों में, यह कि एक या एक से अधिक समयातीत अनुभव हो सकते है जो किसी व्यक्ति के अनुभव हों या न हों। मुझे यह अत्यन्त संदिग्ध प्रतीत होता है कि उपर्युक्त प्राक्कल्पनाओं में मे कोई सम्भवतया भी सत्य हो; परन्तु मैं यह सुनिश्चित रूप से नहीं कह सकता हूँ कि वे सम्भव ही नहीं है : और वे यदि सम्भव हैं तो मैं 'मानसिक तथ्य' की संज्ञा से निम्नलिखित पाँचों में किसी को भी इंगित कर सकता हूँ अर्थात् (१) किसी भी तथ्य को जो किसी व्यक्ति मे सम्बन्धित तथ्य है और वह यह है कि वह व्यक्ति समयातीत सचेत है (२) किसी भी तथ्य को जो किसी व्यक्ति से सम्बन्धित तथ्य है और वह यह है कि वह व्यक्ति एक विशेष रीति से समयातीत सचेत है (३) किसी भी तथ्य को जो समयातीत अनुभव के अस्तित्व की स्वीकृति से सम्बन्धित है (४) किसी भी तथ्य को जो अनुभव के कल्पित आन्तरिक गुण से सम्बन्धित है, वह यह है कि किसी समयातीत वस्तु का अस्तित्व है जो उस गुण को लिये हुए है और (५) किसी भी तथ्य को जो किसी भी ऐसे गुण से सम्बन्धित तथ्य है जो इस कल्पित आन्तरिक गुण की विशेष पर्याय है, वह यह है कि समयातीत वस्तु का अस्तित्व है जो उस गुण को लिये ए है।

मैंने तीन विभिन्न प्रकार के तथ्यों की परिभाषा प्रस्तुत की है; उनमें से प्रत्येक तथ्य ऐसा है कि यदि उस प्रकार के कोई तथ्य हों (जैसे कि प्रथम प्रकार के तथ्य निश्चित रूप से हैं) तो प्रस्तुत तथ्य मेरे अर्थ में मानसिक तथ्य होंगे; और जिस सीमित अर्थ में मैं "मानसिक तथ्यों" पद का प्रयोग कर रहा हूँ उसकी व्याख्या करने लिये मुझे केवल यह जोड़ना है कि मैं तथ्यों के एक चौथे वर्ग को भी यही नाम देने का इच्छुक हूँ, अर्थात् किसी भी तथ्य को जो तीन प्रकार के तथ्यों में से किसी एक से भी सम्बन्धित तथ्य है, या उनमें समाविष्ट किसी भी प्रकार को, और मुझे यह कहना है कि प्रस्तुत प्रकार के तथ्य हैं; अर्थात् [च] वर्ग का कोई विशेष तथ्य ही केवल मेरे अर्थ में मानसिक तथ्य नहीं होगा, वरन् यह सामान्य तथ्य भी कि '[च] वर्ग के तथ्य है' एक मानसिक तथ्य होगा, और उसी प्रकार दूसरों के बारे में है : उदाहरणार्थ, न केवल यह तथ्य कि मैं अभी प्रत्यक्ष कर रहा हूँ (यह [छ] वर्ग का तथ्य है) एक मानसिक तथ्य होगा, वरन् यह सामान्य तथ्य भी कि व्यक्तियों और समयों से सम्बन्धित तथ्य हैं, जिसके परिणाम स्वरूप यह कहना कि प्रस्तुत व्यक्ति प्रस्तुत समय में प्रत्यक्ष कर रहा है, एक मानसिक तथ्य होगा।

[क] यदि 'शारीरिक तथ्य' और 'मानसिक तथ्य' पदों को उपयुक्त अर्थों में समझा जाय, तो मेरा विश्वास है कि ऐसा मानने का कोई उपयुक्त हेतु नहीं है कि प्रत्येक शारीरिक तथ्य किसी मानसिक तथ्य पर तार्किक रूप से आश्रित है। और मैं इन दो तथ्यों के बारे में प१ और प२ शब्दों का प्रयोग करता हूँ "प१ तार्किक रूप से प२ पर आश्रित है" यह केवल वहाँ ही सम्भव है जहाँ प१ प२ को उत्पन्न करता है, या तो इस अर्थ में कि जिसमें "मैं अभी अवलोकन कर रहा हूँ" तर्क वाक्य "मैं अभी सचेत हूँ" तर्क वाक्य को उत्पन्न करता है, या

जिसमें "यह लाल है" तर्क वाक्य (किसी विशेष वस्तु के बारे में) "यह रूपवान है" तर्क वाक्य को उत्पन्न करता है, या इस अधिक दृढ़ तार्किक अर्थ में कि जिसमें (उदाहरणार्थ) संयुक्त तर्क वाक्य "सब मनुष्य मरणशील है" और "श्री बाल्डविन एक मनुष्य है", "श्री बाल्डविन मरणशील है" तर्क वाक्य को उत्पन्न करता है तो दो तथ्यों प१ और प२ के बारे में यह कहना कि प१ तार्किक रूप से प२ पर आश्रित नहीं है केवल यह कहने के समान है कि प१ एक तथ्य हो सकता है, यद्यपि कोई प२ तथ्य न रहा हो। या केवल यह कहने के सामान है कि संयुक्त तर्क वाक्य प१ एक तथ्य है, लेकिन प२ कोई तथ्य नहीं है "एक ऐसा तर्क वाक्य है जो आत्म विरोधी नहीं है, अर्थात् जो दो परस्पर असंगत तर्क वाक्यों को उत्पन्न नहीं करता।

तो मेरा विश्वास है कि कुछ शारीरिक तथ्यों के विषय में यह मानने का कोई उपयुक्त हेतु नही है कि इस प्रकार का कोई मानसिक तथ्य है जैसे कि प्रस्तुत शारीरिक तथ्य सम्भव नहीं हो सकता था यदि प्रस्तुत मानसिक तथ्य न होता। और मेरी स्थिति पूर्णतया स्पष्ट है चूँकि मेरा विश्वास है कि उन चारों शारीरिक तथ्यों के लिये जिनके उदाहरण शारीरिक तथ्यों के रूप में मैंने दिए है, यह बात सत्य है। उदाहरणार्थ, यह मानने का कोई उपयुक्त हेतु नहीं है कि कोई इस प्रकार का मानसिक तथ्य है जैसे कि यह तथ्य कि अंगीठी-कानस वर्तमान में पुस्तक-कपाट की अपेक्षा मेरे शरीर के अधिक समीप है सम्भव नहीं हो सकता था यदि प्रस्तुत मानसिक तथ्य न होता, और इसी प्रकार, दूसरे तीन उदाहरणों के बारे में समझना चाहिए।

इस प्रकार स्वीकार करने में मै निश्चित रूप से दूसरे कुछ दार्शनिकों से भी भिन्न हूँ। उदाहरणार्थ, मैं बर्कले से भिन्न हूँ जिसने यह विचार प्रस्तुत किया कि वह अंगीठी-कानस, वह पुस्तक-कपाट और मेरा शरीर—ये सब या तो प्रत्यय है या प्रत्ययों द्वारा निर्मित हैं और यह कि किसी भी प्रत्यय का बिना प्रत्यक्ष किये अस्तित्व सम्भव नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि उसने स्वीकार किया कि ये उपर्युक्त शारीरिक तथ्य मेरे चौथे वर्ग के मानसिक तथ्य पर तार्किक रूप से आश्रित है : अर्थात् कम से कम एक तथ्य ऐसा है जो एक व्यक्ति और वर्तमान समय से सम्बन्धित तथ्य है, जिसके परिणाम स्वरूप यह कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति अभी कुछ प्रत्यक्ष कर रहा है। उसके कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि यह शारीरिक तथ्य मेरे प्रथम तीन वर्गों में से किसी एक तथ्य पर तार्किक रूप से आश्रित है, उदाहरणार्थ, किसी ऐसे तथ्य पर जो विशेष व्यक्ति और वर्तमान समय से सम्बन्धित है, (उसके कहने का अभिप्राय यह भी नहीं है) कि वह व्यक्ति अभी कुछ प्रत्यक्ष कर रहा है। उसका कहने का अभिप्राय तो यह है कि शारीरिक तथ्य सम्भव ही नहीं हो सकता था, यदि ऐसा तथ्य नहीं होता कि इस प्रकार का कोई मानसिक तथ्य है और—मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से दार्शनिक जो या तो बर्कले की इस मान्यता से कि मेरा शरीर एक प्रत्यय या प्रत्ययों द्वारा निर्मित है या इस मान्यता से कि प्रत्ययों का अस्तित्व बिना प्रत्यक्ष किये सम्भव नहीं है या दोनों मान्यताओं से सम्भवतया असहमत होते हुए भी उससे इस बात में सहमत होंगे कि यह शारीरिक तथ्य किसी मानसिक तथ्य पर तार्किक रूप से आश्रित है। अर्थात्

वे यह कह सकते हैं कि इसका तथ्य होना सम्भव नहीं या यदि किसी समय में या समयातीत रूप से कोई अनुभव नहीं होता। जहां तक मैं सोचता हूं, वास्तव में बहुतों ने यह स्वीकार किया है कि प्रत्येक तथ्य दूसरे प्रत्येक तथ्य पर तार्किक रूप से आश्रित है। और उन्होंने अपने विचार में जैसे बर्कले ने अपने विचार में, स्वीकार किया है कि उनके पास उनके लिए उपयुक्त प्रमाण हैं।

[ख] मेरा यह भी मत है कि यह मानने का कोई उपयुक्त हेतु नहीं है कि प्रत्येक शारीरिक तथ्य कारण रूप से किसी मानसिक तथ्य पर आश्रित है। इस कथन द्वारा कि प१ प२ पर कारण रूप से आश्रित है, मेरा केवल यही अभिप्राय है कि प१ तथ्य ही नहीं होता यदि प२ न होता: मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि (जैसे 'तार्किक रूप से आश्रित का' कथन है) प१ विचारात्मक रूप से तथ्य नहीं हो सकता यदि प२ न होता। और मैं मेरे अर्थ की उदाहरण द्वारा, जो मैंने अभी दिया है, व्याख्या कर सकता हूं। यह तथ्य कि वह अंगीठी-कानस वर्तमान में पुस्तक-कपाट की अपेक्षा मेरे शरीर के अधिक समीप है, तार्किक रूप से (जैसे मैंने अभी समझाया है), जहां तक मैं सोचता हूं, किसी मानसिक तथ्य पर आश्रित नहीं है, यदि कोई भी मानसिक तथ्य न होते तो भी यह एक तथ्य होता। परन्तु यह निश्चित रूप से बहुत से मानसिक तथ्यों पर कारण रूप से आश्रित है। मेरा शरीर यहाँ नहीं होता यदि मैं भूतकाल में विभिन्न तरीकों से सचेत न होता और अंगीठी-कानस और पुस्तक-कपाट निश्चित रूप से अस्तित्वमान नहीं होते, यदि अन्य व्यक्ति भी सचेत न होते।

परन्तु उन दो तथ्यों के सम्बन्ध में जिनको मैंने शारीरिक तथ्यों के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया था, अर्थात् यह तथ्य कि पृथ्वी गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान रही है और यह तथ्य कि चन्द्रमा गत बहुत वर्षों से सूर्य की अपेक्षा पृथ्वी के अधिक समीप है, मेरा मत है कि यह मानने का कोई उपयुक्त हेतु नहीं है कि ये किसी मानसिक तथ्य पर कारण रूप से आश्रित है। जहाँ तक मैं सोच सकता हूँ, इसको मानने का कोई उपयुक्त हेतु नहीं है कि ऐसा कोई मानसिक तथ्य है जिसके विषय में यह सत्य रूप से कहा जा सके कि यदि यह तथ्य न होता तो पृथ्वी का गत बहुत वर्षों से अस्तित्व न होता। और इस प्रकार का मत रखने में, मैं सोचता हूँ. फिर मेरा कुछ दार्शनिकों से भेद है। उदाहरणार्थ, मेरा उन दार्शनिकों से भेद है जिन्होंने यह स्वीकार किया है कि सब भौतिक वस्तुएँ ईश्वर द्वारा रचित थीं और उनके पास इस कल्पना के लिये उपयुक्त प्रमाण थे।

मैंने अभी इस बात की व्याख्या की है कि मेरा उन दार्शनिकों से भेद है जिन्होंने यह स्वीकार किया है कि यह मानने का उपयुक्त प्रमाण है कि भौतिक वस्तुएँ ईश्वर द्वारा रची गई। और मेरे विचार से मेरी स्थिति में एक महत्वपूर्ण बात जिसे व्यक्त करना है, वह यह है कि मेरा उन सब दार्शनिकों से भेद है जिन्होंने यह स्वीकार किया है कि इस बात को मानने का उपयुक्त प्रमाण है कि ईश्वर का अस्तित्व है। चाहे उन्होंने इस सम्भावना को स्वीकार किया हो या नहीं कि ईश्वर ने सब भौतिक वस्तुओं को रचा।

और उसी प्रकार, इसके विपरीत कि कुछ दार्शनिकों ने स्वीकार किया है कि यह

मानने का उपयुक्त प्रमाण है कि हम, मनुष्य मृत्यु-उपरांत अस्तित्व में और सचेत रहेंगे, मेरा मत है इसको मानने का कोई उपयुक्त प्रमाण नहीं है।

मैं अब एक भिन्न बात की व्याख्या की ओर अग्रसर होता हूँ :

जैसा कि मैंने प्रथम शीर्षक के अन्तर्गत बताया है, मै ऐसे तर्क वाक्यों की जैसे "पृथ्वी गत बहुत वर्षों से अस्तित्वमान है", "बहुत मनुष्य शरीरी इसके ऊपर बहुत वर्षों से रह रहे हैं", अर्थात् उन तर्क वाक्यों की जो भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं, सत्यता के सम्बन्ध में बिलकुल संदिग्ध नहीं हूँ। इसके विपरीत मेरा मत है कि हम सब को बहुत से ऐसे तर्क वाक्यों की सत्यता का सुनिश्चित रूप से ज्ञान है। परन्तु मैं ऐसे तर्क वाक्यों के, कई दृष्टिकोणों से, उचित विश्लेपण के सम्बन्ध में बहुत संदिग्ध हूँ और यह एक ऐसी बात है जिसके बारे में, मैं सोचता हूँ, मेरा दूसरे बहुत से दार्शनिकों से भेद है। बहुतों का यह मत प्रतीत होता है कि उनके विश्लेपण के बारे में तो कोई संदेह नहीं है, और न ही इसलिये उनके अनुसार संदेह है इस तर्क वाक्य के कि "भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व रहा है" कई अपेक्षाओं से विश्लेपण के बारे में, जिनमें मेरा मत है कि प्रस्तुत तर्क वाक्यों का विश्लेषण अति संदिग्ध है; और जैसा हमने व्यक्त किया है, कि कुछ दार्शनिक यद्यपि यह स्वीकार करते है कि उनके विश्लेपण के बारे में कोई सदेह नहीं है, फिर भी उन्होंने ऐसे तर्क वाक्यों की सत्यता के बारे में सदेह किया है। मेरा इसके विपरीत मत होते हुए भी कि इसमें कोई संदेह नहीं है कि बहुत से ऐसे तर्क वाक्य पूर्णतया सत्य है। मै यह स्वीकार करता हूँ कि अब तक कोई दार्शनिक उनका कई मुख्य बातों के सम्बन्ध में ऐसा विश्लेपण करने में सफल नहीं हुआ है जो निश्चित रूप से सत्य होने के बहुत निकट है।

मुझे यह बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह प्रश्न कि अभी मैंने जो तर्क वाक्य प्रस्तुत किये है, उनका विश्लेपण कैसे किया जाय, इस प्रश्न पर आश्रित है कि दूसरे और अधिक सरल तर्क वाक्यों का विश्लेपण कैसे किया जाय। वर्तमान में मुझे ज्ञात है कि मैं एक मनुष्य के हाथ का, कलम का कागज के पन्ने इत्यादि का, प्रत्यक्ष कर रहा हूँ; और मुझे यह प्रतीत होता है कि मुझे इस बात का ज्ञान नहीं हो सकता कि इस तर्क वाक्य का कि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व है किस प्रकार विश्लेषण किया जाय, जब तक मुझे इस बात का ज्ञान नहीं हो कि किस प्रकार इन अधिक सरल तर्क वाक्यों का कुछ--एक दृष्टिकोणों से विश्लेषण किया जाय। परन्तु ये तर्क वाक्य भी पर्याप्त रूप से सरल नहीं हैं। मुझे यह बिल्कुल स्पष्ट प्रतीत होता है कि मेरा ज्ञान कि मै अभी एक मनुष्य के हाथ का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ उन अधिक सरल तर्क वाक्यों के युगल से निगमित है जिन को मैं केवल इस रूप में व्यक्त कर सकता हूँ "मैं इसका प्रत्यक्ष कर रहा हूँ" और "यह एक मनुष्य का हाथ है"। इन पिछले प्रकार के तर्क वाक्यों का विश्लेपण ऐसा है जो मेरे लिये उपर्युक्त कठिनाइयाँ उपस्थित करता है; फिर भी भौतिक वस्तुओं की प्रकृति के सम्बन्ध में प्रश्न उनके विश्लेपण पर स्पष्ट रूप से आश्रित है। मुझे यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि बहुत कम दार्शनिकों ने, भौतिक वस्तुएँ क्या हैं इस के बारे में और उनको प्रत्यक्ष करने से क्या अभिप्राय है, इस बारे में अत्यधिक रूप से कहते हुए, इस

बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि वे इस बात को जानने में (या निर्णय करने में, जब उन्होंने यह स्वीकार किया है कि हमें ऐसे किसी भी तर्क वाक्य की सत्यता का ज्ञान नहीं है या यह भी कि ऐसा कोई तर्क वाक्य सत्य नहीं है) कि जब वे ऐसी बातों को जानते या उनका निर्णय करते हैं जैसे "यह एक हाथ है", "वह सूर्य है", "यह एक कुत्ता है", इत्यादि, इत्यादि, अपने आप निश्चित रूप से क्या जानने की कल्पना करते हैं ।

ऐसे तर्क वाक्यों के विश्लेषण के बारे में मुझे केवल दो बातें बिल्कुल निश्चित प्रतीत होती हैं (और उनके बारे में भी मुझे भय है मेरा कुछ दार्शनिकों से भेद है) अर्थात् जब कभी मैं जानता हूँ या निर्णय करता हूँ कि यदि ऐसा एक तर्क वाक्य सत्य है तो (१) सदैव कोई संवेद प्रदत्त होता है जिसके बारे में प्रस्तुत तर्क वाक्य एक तर्क वाक्य है अर्थात् कोई संवेद प्रदत्त होता है जो प्रस्तुत तर्क वाक्य का विषय है (और किसी अर्थ में मुख्य या अन्तिम विषय), और (२) फिर भी जो कुछ मैं इस संवेद प्रदत्त की सत्यता के बारे में जान रहा हूँ या निर्णय कर रहा हूँ वह (सामान्यतया) यह नहीं है कि यह स्वयं ही एक हाथ है या एक कुत्ता है या सूर्य है, इत्यादि, इत्यादि जैसा भी विषय हो ।

कुछ दार्शनिकों ने, मैं सोचता हूँ, यह सन्देह प्रकट किया है कि क्या ऐसी वस्तुएँ हैं जैसी दूसरे दार्शनिकों ने संवेद प्रदत्तों या संवेदों से समझी है और मेरे विचार से यह बिल्कुल सम्भव है कि कुछ दार्शनिकों ने (जिनमें पहिले भी मैं सम्मिलित था) इन पदों को ऐसे अर्थों में प्रयुक्त किया है जिससे यह वस्तुतः सन्देहात्मक हो जाता है कि ऐसी वस्तुएँ हैं । परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि संवेद प्रदत्त, जिस अर्थ में मैं अभी इस पद का प्रयोग कर रहा हूँ, होते हैं । मैं अभी उनकी बहुत बड़ी संख्या को देख रहा हूँ और दूसरों का अनुभव कर रहा हूँ । और केवल पाठक को यह बतलाने के लिए कि संवेद प्रदत्तों से किस प्रकार की वस्तुओं का मेरा अभिप्राय है, मैं केवल उससे उसके दाहिने हाथ की ओर देखने को कहूँगा । यदि वह ऐसा करता है तो वह किसी वस्तु को (और यदि वह दो वस्तुओं को नहीं देख रहा है तो केवल एक वस्तु को) चुन सकेगा जिसके बारे में वह यह समझेगा कि प्रथम दृष्टि में ऐसा स्वीकार करना स्वाभाविक है कि वह वस्तु उसके सम्पूर्ण दाहिने हाथ से वस्तुतः अभिन्न नहीं है, वरन् इसकी सतह के उसी भाग से अभिन्न है जिसको वह वास्तव में देख रहा है, परन्तु वह (कुछ विचार करने के पश्चात्) यह भी समझ सकेगा कि उस वस्तु का प्रस्तुत हाथ की सतह के भाग से अभिन्न हो सकना भी, संदिग्ध है । जिस प्रकार की यह वस्तु है उस प्रकार की वस्तुओं को (किसी एक दृष्टिकोण से) जिनको वह हाथ की ओर दृष्टिपात करने पर देखता है और जिनके बारे में वह यह समझ सकता है कि किस प्रकार कुछ दार्शनिकों ने इसको उसके हाथ की सतह का भाग, जिसको वह देख रहा है, मान लिया है जब कि दूसरों ने माना है कि ऐसा नहीं हो सकता है, मैं संवेद प्रदत्त कहता हूँ । अतः मैं इस पद की परिभाषा इस प्रकार से प्रस्तुत करता हूँ कि यह एक स्पष्ट प्रश्न हो जाता है कि जिस संवेद प्रदत्त को मैं अपने हाथ की ओर दृष्टिपात करने पर अभी देखता हूँ और जो मेरे हाथ का संवेद प्रदत्त है, क्या वे इसकी सतह के उस भाग से जिसको मैं अभी वास्तव में देख रहा हूँ,

भिन्न है, या अभिन्न[1]

जब मैं यह जानता हूँ कि "यह एक मनुष्य का हाथ है" तो इस संवेद प्रदत्त के विषय में जो कुछ मैं जानता हूँ वह यह नहीं है कि वह (सवेद प्रदत्त) स्वयं एक हाथ है। मुझे यह बात सत्य प्रतीत होती है, क्योंकि मुझे विदित है कि मेरे हाथ के कई भाग है (उदाहरणार्थ, इसकी दूसरी तरफ का भाग, और इसके अन्दर की हड्डियाँ) जो बिल्कुल निश्चित रूप से इस सवेद प्रदत्त के भाग नही हैं।

मैं इसलिये इसे निश्चित समझता हूँ कि, "इस तर्क वाक्य का विश्लेषण कि "यह एक मनुष्य का हाथ है" कम से कम मोटे रूप से इस आकार का है : "कि एक वस्तु है, और केवल एक वस्तु है, जिसके बारे में दोनों बातें सत्य है कि *यह एक मनुष्य का हाथ है* और यह सतह इसकी सतह का एक भाग है"। दूसरे शब्दों में, यदि मैं अपने विचार को प्रतिनिध्यात्मक प्रत्यक्ष के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करूँ, तो मैं इसे पूर्णतया स्वीकार करता हूँ कि मैं अपने हाथ का प्रत्यक्ष सीधा नही करता हूँ और यह भी स्वीकार करता हूँ कि जब मुझे इसे प्रत्यक्ष करने को कहा जाता है तो जो मै प्रत्यक्ष करता हूँ उसका अभिप्राय यह होता है कि मै किसी ऐसी वस्तु का प्रत्यक्ष करता हूँ (एक भिन्न और आधार भूत अर्थ में) जो (एक उचित अर्थ में) उसका प्रतिनिधित्व करती है अर्थात् इसकी सतह के किसी "एक भाग" का।

जो कुछ मुझे इस तर्क वाक्य *'यह एक मनुष्य का हाथ है'* के विश्लेषण के बारे में निश्चित रूप से स्वीकार है वह यही उपरोक्त बात है। हम बतला चुके हैं कि इसके विश्लेषण के अन्तर्गत एक इस आकार का तर्क वाक्य 'यह मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है' समाविष्ट है (यद्यपि 'यह' शब्द उससे भिन्न अभिप्राय रखता है जो इसका अभिप्राय ऐसे मूल वाक्य में है जिसका विश्लेषण अभी प्रस्तुत किया जा चुका है)। परन्तु यह तर्क वाक्य भी निस्संदेह उस संवेद प्रदत्त के बारे में एक तर्क *वाक्य* है जिसे मैं प्रत्यक्ष कर रहा हूँ जो मेरे हाथ का संवेद प्रदत्त है। और इसलिये जो नया प्रश्न उठता है वह यह है . जब मैं जानता हूँ कि 'यह एक मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है' तो मै प्रस्तुत सवेद प्रदत्त के सम्बन्ध में क्या जान रहा हूँ ? इस उपर्युक्त विषय में, क्या मैं वास्तव में प्रस्तुत संवेद प्रदत्त के बारे में यह जान रहा हूँ कि यह स्वयं मनुष्य के हाथ की सतह का एक भाग है ? या जैसा इस तर्क वाक्य *'यह एक मनुष्य का हाथ है'* के विषय में पाया कि जो कुछ मै संवेद प्रदत्त के बारे में जान रहा था वह निश्चित रूप से यह नही था कि *यह स्वय एक मनुष्य का हाथ था*, अतः क्या यही बात शायद इस नये तर्क वाक्य के बारे में है कि, यहाँ भी मै सवेद प्रदत्त के बारे में यह नहीं जान रहा हूँ कि यह स्वयं हाथ की सतह का भाग है ? और यदि यही बात है तो प्रश्न यह है कि जो कुछ मैं संवेद प्रदत्त के बारे मे जान रहा हूँ, वह क्या है ?

यह ऐसा प्रश्न है जिसके बारे में, जैसा कि मुझे प्रतीत होता है किसी भी दार्शनिक ने अब तक ऐसा उत्तर नहीं दिया जो निश्चित रूप से सत्य के निकट हो।

मुझे तीन और केवल तीन प्रकार के उत्तर सम्भावित प्रतीत होते हैं, और इनमें से किसी प्रकार का अभी तक जो उत्तर दिया गया, उसके बारे में मुझे अति गम्भीर आक्षेप दिखाई देते हैं।

(१) पहिले प्रकार का केवल एक उत्तर है : वह यह है कि उपर्युक्त उदाहरण में जो कुछ मैं वास्तव में जान रहा हूँ उसके अनुसार संवेद प्रदत्त स्वयं मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है। दूसरे शब्दों में, मैं इसकी सतह के कुछ भाग का सीधा प्रत्यक्ष करता हूँ, यद्यपि मैं अपने हाथ का सीधा प्रत्यक्ष नहीं करता हूँ, और संवेद प्रदत्त स्वयं इसकी सतह का यह भाग है और न केवल ऐसा भाग जो इसकी सतह के इस भाग का प्रतिनिधित्व करता है; (एक अर्थ में जिसे अभी मालूम करना है), अतः जिस अर्थ में मैं अपने हाथ की सतह के इस भाग का 'प्रत्यक्ष' करता हूँ वह ऐसा अर्थ नहीं है जिसे 'प्रत्यक्ष करने' के किसी तीसरे अन्तिम अर्थ के दृष्टिकोण से स्पष्ट करने की आवश्यकता हो, और जो ही केवल वह अर्थ हो जिसमें प्रत्यक्ष सीधा हो, अर्थात् वही अर्थ जिसमें मैं संवेद प्रदत्त का सीधा प्रत्यक्ष करता हूँ।

यदि उपर्युक्त विचार सत्य है (जैसा मैं सोचता हूँ कि यह हो सकता है), तो मुझे यह निश्चित प्रतीत होता है कि हमें उस विचार को जो बहुत से दार्शनिकों द्वारा सत्य स्वीकार किया गया है त्याग देना चाहिए, अर्थात् उस विचार को कि हमारे संवेद प्रदत्त सदैव वास्तव में वे गुण रखते है जो हमें रखते हुए प्रतीत होते हैं। क्योंकि मैं इस बात को जानता हूँ कि यदि कोई दूसरा मनुष्य उसी सतह की ओर जिसे मैं नग्न आँखों से देख रहा हूँ सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से देखे तो संवेद प्रदत्त जो उसने देखा उसे उससे बिलकुल भिन्न और असंगत गुणों को लिये हुए प्रतीत होगा जो मेरा संवेद प्रदत्त मुझे प्रतीत होता है; और फिर भी यदि मेरा संवेद प्रदत्त उस सतह से जिसे हम दोनों देख रहे हैं अभिन्न है तो उसका संवेद प्रदत्त भी उस सतह से अभिन्न होना चाहिए। अतः मेरा संवेद प्रदत्त इस सतह से अभिन्न केवल एक शर्त पर हो सकता है जो यह है कि यह सतह उसके संवेद प्रदत्त से अभिन्न है; और क्योंकि उसका संवेद प्रदत्त उसे मेरे सवेद प्रदत्त के उन गुणों से जो मुझे प्रतीत होते हैं असंगत गुणों को लिये हुए प्रतीत होता है, इसलिए उसका सवेद प्रदत्त मेरे संवेद प्रदत्त से केवल एक शर्त पर अभिन्न हो सकता है, वह यह है कि या तो प्रस्तुत संवेद प्रदत्त उन गुणों को लिये हुए नहीं है जो मुझे प्रतीत होते हैं, या उन गुणों को लिये हुए नहीं हैं जो उसे प्रतीत होते हैं।

इतना होते हुए भी मेरा विचार यह नहीं है कि प्रथम प्रकार की दृष्टि के प्रति यह कोई गम्भीर आक्षेप है। इससे अधिक गम्भीर आक्षेप जो मुझे प्रतीत होता है वह यह है कि जब हम एक वस्तु को दोहरा देखते है (एक वस्तु की दोहरी प्रतिमा देखते हैं) तो हम निश्चित रूप से दो संवेद प्रदत्तों का प्रत्यक्ष करते हैं जिनमें से प्रत्येक संवेद प्रदत्त अवलोकित सतह का है और इसलिये दोनों इससे अभिन्न नहीं हो सकते; और फिर भी मुझे यह प्रतीत होता है कि यदि कोई संवेद प्रदत्त उस सतह से जिसका यह संवेद प्रदत्त है अभिन्न है तो मानों इनमें से प्रत्येक की (तिमाएँ भी अभिन्न होंगी। अतः यह प्रतीत होता है कि मानों प्रत्येक संवेद प्रदत्त अन्त में केवल उस सतह का जिसका यह संवेद प्रदत्त है प्रतिनिधित्व करता है।

(२) परन्तु, यदि ऐसा है तो प्रस्तुत सतह से इस संवेद प्रदत्त का क्या सम्बन्ध है ? दूसरी प्रकार की दृष्टि के अनुसार बात यह है कि जब मैं जानता हूँ कि 'यह मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है, तो उस सतह के संवेद प्रदत्त के सम्बन्ध में जो कुछ मैं जान रहा हूँ वह यह नहीं है कि यह स्वयं मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है, वरन् निम्नलिखित प्रकार से है : इसके अनुसार 'र' नामक कोई सम्बन्ध है जो ऐसा है कि जो कुछ मैं संवेद प्रदत्त के बारे में जान रहा हूँ वह या तो यह है कि "एक और केवल एक वस्तु है जिसके विषय मे ये दोनों बातें सत्य है कि यह मनुष्य के हाथ की सतह का एक भाग है और इस संवेद प्रदत्त से 'र' नामक सम्बन्ध लिये हुए है" या यह है कि "वस्तुओं का एक समूह है जिनके विषय में ये दोनों बातें सत्य है" कि वे समूह, यदि समुच्चय रूप से विचारा जाय, मनुष्य के हाथ की सतह के भाग हैं और समूह का प्रत्येक घटक इस संवेद प्रदत्त से 'र' सम्बन्ध लिये हुए है और जो समूह का घटक नहीं है वह 'र' सम्बन्ध लिये हुए नहीं है।

स्पष्ट रूप से, इस दूसरी प्रकार के उत्तर के सम्बन्ध में, बहुत से वे विभिन्न विचार सम्भव हैं जिनमें 'र' सम्बन्ध की प्रकृति के विचार के अनुसार भेद है। परन्तु उनमे से केवल एक ही ऐसा है जो मुझे सत्य सदृश प्रतीत होता है, अर्थात् वह ऐसा है जिसके अनुसार 'र' एक अन्तिम और अविश्लेषणीय सम्बन्ध है, जिसका कथन यह कह कर किया जा सकता है कि 'अ र आ' से अभिप्राय है कि 'आ' 'अ' का आभास है या अभिव्यक्ति। अर्थात्, "यह मनुष्य के हाथ की सतह का एक भाग है" इसका उत्तर यह विश्लेषण होगा कि "एक और केवल एक वस्तु है जिसके बारे में दोनों बातें सत्य हैं कि यह मनुष्य के हाथ की सतह का एक भाग है और यह संवेद प्रदत्त इसका एक आभास है या अभिव्यक्ति।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस मत के लिये भी बहुत गम्भीर आक्षेप है। ये आक्षेप इन ऐसे प्रश्नों के विचार के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुए है, जैसे किस प्रकार हम अपने संवेद प्रदत्तों के बारे में सम्भवतया जान सकते है कि एक वस्तु और केवल एक वस्तु है जिसका उनसे इस उपर्युक्त प्रकार का कल्पित अन्तिम सम्बन्ध है, और किस प्रकार हम ऐसी वस्तुओं के बारे मे सम्भवतया और कोई बात जान सकते है, उदाहरणार्थ वे वस्तुएँ किस आकार या किस माप की हैं।

(३) तृतीय प्रकार का उत्तर जो ही मुझे, यदि (१) और (२) को अस्वीकार कर दिया जाय, केवल एक सम्भव विकल्प प्रतीत होता है, एक ऐसा उत्तर है जो जे० एस० मिल के मतानुसार सत्य है, जब उसने कहा कि भौतिक वस्तुएँ "संवेदनाओं की स्थायी सम्भवनाएँ हैं"। उसने ऐसा विचारा प्रतीत होता है कि जब मैं ऐसे तथ्य को जानता हूँ जैसे कि "यह मनुष्य के हाथ की सतह का एक भाग है" तो जो कुछ उस संवेद प्रदत्त के बारे में, जो उस तथ्य का मुख्य विषय है, मैं जान रहा हूँ वह यह नहीं है कि यह स्वयं मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है और न ही किसी सम्बन्ध के बारे में, यह है कि वह वस्तु जो ऐसा सम्बन्ध लिये हुए है, मनुष्य के हाथ की सतह का एक भाग है, परन्तु वह यह है कि सौपाधिक तथ्यों का एक सम्पूर्ण समूह "जिनमें से प्रत्येक इस आकार का एक

तथ्य है" यदि ये शर्तें पूर्ण की गईं तो मैं एक ऐसे संवेद प्रदत्त का प्रत्यक्ष कर रहा हूँगा जो उपरोक्त संवेद प्रदत्त से इस प्रकार वास्तव में सम्बन्धित है "यदि ये (दूसरी) शर्तें पूर्ण की गईं, तो मैं एक ऐसे संवेद प्रदत्त का प्रत्यक्ष कर रहा हूँगा जो उपरोक्त संवेद प्रदत्त से इस प्रकार (दूसरी) वास्तव में सम्बन्धित है," इत्यादि, इत्यादि।

इस तीसरे प्रकार के उत्तर के बारे में जो प्रस्तुत तर्क वाक्यों के विश्लेषण से सम्बन्धित है, मुझे यह सम्भव प्रतीत होता है कि यह सत्य है, परन्तु यह स्वीकार करना (जैसे मिल ने स्वयं ने और दूसरों ने स्वीकार किया है) कि यह निश्चित रूप से या प्रायः निश्चित रूप से सत्य है, मुझे एक इतनी ही बड़ी भ्रान्ति प्रतीत होती है जितनी (१) या (२) के बारे में यह स्वीकार करना कि वे निश्चित रूप से या प्रायः निश्चित रूप से सत्य हैं। मुझे इसके विरुद्ध बहुत गंभीर आक्षेप दिखाई देते हैं; वे विशेषतया तीन हैं : (क) सामान्यतया, यद्यपि जब मैं ऐसे तथ्यों को जानता हूँ जैसे "यह एक हाथ है" तो मैं ऐसे आकार के सोपाधिक कुछ तथ्यों को निश्चित रूप से जानता हूँ जैसे "यदि ये शर्तें पूर्ण की गईं तो मैं एक ऐसे संवेद प्रदत्त का प्रत्यक्ष कर रहा हूँगा, जो उसी सतह का संवेद प्रदत्त होता जिस सतह का यह संवेद प्रदत्त है तथापि यह संदिग्ध प्रतीत होता है कि कोई भी शर्त, जिसके विषय में यह उपरोक्त बात जानता हूँ, स्वयं ऐसे आकार की शर्तें नहीं है जैसे, "यदि यह या वह भौतिक वस्तु उन स्थितियों और शर्तों में होती............" (ख) पुनः यह अत्यन्त संदिग्ध प्रतीत होता है कि कोई वास्तविक सम्बन्ध ऐसा है कि मेरा ज्ञान कि (इन शर्तों में) मैं ऐसे संवेद प्रदत्त का प्रत्यक्ष कर रहा हूँगा जो उसी सतह का संवेद प्रदत्त होता जिस सतह का यह संवेद प्रदत्त है, उस सम्बन्ध के विषय में ऐसे ज्ञान के अनुरूप है कि उन शर्तों में मैं इस संवेद प्रदत्त से सम्बन्धित एक संवेद प्रदत्त देख रहा हूँगा। (ग) यदि यह उपरोक्त बात सत्य होती, तो वह अर्थ जिसमें एक भौतिक सतह गोल या वर्गाकार है आवश्यक रूप से उस अर्थ से पूर्णतया भिन्न होगा, जिसमें हमारे संवेद प्रदत्त हमें गोल या वर्गाकार प्रतीत होते हैं।

जिस प्रकार मेरा मत है कि यह तर्क वाक्य, "भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व है और रहा है" बिल्कुल निश्चित रूप से सत्य है, परन्तु यह प्रश्न कि इस तर्क वाक्य का विश्लेषण कैसे किया जाय ऐसा है जिसका जो उत्तर अभी तक दिया गया है, वह कहीं भी सत्यता के निकट नहीं है, उसी प्रकार मेरा मत है कि यह तर्क वाक्य "बहुत सी आत्माओं का अस्तित्व है और रहा है", बिल्कुल निश्चित रूप से सत्य है परन्तु पुनः यहाँ भी इस तर्क वाक्य के सब विश्लेषण जो दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं अत्यधिक संदिग्ध है।

यह कि मैं अभी बहुत से विभिन्न संवेद प्रदत्तों का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ और कि मैंने कई बार भूतकाल में भी बहुत से विभिन्न संवेद प्रदत्तों का प्रत्यक्ष किया है, मैं निश्चित रूप से जानता हूँ—कहने का अभिप्राय यह है, मुझे ज्ञान है कि (अ) वर्ग के ऐसे मानसिक तथ्य हैं इनसे ऐसी प्रकार से सम्बन्धित हैं जिसे यह कह कर व्यक्त करना उचित है कि वे सब तथ्य मेरे विषय में है, परन्तु इस प्रकार के सम्बन्ध का विश्लेषण कैसे किया जाय, मैं निश्चित रूप से नहीं जानता हूँ, न ही, मैं सोचता हूँ, कोई भी दार्शनिक निश्चित रूप से जानता है।

जिस प्रकार इस तर्क वाक्य के विषय में "यह मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है" कई अत्यधिक विभिन्न दृष्टिकोण इसके विश्लेषण के बारे में है जिनमें से प्रत्येक मुझे सम्भव प्रतीत होता है, परन्तु कोई भी सत्य के निकट नहीं है, उसी प्रकार इस तर्क वाक्य के विषय में "यह, वह और वह संवेद प्रदत्त वर्तमान में मेरे द्वारा प्रत्यक्ष किये जा रहे हैं", और इससे भी अधिक इस तर्क वाक्य के विषय में, "मैं अभी इस संवेद प्रदत्त का प्रत्यक्ष कर रहा हूँ और भूतकाल में मैंने इन दूसरी प्रकार के संवेद प्रदत्तों का प्रत्यक्ष किया है"। इन तर्क वाक्यों की सत्यता का मुझे कोई संदेह नहीं है, परन्तु उनके सही विश्लेषण के विषय में मुझे अत्यधिक गम्भीर संदेह है। उदाहरणार्थ, उनका सही विश्लेषण सम्भवतया बिल्कुल उतना ही विरोधाभासी हो सकता है जितना उपरोक्त प्रस्तुत तीसरा दृष्टिकोण जो इस तर्क वाक्य के कि "यह मनुष्य के हाथ की सतह का भाग है" विश्लेषण के बारे में है, परन्तु यह बात कि वह उतना ही विरोधाभासी है जितना यह, मुझे बिल्कुल इसकी तरह संदिग्ध प्रतीत होता है। दूसरी ओर, बहुत से दार्शनिक मुझे यह मानते हुए प्रतीत होते हैं कि ऐसे तर्क वाक्यों के सही विश्लेषण के विषय में कोई संदेह नहीं है, और उन दार्शनिकों में से बहुतों ने, ठीक मेरे मंतव्य के विपरीत, यह भी स्वीकार किया है कि वे तर्क वाक्य ही सत्य नहीं हैं।

आदर्शवाद का खण्डन

ज्यार्ज एडवर्ड मूर

आधुनिक आदर्शवाद विश्व के बारे में यदि किसी भी साधारण निष्कर्ष को दृढ़ता से कहता है तो वह है, कि विश्व आध्यात्मिक है। इस प्रतिज्ञा के बारे में दो बातें है, जिन पर मैं (आपका) ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा, ये हैं : (चाहे जो भी इसका सही अर्थ हो) यह निश्चित रूप से दृढ़ता पूर्वक कहना चाहता है कि, १. विश्व वास्तव में उससे बहुत भिन्न है जैसा कि, वह दिखाई देता है और २. इसके ऐसे अनेक गुण भी हैं, जो दृष्टिगोचर नहीं होते (अर्थात् हम जगत् को उसके सही रूप में नहीं जानते हैं)। कुर्सियाँ और मेजें और पहाड़ हमसे बहुत भिन्न दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु जबकि समस्त विश्व को आध्यात्मिक घोषित कर दिया जाय, तो इसका निश्चय ही यह तात्पर्य निकलता है कि वे उससे कहीं अधिक हमारी तरह के हैं, जितना हम समझते हैं। आध्यात्मवादी आग्रह पूर्वक यह कहना चाहता है कि कुछ अर्थों में ये न तो जीवन-विहीन हैं; और न ही अचेतन, जैसे कि वे निश्चय ही दिखलाई पड़ते हैं; और मैं यह नहीं सोचता कि उसकी भाषा स्थूल रूप से धोखा देने वाली है, किन्तु उसे हम यह विश्वास करता हुआ मान सकते हैं कि वे वास्तव में उससे बहुत भिन्न हैं जैसे कि वे दिखाई देते हैं। और दूसरे, जब वह उसे आध्यात्मिक घोषित करता है तो वह उस शब्द में अनेक प्रकार के विविध गुणों का समावेश करना चाहता है। जब समस्त विश्व को आध्यात्मिक घोषित किया जाता है तो उसका तात्पर्य केवल यही नहीं है कि यह किन्हीं अर्थों में चेतन है, वरन् यह भी कि यह चेतना के उन विभिन्न उच्चतर रूपों को धारण करने वाला है जिनको हम अपने में पहचानते हैं, कि यह बौद्धिक है या यह सप्रयोजन है, कि यह भौतिक किंवा यान्त्रिक नहीं है — ये सभी विभिन्न बातें इसके बारे में बलपूर्वक कही जाती हैं। सामान्यतः यह कहा जाता है कि यह वाक्यांश कि "सत्ता आध्यात्मिकहै" इस विश्वास को उभारता एवं प्रकट करता है कि सम्पूर्ण विश्व उन सभी गुणों को धारण करता है, जिनका होना निर्जीव वस्तुओं की अपेक्षा हमें उत्कृष्ट बनाने वाला माना जाता है; कम से कम यदि ये ठीक वे ही गुण न रखता हो जिन्हें हम धारण करते हैं तो यह केवल एक ही नहीं प्रत्युत बहुत से ऐसे गुणों को धारण करता है जो नैतिक कसौटी द्वारा हमारे समान या इससे अच्छे स्वीकार किये जायेंगे। जब हम कहते हैं कि यह आध्यात्मिक है, तो हम यह कहना चाहते हैं कि यह बहुत से उत्तम गुणों को धारण करने वाला है, जो किन्हीं ऐसे गुणों से पृथक हैं जिनके द्वारा हम साधारण तौर पर या तो ग्रहों एवं नक्षत्रों को, या प्यालों और तस्तरियों को, विशेषित करते हैं।

अब मैं इन दो विषयों का वर्णन इसलिए करना चाहता हूँ, क्योंकि दार्शनिक वाद-विवाद की उलझनों में उलझे रहते है तो यह सम्भावना हो सकती है कि हम जगत् के बारे में इस आध्यात्मिक दृष्टि और साधारण दृष्टि के बहुत बड़े भेद को नजर-अन्दाज कर दें और यह भी हो सकता है कि हम उन बहुत से विभिन्न तर्क वाक्यों को नजर-अन्दाज कर जायँ, जिन्हें आध्यात्मवादी को सिद्ध करना चाहिये। मै सोचता हूँ कि यह प्रश्न, कि आध्यात्मवाद सत्य है या नहीं, इतना अधिक रोचक और आवश्यक इसलिए प्रतीत होता है क्योंकि एक तो इसमें वैविध्य है और दूसरे, इस धारणा में उत्तमता का भाव है जो कि आध्यात्मवादी इस विश्व को प्रदान करते हैं। किन्तु जब हम इसके बारे में विचार आरम्भ करते हैं तो मेरे विचार में शायद हम यह भूल जाते हैं कि इस रोचक प्रश्न में कितनी अधिक जटिलता अन्तर्निहित होनी चाहिए; हम यह मानने लग जाते हैं कि यदि किसी भी तरफ दो-एक युक्तियाँ उपस्थित की जा सकें तो सारा मामला जीत लिया जायगा। मैं यह नही कहता कि इस निबन्ध में जो तर्क उपस्थित किये जायेंगे वे वस्तुतः इस रोचक और महत्वपूर्ण तर्क वाक्य को कि, "सत्ता आध्यात्मिक है" असिद्ध करने के लिये पर्याप्त होंगे या उनका खण्डन इसको सिद्ध करने के लिये पर्याप्त होगा, वरन् अपनी ओर से मैं यह स्पष्टतया समझा देना चाहूँगा कि मैं यह नही मानता कि मैं जो कुछ भी कहूँगा उसमें यह सिद्ध करने को थोड़ी भी प्रवृत्ति होगी कि सत्ता आध्यात्मिक नही है, क्योंकि मैं यह सम्भव नही मानता कि उन अनेक महत्वपूर्ण तर्क वाक्यों में से एक को भी खण्डित किया जा सकेगा जो इस कथन में निहित है कि सत्ता ऐसी (आध्यात्मिक) है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, हो सकता है कि सत्ता आध्यात्मिक हो, और मैं निष्ठापूर्वक आशा करता हूँ कि यह ऐसी ही है। किन्तु मै "अध्यात्मवाद" को एक विस्तृत पद के रूप में लेता हूँ और इसमें केवल इस रोचक निष्कर्ष को ही नही, अपितु उन अनेक तर्को को भी अन्तर्निहित करना चाहता हूँ जिन्हें इसे सिद्ध करने के लिये यदि पर्याप्त नही तो आवश्यक अवश्य माना जाता है। वस्तुतः मै यह मानता हूँ कि आधुनिक आध्यात्मिक दार्शनिक मुख्यतः उन तर्को द्वारा पराजित किये जाते है जिन्हे वे सभी मानते है। मै विश्वास करता हूँ कि यह सिद्धान्त, कि सत्ता आध्यात्मिक है, अनेक धर्म दर्शनवादियों (परमात्मवादियों) का रहा है। किन्तु केवल इतना ही मानने पर, उन्हे मुश्किल से ही अध्यात्मवादी कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त मेरा विश्वास है कि ऐसे अनेक व्यक्ति है जिन्हें अध्यात्मवादी कहना अनुचित न होगा, जो कतिपय विशिष्ट तर्क वाक्यों को मानते है, बिना यह सोचे कि ये किसी भी तरह ऐसे महान् निष्कर्ष को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही है। अतः यहाँ मेरा सम्बन्ध केवल अध्यात्मवादी तर्को से है; और यदि कोई अध्यात्मवादी यह मानता हो कि यह सिद्ध करने के लिये, कि सत्ता आध्यात्मिक है, किसी भी तर्क की आवश्यकता नही है तो निश्चित ही मैं उसका खण्डन नहीं कर पाऊँगा। फिर भी मै कम से कम एक तर्क पर आक्रमण करूँगा जो प्रायः सभी अध्यात्मवादियों द्वारा, जहाँ तक मेरा ज्ञान है, उनकी स्थिति के लिये आवश्यक समझा जाता है। मै एक लाभ बतलाना चाहता हूँ जो मुझे इस तरीके से उपलब्ध होता है — वह लाभ इस प्रतिज्ञा को उचित ठहराता है कि यदि मेरे तर्क ठोस होंगे तो ये

आध्यात्मवाद का खण्डन करेंगे। यदि मै एक भी ऐसे तर्क वाक्य का खण्डन कर सका जो समस्त आध्यात्मवादी तर्कों की आवश्यक एवं सारभूत पैड़ी हो, तो फिर चाहे बचे हुए तर्क कितने ही उत्तम हों, मैं यह सिद्ध कर पाऊँगा कि अध्यात्मवादियों के पास अपने निष्कर्ष के लिये कोई भी आधार नहीं है।

मानों हमारे पास तर्क की एक शृंखला है जो ऐसा आकार ले लेती है कि चूँकि अ ब है, ब स है और स द है तो, यह अनुगमित होता है कि अ द है। इस प्रकार के तर्क में, चाहे, दोनों — ब स है और स द है — पूर्णतया सत्य हों लेकिन यदि अ ब है असत्य है तो हमारे पास इस प्रतिज्ञा के बारे में कि अ द है कोई तर्क नहीं रह जायगा, फिर तो तीनों ही चाहे असत्य हों, वस्तुतः यह अनुगमित नहीं होता कि अ द असत्य है और न ही यह अनुगमित होता है कि और कोई तर्क भी इसे सत्य सिद्ध नहीं करेगा। किन्तु जब तक यह तर्क माना जाय, यह अनुगमित होता है कि यह बिना किसी थोड़ी सी भी गवाही के केवल मात्र अनुमान है। मेरी एक तर्क वाक्य पर हमला करने की इच्छा है जो मुझे इस निष्कर्ष से कि 'सत्ता आध्यात्मिक है' इसी सम्बन्ध द्वारा बँधा दिखाई देता है। मेरी इस बात को विवाद-ग्रस्त बनाने की इच्छा नहीं है कि 'सत्ता आध्यात्मिक है' ऐसा सोचने के कुछ कारण हैं, लेकिन मेरी यह जरूर स्पष्ट करने की इच्छा है कि एक तर्क, जिस पर अन्य सभी तर्क–जो अभी तक आदर्शवादियों द्वारा दिये गए हैं—अवलम्बित हैं, असत्य है। ये अन्य तर्क उसके लिये विशिष्ट रूप से उपयुक्त और सत्य हो सकते है, जो मैं आगे कहूँगा; ये अनेक और भिन्न प्रकार के हैं, और विभिन्न आदर्शवादी बहुत भिन्न प्रकार के तर्कों का प्रयोग एक ही महत्वपूर्ण निष्कर्ष को सिद्ध करने के लिये करते हैं। इनमें से कुछ यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हो सकते हैं कि ब स है और स द है; किन्तु यदि, जैसा कि मै दिखाने का प्रयत्न करूंगा, उनका अ ब है असत्य है तो यह निष्कर्ष कि अ द है केवल एक सुहावनी कल्पना ही रह जायगी। मैं यह मना नहीं करना चाहता कि दर्शन का उपयुक्त कार्य सुहावने एवं सुखद अनुमानों को सुझाना है, लेकिन मैं तो केवल यह मानना चाहता हूँ कि "आदर्शवाद" नाम केवल वहीं ठीक प्रकार से प्रयुक्त किया जा सकता है जहाँ कुछ तर्क संगतता हो, जहाँ विश्वास का कुछ आधार हो।

अतः इस निबन्ध का विषय बिल्कुल अरुचिकर है। यदि मैं अपनी बात को सिद्ध भी करदूँ तो भी साधारण तौर पर विश्व के बारे में मैंने कुछ भी सिद्ध नहीं किया होगा। इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर कि, सत्ता आध्यात्मिक है या नहीं, मेरे तर्क का जरा भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। मैं तो केवल मात्र विषय की सत्यता पर पहुँचने का प्रयत्न करूँगा, जो स्वयं में बिल्कुल तुच्छ एवं अनावश्यक है, और जिससे जहाँ तक मैं देख सकता हूँ और निश्चिततया जहाँ तक मैं कह सकता हूँ, ऐसे किन्ही भी विषयों के बारे में निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकेंगे, जिनके बारे में हम सबसे अधिक जानना चाहते हैं। मैं जिस विषय पर विमर्श करूँगा, उसके लिए केवल इसी महत्ता का दावा कर सकता हूँ कि मुझे ऐसा दिखाई देता है कि इस विषय पर न केवल आदर्शवादियों ने वरन् समस्त दार्शनिकों एवं मनोवैज्ञानिकों ने भी ग़लती की है, और जिसके अपने दोषपूर्ण मत से उन्होंने अपने बहुत विलक्षण और रोचक निष्कर्ष (उचित

या अनुचित रूप से) अनुमित किये है। और इसकी इतनी भी महत्ता है, यह भी मै सिद्ध करने की आशा नही कर सकता। यदि इसकी महत्ता हुई, तो वस्तुत: यह अनुगमित होगा कि दर्शन के समस्त अत्यन्त विलक्षण निष्कर्षो का—अनीश्वरवाद, एन्द्रिय संवेदवाद एवं आदर्श-वाद समान तौर पर अभी तक जो कुछ भी उनके पक्ष में कहा जा चुका है उसको मानते हुए—इस कल्पना से अधिक और कोई आधार नही होगा कि एक मनगढ़न्त जन्तु, चन्द्रमा में रहता है। यह अनुगमित होगा कि, जब तक ऐसे नवीन कारणों को प्राप्त नही कर लिया जाय, जो पहिले अज्ञात थे, दर्शन के सभी महत्वपूर्ण सिद्धान्त, स्वीकृति का उतना ही दावा रखेंगे जितना कि आदिमतम् व्यक्ति के अत्यन्त अन्ध विश्वासपूर्ण-विश्वास। इस प्रश्न पर कि अत्यन्त महत्व-पूर्ण विषयों पर विश्वास का क्या कारण है, मेरे विचार में मेरे निष्कर्ष महत्वपूर्ण प्रभाव डालेंगे; लेकिन मैं बिल्कुल स्पष्टत: इस बात पर जोर नही दे सकता कि इस प्रश्न पर कि ये विश्वास सत्य हैं या नहीं, ये बिल्कुल भी प्रभाव नही डालेंगे।

एक अति साधारण तर्क-वाक्य, जिसको मैं विवाद का विषय बनाना चाहता हूँ, यह है कि, 'अस्तित्व प्रत्यक्षगत है' (अर्थात् जो प्रत्यक्ष होता है उसी का अस्तित्व है)। यह एक बहुत ही सदिग्ध तर्क-वाक्य है लेकिन किसी न किसी अर्थ में इसे बहुत व्यापक पैमाने पर माना जाता रहा है। अभी फिलहाल मुझे यह मानना पड़ेगा कि यह किसी अर्थ मे आदर्शवाद के लिये परम-आवश्यक है। और मैं जो सिद्ध करना चाहता हूँ वह यह है कि, अपने प्रत्येक अर्थ में, जो इसे अभी तक दिये गये है, यह असत्य है।

किन्तु, सर्व प्रथम, यह सक्षेप से बताना लाभदायक हो सकता है कि मै इसका आदर्श-वादी तर्कों से क्या सम्बन्ध स्वीकार करता हूँ। इस बात को, कि जहाँ कही भी आप "अस्तित्व" को सत्यत: विधेय बना सकते है, वहीं आप 'प्रत्यक्षगत' को भी सत्यत: विधेय बना सकते है, किसी न किसी अर्थ में मै उन तर्कों के लिये आवश्यक मानता हूँ जिनको वास्तव में आदर्श-वादी कहा जाता है, और इससे भी अधिक उन समस्त तर्कों के लिये जिन्हें अभी तक आदर्श-वादी निष्कर्ष के लिए प्रस्तुत किया गया है। यह कथन कि "अस्तित्व प्रत्यक्षगत है" यह कहने के बराबर है कि जो कुछ भी विद्यमान है उसका अनुभव हो चुका है, और यह पुन: एक अर्थ में इस कथन के बराबर है कि जो कुछ भी है वह अनुभव-विषय है। लेकिन यह वह अर्थ नहीं है जिसमें आदर्शवादी निष्कर्ष को मानना चाहिये कि सत्ता मानसिक है। आदर्शवादी निष्कर्ष तो यह है कि सत् द्रष्टात्मक है और इसलिए सत् प्रत्यक्षमूलक हो या न हो, इस बात को दिखाने के लिए अलग से तर्क देना अपेक्षित है कि यह द्रष्टा भी है या नहीं; और पुन: यदि सत् द्रष्टा आत्मा हो भी तो भी हमें यह दिखाने के लिए कि जो सत् से युक्त है वह उन उच्चतर मानसिक गुणों से भी युक्त है जो 'आध्यात्मिक' पद से विशेषित किये जाते हैं; अन्य अनेक तर्क देने होंगे। इसलिए मैंने कहा था कि इस प्रश्न का विचार विमर्श, कि सत् प्रत्यक्ष-गत है या नहीं, इस बात को सिद्ध या असिद्ध करने के लिये सर्वथा अपर्याप्त है कि सत्ता आध्यात्मिक है। लेकिन दूसरी ओर, मैं यह विश्वास करता हूँ कि उस प्रत्येक तर्क को, जिसे यह दिखाने के लिये प्रयुक्त किया गया था कि सत्ता आध्यात्मिक है, इस उचित या अनुचित

पूर्व-प्रतिज्ञा से निगमित किया गया होगा कि 'द्रष्टा ही सत् है' और इसे कभी भी इस प्रतिज्ञा के प्रयोग के अतिरिक्त कि प्रत्यक्ष ही सत् है, सिद्ध करने का अन्य कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इस दूसरे प्रयोजन के निमित्त जिस प्रकार का तर्क किया गया, उससे हम सुपरिचित हैं ही। यह कहा गया है कि क्योंकि जो कुछ भी है वह अनुभव विषय ही है, और चूँकि कतिपय वस्तुएँ ऐसी हैं जो व्यक्ति विशेष के द्वारा अनुभव नहीं की गई हैं, अतः इन्हें किसी अनुभव का अंग बनना चाहिये। अन्यथा पुनः चूँकि एक विषय आवश्यक रूप से विषयी को अर्थापतित करता है, और चूँकि समस्त विश्व एक विषय होना चाहिये, परिणामतः यह मानना आवश्यक है कि यह भी किसी विषयी या किन्हीं विषयिओं से सम्बन्धित हैं, जैसे कि हमारे अनुभव का प्रत्येक विषय उस पर आश्रित है या फिर चूँकि विचार समस्त सत्ता में सत्व रूप से प्रविष्ट रहता है, अतः हमें इसके पीछे, इसमें या इसके सत्त्व रूप में एक हमारी जैसी ही आत्मा की प्रवृत्ति का अनुमान करना चाहिये जो कि सोचते हैं कि विषय के भीतर "आत्मा, आत्मा का अभिवादन करती है"। यहाँ इन अनुभवों की न्यायोचितता की जाँच करने का मेरा विचार नहीं है, ये स्पष्टतः एक बहुत बड़े विचार विमर्श की अपेक्षा करते हैं। मैं तो केवल यह संकेत करने की इच्छा करता हूँ कि चाहे ये कितनी ही सही हों, फिर भी यदि सत् प्रत्यक्षमूलक नहीं हो तो ये हमें इस बात की सिद्धि से, कि सत्ता आध्यात्मिक है, इतने दूर छोड़ देते हैं, मानो ये सभी असत्य हों। परन्तु अब क्या 'सत् प्रत्यक्षमूलक है ?' इस तर्क वाक्य में तीन अत्यन्त संदिग्ध पद हैं और मुझे उन विभिन्न वस्तुओं में भेद स्पष्ट करने से प्रारम्भ करना चाहिये जो उनमें से कुछ में अभिप्रेत है।

और अब मैं सबसे पहले प्रत्यक्षमूलकता के बारे में कहूँगा। सम्भवतः आरम्भ में इस पद का प्रयोग केवल 'संवेद' के अर्थ में किया गया था। लेकिन मैं आधुनिक आदर्शवादियों के प्रति—एक मात्र आदर्शवादी, जिनके लिये कि संज्ञा बिना किसी विशेषण के प्रयुक्त की जा सकती है—इतना अनुदार होने नहीं जा रहा हूँ कि मैं यह मानलूँ कि यदि वे कहते हैं कि सत् "प्रत्यक्षमूलक" है तो उनका प्रत्यक्षमूलक से तात्पर्य केवल मात्र संवेद ही है। इसके विपरीत, मैं उनसे इस बात में पूर्ण सहमत हूँ कि, सत् प्रत्यक्षमूलक है तो 'प्रत्यक्षमूलक' शब्द में यदि केवल मात्र सवेद का ही समावेश नहीं है। वरन् उन दूसरे प्रकार के मानसिक तथ्यों का भी समावेश है जिन्हें 'विचार' कहा जाता है। और फिर, चाहे सत् प्रत्यक्षात्मक हो या नहीं हो, मैं इस बात को उस दार्शनिक सम्प्रदाय की—जिससे कि आधुनिक आदर्शवादी सम्बन्धित हैं—मुख्य देन मानता हूँ कि उन्होंने 'संवेद' और 'विचार' में स्पष्ट भेद किया है तथा विचार के महत्व पर बल डाला है। संवेदवाद और अनुभववाद के विरुद्ध उन्होंने सही दृष्टिकोण अपनाये रक्खा है। लेकिन यहाँ हम सवेद और विचार में भेद के प्रश्न में और नहीं पड़ेगें क्योंकि, वे चाहे जिन भी अर्थों में भिन्न हों, कम से कम एक चीज उनमें समान है, कि वे दोनों चेतना के रूप हैं। अतः सत् प्रत्यक्षात्मक है, इसका चाहे जो भी अर्थ हो, यह कम से कम दृढ़ता से कहता है कि जो कुछ भी है वह अनुभूत है और चूँकि मैं जो मानना चाहता हूँ, चाहे वह असत्य भी हो, तो भी यह प्रश्न कि इसका अनुभव संवेद द्वारा होगा या विचार

द्वारा या फिर दोनों के द्वारा, मेरे मनोरथ के लिये निरर्थक है। यदि इसका बिल्कुल अनुभव ही नहीं हो तो, यह न तो विचार का विषय ही हो सकता है और न संवेद का ही। यह प्रश्न कि यह संवेद या विचार दोनों का समावेश करता है, तभी महत्वपूर्ण होता है जबकि सत्ता "अनुभव" का समावेश करे। अत: मेरा यह निवेदन है कि अब आगे 'प्रत्यक्षात्मक' का वाच्य विषय उसी को माना जाय जो संवेद एव विचार में समान है। एक अधुनातन निवन्ध 'सत् प्रत्यक्षात्मक है' इसका अर्थ अपेक्षित स्पष्टता के साथ बताना है, जहाँ तक 'प्रत्यक्षात्मक' का सम्बन्ध है। टेलर कहता है "मैं यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि, किसी तथ्य को केवल उसका किसी अनुभव कर्त्ता चैतन्य को प्रस्तुत होना ही सत्य (सत्-प्रतिष्ठित) बनाना है।" मुझे प्रसन्नता है कि श्री टेलर ने मुझे समय पर आदर्शवाद की आधारभूत आधार प्रतिज्ञा के रूप में एक ऐसा कथन दे दिया। अतः यदि मेरा निबन्ध कुछ भी खण्डित करता है तो वह कम से कम श्री टेलर के आदर्शवाद का खण्डन अवश्य करता है, क्योंकि मैं यह दिखाना चाहूँगा कि सम्भवतः किसी वस्तु को सत्य बनाने वाली उसकी चेतन अनुभव के अविभाज्य अग के रूप मे उपस्थिति नही हो सकती।

यद्यपि श्री टेलर का कथन 'प्रत्यक्षात्मक' के अर्थ के बारे में स्पष्ट है तथापि वह अन्य बातों में अत्यन्त अस्पष्ट है। फिर भी मैं इस समय इसको छोडकर 'अस्तित्व प्रत्यक्षात्मक है' वाक्य में एक अन्य अस्पष्टता पर विचार करना चाहता हूँ। इस वाक्य में संयोजक अव्यय का क्या अर्थ है? इस कथन का क्या तात्पर्य है कि अस्तित्व प्रत्यक्षात्म-रूप है? इसके केवल मात्र तीन अर्थ हो सकते हैं, और इसे सत्य होने के लिए और इन्ही मे से एक या अन्य को कारण मानना चाहिये, और यदि इसे महत्वपूर्ण होना है तो इनमे से केवल एक ही अर्थ इसका होना चाहिये। (१) प्रथम तो, इस कथन का यह तात्पर्य हो सकता है कि 'सत्' शब्द प्रत्यक्ष रूप से न तो कुछ कम और न कुछ अधिक का वाचक है; कि ये दो शब्द यथार्थतः पर्यायवाची हैं; कि ये एक ही वस्तु के लिये, केवल मात्र दो भिन्न नाम हैं; कि जो 'अस्तित्व' का अर्थ है वह पूर्णतया 'प्रत्यक्षरूप' के अर्थ से अभिन्न है। अतः मैं सोचता हूँ कि न तो मुझे यह सिद्ध करने की आवश्यकता है कि यह सिद्धान्त, कि अस्तित्व प्रत्यक्षरूप है, केवल मात्र एक शब्द को परिभाषित करने के उद्देश्य से प्रतिपादित नही किया गया था, और न यह कि, यदि यह इसी उद्देश्य से प्रतिपादित किया गया था तो यह एक अत्यन्त दूषित परिभाषा है। लेकिन यदि इसका यह तात्पर्य नही है तो केवल मात्र दो विकल्प बच रहते हैं।

(२) दूसरा अर्थ, यह हो सकता है कि यद्यपि जो 'अस्तित्व' का अर्थ है वह पूर्णतया 'प्रत्यक्षरूप' से अभिन्न नही है, तथापि वह प्रत्यक्षरूप को अपने अर्थ के अंग रूप में सन्निहित करता है। अतः यदि 'अस्तित्व प्रत्यक्षरूप है,' इसका यह तात्पर्य हो, तो यह कहना कि एक वस्तु सत्य थी, इसके बराबर नही होगा कि यह अनुभव की गई थी : कि यह सत्य थी, इसका अभिप्राय यह होगा कि यह अनुभव की गई थी, और इसके अतिरिक्त भी कुछ थी : "अनुभव की जाना" वस्तु सत्ता के लिए विश्लेषणात्मक रूप से आवश्यक होगा, लेकिन यह पद का सम्पूर्ण अर्थ नहीं होगा। व्याघात के नियम की सहायता से, इस तथ्य से कि एक

वस्तु सत्य है, हमें यह अनुमान करने में समर्थ होना चाहिये कि यह अनुभव की गई थी; क्योंकि यह केवल 'सद्वस्तु' के अर्थ का एक अंग मात्र होगा। लेकिन दूसरी ओर, इस तथ्य से कि एक वस्तु अनुभव की गई थी, हमें यह अनुमान करने में समर्थ नहीं होना चाहिये कि यह सत्य थी, क्योंकि इस बात से कि यह सत्ता का एक आवश्यक गुण रखती है, यह अनुगत नहीं होता कि यह अन्य गुणों को भी रखती होगी। अतः अब यदि हम 'अस्तित्व प्रत्यक्षरूप है' इसको द्वितीय अर्थ में समझें तो हमें तीन विभिन्न वस्तुओं में भेद करना होगा : सबसे पहले यह 'सत्य' शब्द की परिभाषा देती है, और यह स्थापित करती है कि यह शब्द एक सम्मिश्र समग्र के लिए है जिसका कि 'प्रत्यक्षरूप' से अभिप्रेत अर्थ एक अंग है और दूसरे यह स्थापित करती है कि 'अनुभूत' एक समग्र का एक भाग है। ये दोनों ही तर्क वाक्य सत्य हो सकते हैं, और मैं उन्हें सब अवस्थाओं में विवादास्पद नहीं बनाना चाहता। वस्तुतः मैं यह नहीं सोचता कि साधारणतया 'सत्' शब्द अपने में प्रत्यक्षरूप को निहित करता है, लेकिन मैं शब्दों के अर्थों के बारे में विवाद नहीं करना चाहता। और कि अनेक वस्तुएँ, जिनका अनुभव किया जाता है, वे और कुछ भी हैं—कि अनुभव किया जाना किन्हीं समग्रों का अनिवार्य भाग है, यह भी निर्विवाद है। लेकिन मैं जो इंगित करना चाहता हूँ वह यह कि इन दोनों में से कोई भी तर्क वाक्य किसी भी महत्व का नहीं है जब तक कि हम उनमें एक तीसरा और न जोड़ दें। यह प्रतिपादित करना किसी के लिये भी महत्वपूर्ण नहीं हो सकता कि 'सत्य' गुणों के समन्वय के लिए, जो कि कभी कभी घटित होता है, एक सुविधाजनक नाम है। क्योंकि इस प्रकार की स्वीकारोक्ति से कोई भी महत्व का अनुमान नहीं किया जा सकता। हमारे सिद्धान्त का केवल यही अर्थ हो सकता है कि जब एक वस्तु प्रत्यक्ष हो, और वे अन्य गुण जो सत् में निहित हैं, रखती हो, तो वह प्रत्यक्षरूप होती है : और हम सिवाय एक ऐसे तर्क वाक्य से, जिसने पहले ही यह स्थापित किया हो कि यह अनुभव भी की गई थी और कुछ अन्य भी थी, कभी भी यह अनुमान करने में समर्थ नहीं हो सकते कि यह अनुभव की गई थी। उसी प्रकार इस प्रतिज्ञा का, कि प्रत्यक्षगत उस समग्र का भाग है, जो कि 'सत्' से अभिप्रेत है, कुछ महत्व होना है तो इसका तात्पर्य यह होना चाहिये कि यह समग्र जैविक है— कम से कम इस अर्थ में कि इसके अन्य अंग या अंगों की सम्भावना बिना प्रत्यक्षगत के नही हो सकती, चाहे प्रत्यक्षगत उनके बिना भी घटित हो सकता हो। मान लो कि हम इन अन्य घटकों (अंगों) को 'य' कहते हैं। यह तर्क वाक्य कि सत् प्रत्यक्ष का समावेश करता है और इसलिए 'सत्' से 'प्रत्यक्ष' को अनुमित किया जा सकता है तभी महत्वपूर्ण हो सकता है यदि इसे इस प्रकार से प्रस्तावित करें कि प्रत्यक्ष को 'य' से अनुमित किया जा सकता है। अतः इस प्रश्न की महत्ता, कि सम्पूर्ण सत् प्रत्यक्षगत के एक अंश का समावेश करता है या नहीं, इस प्रश्न पर अवलम्बित है कि क्या आंशिक 'य' अत्यावश्यक रूप से आंशिक प्रत्यक्षगत से सम्बन्धित है ?

(३) और जैसा कि अब हम देखेंगे, इस प्रतिज्ञा का कि 'सत् प्रत्यक्षगत है,' केवल यही तृतीय सम्भव एवं महत्वपूर्ण अर्थ है। 'सत् प्रत्यक्षगत है' यह प्रतिपादित करता है कि

जहाँ कहीं भी 'य' होगा वहीं प्रत्यक्षगतता भी होगी, और जिसमें भी 'य' का गुण होगा उसमें यह गुण भी होगा कि वह अनुभव किया जा सके। और चूँकि यह इस प्रकार है अतः सुविधापूर्ण होगा यदि मुझे 'सत्' पद का उपयोग केवल 'य' को ही सूचित करने के लिए करने दिया जाय। मै जिस बात को सिद्ध करना चाहता हूँ उसे पहले से ही नहीं मानना चाहता कि क्या साधारणतया हम 'सत्य' शब्द का जो अर्थ समझते हैं उसमें प्रत्यक्षरूपता और साथ ही साथ 'य' समाहित है या नहीं? मुझे पूर्ण सन्तोष है कि मेरी 'य' का निर्देश करने वाली सत् की परिभाषा केवल ऐक याहच्छिक शाब्दिक परिभाषा मानी गई है। चाहे यह ऐसा हो या न हो, मनोरंजक प्रश्न यही है कि क्या 'य' से प्रत्यक्षता को अनुमानित किया जा सकता है? और इसे मैं इस प्रकार अभिव्यक्त करना पसन्द करूँगा : क्या सत् से प्रत्यक्षगत का अनुमान किया जा सकता है? केवल यह ध्यान देने योग्य है कि जब मैं 'सत्' कहता हूँ तो यह पद भविष्य में प्रत्यक्षरूपता का समावेष नहीं करेगा। यह केवल उस 'य' को निर्दिष्ट करता है जिसे कि आदर्शवादी, शायद सही रूप से, अपने शब्द 'सत्' के अन्तर्गत प्रत्यक्षता के सहित समाविष्ट कर लेते हैं। यदि वे इस तर्क वाक्य को पूर्णतः पुनरुक्ति मात्र नहीं बना देना चाहते तो उन्हे यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इस प्रकार का एक य है: और सो यह भी उन्हें मानना पड़ेगा कि इससे य प्रत्यक्ष का अनुभान सम्भव है, अन्यथा वे इसे एक पूर्णतः अनुपयोगी तर्क वाक्य बना देंगे। यहाँ विवाद का विषय यह कदापि नहीं है कि केवल 'य' को सत् कहा जाय या नहीं कहा जाय; विवादारपद बात यह है कि क्या प्रत्यक्ष रूप आवश्यक रूप से 'य' से सम्बद्ध है?

अतः हमने 'सत् प्रत्यक्षरूप है' में संयोजक अव्यय 'है' की अस्पष्टार्थकता को खोज लिया है, कम से कम यह देखने के लिए कि, यह सिद्धान्त दो भिन्न पदों में ऐसे सम्बन्ध को प्रतिपादित करता है कि, जिसमें भी प्रथम गुण, जिसे कि मैं सत्ता कहता हूँ, है, उसमें अनिवार्यतः दूसरा गुण, अनुभूत होने का, भी है। यह एक ओर तो सत् के बीच और दूसरी ओर 'प्रत्यक्षगत' के बीच अनिवार्य सम्बन्ध का विधान करता है। इन दोनों शब्दों में से प्रत्येक एक स्वतन्त्र पद का निर्देश करता है, और सत् एक ऐसे पद का निर्देश करता है जिसमें 'प्रत्यक्षरूप' द्वारा निर्दिष्ट का समावेश नहीं होता। इस प्रकार 'सत् प्रत्यक्षरूप है', में हमें एक अनिवार्य संश्लेपणात्मक तर्क वाक्य के दर्शन होते है, जिसका मुझे खण्डन करना है। और मैं तुरन्त कह सकता हूँ कि इसका इस रूप में खण्डन नहीं किया जा सकता। और यदि आदर्शवादी यह दृढ़ता पूर्वक कहना चाहें कि यह केवल स्वतः सिद्ध सत्य है, तो मेरे पास केवल यही कहने को रह जायगा कि मुझे ऐसा दिखाई नही देता। लेकिन मेरा विश्वास है कि किसी भी आदर्शवादी ने कभी भी इसे इस रूप में नही माना है। यद्यपि इसी एक अर्थ में, कि दो भिन्न पद अनिवार्यतः सम्बन्धित है 'सत् प्रत्यक्षरूप है', का कोई तात्पर्य हो सकता है, यदि इसे सत्य और महत्वपूर्ण होना हो तो; किन्तु इसका दूसरा अर्थ भी सम्भव है, यदि इसे एक महत्वपूर्ण मिथ्यात्व होना हो। मुझे विश्वास है कि सारे आदर्शवादी इस महत्वपूर्ण मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते है। वे यह नही देख पाते कि 'सत् प्रत्यक्षरूप है' यदि सत्य है

तो यह केवल एक स्वतः सिद्ध संश्लेषणात्मक सत्य होगा, वे इसके साथ एक अन्य ऐसी प्रतिज्ञा का या तो समीकरण करते हैं अथवा उसे इसके लिए हेतु रूप में प्रस्तुत करते हैं जो आत्म-व्याघाती होने के कारण असत्य है। यदि वे ऐसा नहीं करें तो उन्हें मानना पड़ेगा कि यह पूर्णतः निराधार मान्यता (अभ्युपगम) है; और यदि उन्हें इसकी निराधारता का ज्ञान हो गया हो तो मैं नहीं सोचता कि वे इसकी सत्यता को स्वतः सिद्ध मान लेंगे। हो सकता है कि 'सत् प्रत्यक्षरूप है', प्रतिज्ञा उस अर्थ में सत्य हो, जो अर्थ कि मैंने इसका देखा है—मैं इसका खण्डन नहीं कर सकता, किन्तु यदि इस अर्थ को स्पष्टतया समझ लिया जाय तो, मेरे विचार में कोई भी यह विश्वास नहीं करेगा कि यह सत्य था। हम देख चुके हैं कि आदर्श-वादियों को निस्संशय भाव से कहना चाहिये कि जो कुछ भी अनुभव किया जाता है वह अनिवार्यतः वैसा ही है। और वे साधारणतः इस सिद्धान्त को इस प्रकार से व्यक्त करते हैं कि 'अनुभव के विषय को ज्ञाता से अलग करके ग्रहण नहीं किया जा सकता' (अर्थात् 'ज्ञेय ज्ञाता से विलग अग्राह्य है')। यहाँ तक मैं यह बात बताना चाहता था कि इस प्रतिपादन को महत्वपूर्ण सत्य होने लिये किस अर्थ को धारण करना चाहिए। अब मैं यह बताना चाहता हूँ कि यह एक महत्वपूर्ण अर्थ रख सकता है, जो कि इसके आत्म-व्याघाती होने के कारण मिथ्या होना ही चाहिए।

दर्शन के इतिहास में यह सर्वविदित तथ्य है कि साधारणतया अनिवार्य सत्यों को विशेषकर उनको जिनके बारे में यह कहा गया है कि उनका विपरीत अग्राह्य है—इस अर्थ में विश्लेषणात्मक माना गया है कि उनको नकारने वाला तर्क वाक्य आत्म-व्याघाती होता है। इस तरह काण्ट से पूर्व यह साधारणतौर पर माना जाता था कि बहुत से सत्यों को केवल विरोध-नियम द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। अतएव यह एक साधारण सी भूल है जो आसानी से अत्युत्तम दार्शनिकों द्वारा भी की जा सकती है। काण्ट के बाद से भी बहुत से लोग इसको स्वीकार करते रहे हैं; लेकिन मुझे मालूम है कि उन आदर्शवादियों में, जो वास्तव में इस विशेषण के योग्य पात्र हैं, यह कहना अधिक फैशनेबुल हो गया है कि सत्य विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक दोनों होते हैं। किन्तु यहाँ मेरी रुचि उनके इस प्रति-पादन के विभिन्न हेतुओं को देखने में नहीं है। किन्तु यह सम्भव है कि किन्हीं सन्दर्भों में यह प्रतिपादन उपयोगी और सही अर्थ धारण कर ले। लेकिन यदि हम विश्लेषणात्मक को उक्त परिभाषित अर्थ में लें, अर्थात् जिसे केवल व्याघात नियम द्वारा सिद्ध किया जा सकता है, तो यह स्पष्ट है कि—यदि संश्लेषणात्मक का अर्थ यह हो, जिसे केवल इसके द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता तो कोई भी सत्य विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक साथ ही साथ नहीं हो सकता। अब मुझे यह प्रतीत होता है कि वे, जो सत्यों को मानते है, वे यह भी मानते हैं कि सत्य उपर्युक्त के अतिरिक्त अर्थों में भी ऐसे है। हालाँकि यह अत्यन्त ही विषम है कि विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक के ऐतिहासिक अर्थ के ऐसे अनिवार्य अंग का पूर्णतया बहिष्कार कर दिया गया हो, विशेषकर इसलिए कि इसके बहिष्कार की हमें कोई भी अभि-व्यक्ति मान्य तो नहीं मिलती। उस स्थिति में यह मानना उपयुक्त है कि अर्वाचीन आदर्शवादी

इस मत से प्रभावित हुए हैं कि कुछ नियम केवल व्याघात-नियम द्वारा ही सिद्ध किए जा सकते हैं। मै मानता हूँ कि वे स्पष्टतापूर्वक घोषणा भी करते है कि वे ऐसा नहीं कर सकते; लेकिन यह किसी भी प्रकार सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं है कि वे ऐसा नहीं सोचते, क्योंकि दो परस्पर विरुद्ध मतों का मानना वहुत सरल है। अतः मैं यह सुझाना चाहता हूँ कि आदर्शवादी अनुभव के अन्तर्गत विषयी और विषय सम्वन्धी प्रस्तुत सिद्धान्त को मानते हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि यह विश्लेषणात्मक सत्य है—इस सीमित अर्थ में कि यह केवल व्याघात-नियम द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है।

मैं यह सुझा रहा हूँ कि आदर्शवादी यह मानते हैं कि वस्तु और विषय अनिवार्यतः जुड़े हुए है, मुख्यतः इसलिए क्योंकि वह यह विल्कुल नही देख पाता कि वे भिन्न हैं, कि वे दो हैं। जब वह पीले के वारे में सोचता है, और जब वह पीले के सवेदन के वारे में सोचता है तो वह यह नही देख पाता कि दूसरे में कुछ भी ऐसा है जो पहले में नहीं है। यदि ऐसा है तो इस वात से इन्कार करना कि पीला कभी भी पीले के संवेदन से अलग है, केवल इस बात से इन्कार करना है कि पीला कभी भी अपने से भिन्न नही हो सकता (अर्थात् पीला सर्वदा पीला रहेगा, वह रक्त नहीं हो सकता), क्योंकि 'पीला' और पीले का सवेदन पूर्णतः अभिन्न है। यह कहना कि पीला अनिवार्यतः अनुभव का विषय है, केवल यह कहना है कि पीला आवश्यक रूप से पीला है—यह एक विशुद्ध रूप से अभिन्न वाक्य है, और इसीलिए केवल व्याघात-नियम द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है। अलवत्ता, इस तर्क वाक्य में यह भी निहित है कि आखिर अनुभव अवश्य ही पीले से कुछ भिन्न है—अन्यथा तो यह कहने का कोई कारण नही रह जायगा कि पीला एक संवेदन है: इस प्रकार यह तर्क इस वात को मानता भी है और इन्कार भी करता है कि 'पीला' और 'पीले का संवेदन' भिन्न हैं, और यह मान्यता इस तर्क का खण्डन करने के लिए पर्याप्त है। किन्तु इस अन्तर्विरोध को आसानी से नजरअन्दाज किया जा सकता है; क्योंकि, यद्यपि हम अन्य प्रसंगों में तो पूर्णरूपेण सहमत है कि 'अनुभव' का कुछ अर्थ है और यह कुछ वहुत ही महत्वपूर्ण है, तथापि हम कभी भी स्पष्टतया नहीं जान पाते कि इसका क्या अर्थ है, और इसीलिए प्रत्येक विशिष्ट स्थिति में हम इसकी उपस्थिति को देख नहीं पाते। तथ्य अपने आपको विप्रतिषेधक के रूप में प्रस्तुत करते है। (१) अनुभव कुछ विलक्षण और अन्य सब कुछ से विलग होता है; (२) हरे का अनुभव पूर्णतया हरे से अविभाज्य होता है; ये दो ऐसे तर्क-वाक्य हैं जो कभी भी एक साथ सत्य नहीं हो सकते। वे आदर्शवादी जो दोनों को मानते हैं, इस कठिनाई से केवल इस प्रकार से ही बच सकते है कि किसी सन्दर्भ में एक स्थिति से तर्क करें—और किसी में दूसरी से। लेकिन मैं इस वात से भलीभाँति परिचित हूँ कि ऐसे वहुत से आदर्शवादी है जो इस आरोप को निराधार वता कर इसका विरोध करेंगे, कि वे किसी संवेद अथवा प्रत्यय में तथा उसमें, जिसे मैं 'विषय' कहना चाहूँगा, भेद करने मे असफल रहते है और मैं स्वीकार करता हूँ कि वहुत से ऐसे भी है जो हम सव की तरह न केवल परोक्षतः ही यह अर्थापतित करते है कि हरा रंग हरे सवेद से भिन्न है, अपितु स्पष्टतया इस भेद पर जोर देते हैं और इसे अपनी योजना का एक

महत्वपूर्ण अङ्ग मानते हैं। वे शायद केवल यही कहेंगे कि दोनों में एक अविभाज्य एकता है। लेकिन मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि बहुत से लोग जो इस वाक्यांश का प्रयोग करते हैं, और जो इस भेद को स्वीकार भी करते हैं, केवल इसी बात के कारण इस आरोप से विमुक्त नहीं हो जाते कि वे इसका खण्डन करते हैं। क्योंकि आजकल के दार्शनिकों में एक सिद्धान्त बहुत प्रचलित है, जिसमें एक अत्यन्त साधारण अन्तर्भाव (रिडक्शन) से यह प्रतिपादन निहित देखा जा सकता है कि दो भिन्न वस्तुएँ अलग हैं भी और नहीं भी हैं। एक भिन्नता का तो प्रतिपादन किया जाता है, किन्तु साथ ही यह भी माना जाता है कि वे भिन्न वस्तुएँ एक आवयविक सायुज्य (आर्गेनिक युनिटी) बनाती हैं। लेकिन ऐसे सावयव सायुज्य को बनाने वाले अवयवों के बारे में यह माना जाता है कि प्रत्येक अङ्ग वह नहीं होगा जो वह है, यदि उसे दूसरे के सम्बन्ध से अलग देखा जाय तो। अतः केवल किसी भी एक के बारे में विचार करना एक अवैध पृथक्करण हो जायगा। यह ज्ञान कि 'सावयव सायुज्य' और 'अवैध पृथक्करण' इस अर्थ में विद्यमान हैं—आधुनिक दर्शन की मुख्य विजयों में से एक मानी जाती है। लेकिन इन पदों को क्या अर्थ दिया जाता है? एक पृथक्करण तभी अवैध होता है जब कि हम किसी एक अङ्ग के बारे में यह प्रतिपादित करना चाहते हैं जो कि केवल सम्पूर्ण के लिये ही सत्य होता है; और यह स्पष्ट करना उपयोगी होगा कि ऐसा नहीं किया जाना चाहिये। किन्तु इस सिद्धान्त का जो वास्तविक उपयोग किया गया है और शायद जिसे स्पष्टतया इसका अर्थ स्वीकार कर लिया जायेगा, वह उपयोगी होने के ठीक विपरीत है। इस सिद्धान्त का उपयोग इस प्रतिपादन के लिए किया गया है कि कतिपय पृथक्करण सभी स्थितियों में अवैध होते हैं; अर्थात जब भी आप किसी ऐसी वस्तु के लिए, जो किसी सावयव समग्र का अंश है, कुछ भी कहना चाहें तो आप जो भी कहेंगे वह केवल समग्र के लिए ही सत्य होगा। और यह सिद्धान्त बजाय एक उपयोगी सत्य होने के, अनिवार्यतः मिथ्या है। क्योंकि यदि समग्र को अंश के लिए सब प्रतिज्ञाओं में और सब प्रयोजनों के लिए प्रतिस्थापित किया जा सके, बल्कि किया जाना अनिवार्य हो तो यह केवल तभी हो सकता है यदि समग्र, अंश से पूर्णतः अभिन्न हो। अतः हमें जब यह कहा जाता है कि हरा और हरे का संवेद निश्चित रूप से ही भिन्न हैं, किन्तु फिर भी अविभाज्य हैं, कि एक को दूसरे से पृथक् करके देखना अवैध है, तो इन विधानों का यही अर्थ है कि, यद्यपि दो वस्तुएँ भिन्न हैं तथापि अन्य लोगों को उनसे ऐसे व्यवहार करना चाहिए जैसे वे भिन्न नहीं हों। अतएव बहुत से दार्शनिक जब कि इस भेद को स्वीकार करते हैं, तब भी (हेगल का अनुसरण करते हुए) वे जोरदार शब्दों में—जो कि अपेक्षाकृत अधिक दुर्बोध होते हैं—इसको नहीं मानने के अपने अधिकार का आग्रह करते हैं। संयुक्त विश्लेषण और संश्लेषण के सिद्धान्त की भाँति ही सावयव सायुज्यताओं के सिद्धान्त का उपयोग भी जहाँ कहीं भी यह सुविधाजनक हो—दो विरोधी प्रतिज्ञाओं का एक साथ समर्थन करने के लिए किया जाता है। अन्य बातों की भाँति ही इस बात में भी हेगल की दर्शन के प्रति मुख्य सेवा इस दोष को एक नाम देने और एक सिद्धान्त का रूप देने में है। यह अनुभव [illegible] व्यक्ति मान्य [illegible]तिक लोग, शेष मानवता के अनुरूप ही, इस मिथ्यात्व के अहेर होते हैं। तो [illegible]ी क्या बात है यदि हेगल के अनुचर और प्रशंसक हों!

अत: अब तक मैं यह दिखा चुका हूँ कि जब आदर्शवादी अपने सिद्धान्त 'सत् प्रत्यक्ष-रूप है' का प्रतिपादन करता है तो, यदि यह सत्य है तो, इससे उसका तात्पर्य यह होना चाहिए कि जो कुछ भी अनुभव-गम्य है उसका अनुभव होना चाहिए। और मैं यह भी दिखा चुका हूँ कि वह इस प्रतिज्ञा का एक मिथ्या प्रतिज्ञा के साथ, जो कि आत्म-व्याघाती होने के कारण मिथ्या है, अभेद स्थापन कर सकता है या, इसे उसके लिए हेतु के रूप में प्रस्तुत कर सकता है। लेकिन इस बिन्दु पर मैं अपने तर्क से पूर्णरूपेण अलग होने का प्रस्ताव करता हूँ। हम देख चुके हैं कि 'सत् प्रत्यक्ष रूप है' दो पदों के बारे में, जो कि एक दूसरे से उतने ही पृथक हैं जितने 'हरित' और 'मधुर' प्रतिपादित करता है कि जो भी इन में एक से विशेषित है, वह दूसरे से भी विशेषित होगा : इसका आग्रह है कि 'सद्भाव' और 'अनुभूत भाव' अनिवार्यत: जुड़े हुए हैं : कि जो भी है उसका अनुभव भी किया जाता है। और मैं स्वीकार करता हूँ कि सीधे तौर पर इसका खण्डन नहीं किया जा सकता। किन्तु मैं विश्वास करता हूँ कि यह मिथ्या है : और मैं स्पष्ट कह चुका हूँ कि जो भी यह देखेगा कि 'सत्' और 'प्रत्यक्षरूप' ठीक वैसे ही भिन्न हैं जैसे कि 'हरा' और 'मीठा', तो वह यह विश्वास करने को कभी भी तैयार नहीं होगा कि जो भी है उसका अनुभव भी किया जाता है, ठीक वैसे ही जैसे कि वह यह नहीं मानेगा कि जो हरा है वह मीठा भी है। मैं यह भी कह चुका हूँ कि कोई भी—जो यह देख लेगा कि 'सत्' 'प्रत्यक्षरूप' से कितना भिन्न है—यह विश्वास नहीं करेगा कि 'सत् प्रत्यक्षरूप है', लेकिन मैं इसे सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करूँगा। मैं यह भी दिखा चुका हूँ कि वे सभी, जो यह विश्वास करते हैं कि 'सत् प्रत्यक्षरूप है' एक आत्म-व्याघाती तर्क वाक्य का या तो इससे तादात्म्य कर देते हैं या इसके हेतु के रूप में उपस्थित कर देते हैं : लेकिन इसे भी मैं सिद्ध करने का प्रयास नहीं करूँगा। मैं केवल यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि कुछ तर्क-वाक्य, जिन पर विश्वास किया जाता है, मिथ्या है। किन्तु यहाँ मैं यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करूँगा कि इन पर विश्वास किया जाता है, और कि, इस विश्वास के बिना 'सत् प्रत्यक्षरूप है', पर भी विश्वास नहीं किया जाता।

तो अब मैं 'क्या सत् प्रत्यक्षरूप है ?' इस अरुचिकर प्रश्न से भी अधिक अरुचिकर और अप्रासङ्गिक प्रतीत होने वाले प्रश्न 'संवेद या प्रत्यय क्या है?' पर आता हूँ।

हम सब जानते है कि नीले का संवेद हरे के संवेद से भिन्न होता है। लेकिन यह स्पष्ट है कि यदि दोनों संवेद है तो दोनों में कुछ सामान्य बात भी होगी। यह क्या है जो उन दोनों में समान है ? और यह समान तत्त्व उन स्थितियों से किस प्रकार सम्बन्धित है जिनमें वे एक-दूसरे से भिन्न हैं ?

मैं इस समान तत्त्व को 'चेतना' कहूँगा बिना यह कहने कि कोशिश किये कि जिसे मैं चेतना कहता हूँ, वह है। तब हमारे प्रत्येक संवेद में दो पद होंगे (१) चेतना—जिसके संदर्भ में सभी संवेद एक जैसे होंगे; और (२) कुछ अन्य—जिसके संदर्भ में एक संवेद दूसरे से भिन्न होगा। यदि मुझे इस द्वितीय पद को संवेद का 'विषय' कहने दिया जाय तो यह सुविधा जनक होगा, और वह भी बिना यह बताने की कोशिश किये कि इस शब्द से मुझे क्या अर्थ

अपेक्षित है।

अतः प्रत्येक संवेद में हमें दो तत्त्व मिलेंगे एक तो जिसे मैं चेतना कहता हूँ, और दूसरा, जिसे मैं चेतना का विषय कहता हूँ। इसे ऐसा ही होना चाहिए यदि नीले का संवेद और हरे का संवेद किसी एक संदर्भ में भिन्न हों किन्तु दूसरे में एक जैसे हों; नीला संवेद का एक विषय है और हरा दूसरा, और चेतना जो दोनों संवेदों में समान है, दोनों से ही भिन्न है।

लेकिन (यदि आगे और चलें तो पायेंगे कि) कभी तो नीले का संवेद मेरे मस्तिष्क में रहता है और कभी यह नहीं रहता; और जैसा कि अब हम जानते हैं, नीले का संवेद दो भिन्न तत्वों को समाहित करता है—अर्थात् चेतना और नीले को—तो प्रश्न यह उठता है कि जब नीले का सवेदन रहता है तब चेतना रहती है या नीला रहता है या दोनों रहते हैं? और कम से कम यह बात तो स्पष्ट ही है कि तीनों विकल्प एक--दूसरे से भिन्न हैं। अतः कोई भी हमसे यह कहता है कि यह कहना कि 'नीले का अस्तित्व है' इस कथन के जैसा ही है कि 'नीले और चेतना दोनों का अस्तित्व है' तो वह एक ग़लती करता है, और यह ग़लती आत्म-व्याघाती है।

लेकिन दूसरी बात भी स्पष्ट ही है, अर्थात् यह कि जब सवेद रहता है तो कम से कम निश्चिततया चेतना भी रहती ही है; क्योंकि जब मैं कहता हूँ कि नीले और हरे दोनों संवेदों का अस्तित्व है, तो मेरा निश्चित रूप से यह तात्पर्य होता है कि जो दोनों में समान है और जिसकी वजह से दोनों को संवेद कहा जाता है वह प्रत्येक परिस्थिति में विद्यमान है। अतः अब केवल एक ही विकल्प रह जाता है : या तो दोनों विद्यमान रहते हैं या केवल चेतना विद्यमान रहती है। अतः यदि हमसे कोई भी यह कहता है कि नीले का अस्तित्व नीले सवेद के अस्तित्व जैसा ही है तो वह ग़लती कर रहा है, और यह ग़लती आत्म--व्याघाती है, क्योंकि वह यह कह रहा है कि, या तो नीला नीले और चेतना दोनों जैसा ही है या वह केवल चेतना जैसा ही है।

इस प्रकार नीले का, या किसी भी और का जिसे मैंने संवेद का 'विषय' कहा है, उसका सम्बद्ध संवेद से तादात्म्य कर देना एक आत्म-व्याघाती दोष है। यह या तो एक अंश का उस समग्र से तादात्म्य करना है जिसका कि यह अंश है अथवा उसी समग्र के किसी अन्य अंश के साथ उसका तादात्म्य करना है।

यह प्रतिपादन कि 'नीले का अस्तित्व है' वाक्य अर्थ हीन है यदि इससे हमारा अभिप्राय 'नीले के संवेग का अस्तित्व है' नहीं है तो, पूर्णतः असत्य और आत्म--व्याघाती है। यदि कोई हमें कहता है कि नीले का अस्तित्व संवेद से अतिरिक्त रूप में अकल्पनीय है, तो वह सम्भवतः इस अस्पष्ट वाक्य द्वारा एक आत्म--व्याघाती भ्रम का कथन करना चाहता है। क्योंकि हम नीले के अस्तित्व की कल्पना संवेद के अस्तित्व से पृथक् कर ही सकते हैं, और वह हमें अवश्य करनी चाहिए। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं न केवल यह कल्पना ही कर सकता हूँ, अपितु मेरे विचार में यह सत्य भी है। अतः या तो 'अकल्प्य' विषय इस भयावह

स्थापना का अर्थ असत्य--मूलक है और आत्म--व्याघाती है या इसका केवल यह तात्पर्य है कि यह वस्तु--स्थिति है कि नीले का कभी भी अस्तित्व नहीं हो सकता जब तक कि इसके संवेद का भी अस्तित्व नही हो।

और यहां मुझे अपना यह मत नहीं छिपाना चाहिए कि कोई भी दार्शनिक अभी तक इस आत्म--व्याघाती दोष का निवारण करने में सफल नहीं हो सका है : कि आदर्शवाद और अनीश्वरवाद दोनो के चमत्कृत कर देने वाले परिणाम नीले को नीले के सवेद से अभिन्न मान लेने पर ही प्राप्त हुए हैं; कि सत् को प्रत्यक्षरूप केवल इसलिये माना गया है क्योंकि जिसका अनुभव किया जाता है उसे उसके अनुभव से अभिन्न माना जाता रहा है। शायद यह स्वीकार किया जा सकता है कि बर्कले और मिल ने यह भूल की है : और कि आधुनिक आदर्शवादी भी यह भूल करते हैं; यह बात आगे जाकर अधिक सही प्रतीत होने लगेगी। लेकिन अपने मत की सम्भाव्यता के लिये दो प्रमाण प्रस्तुत करूंगा। प्रथम तो यह कि भाषा हमें 'नीले', 'हरे' व 'मीठे' विषयों को सवेद कहने के अतिरिक्त उनके निर्देश का और कोई भी साधन प्रस्तुत नहीं करती; उन्हें 'वस्तुएँ', 'विषय' या 'पद' कहना भाषा का स्पष्ट अतिक्रमण करना है। और इसी प्रकार हमारे पास 'कारणता' या 'समरूपता' तथा 'अभिन्नता' को निर्देशित करने का इसके अलावा और कोई स्वाभाविक साधन नही है कि हम उन्हें 'विचार', 'प्रत्यय' या 'अवधारणाएँ' कहें। लेकिन यह मुश्किल से ही सम्भव प्रतीत होता है कि यदि अतीत में दार्शनिकों ने स्पष्ट रूप से सवेद या प्रत्यय में, और उसमें जिसे मैंने इसका विषय कहा है, भेद किया होता तो विषय के लिये कोई अलग से नाम नहीं होता। उन्होंने सदैव इन दो भिन्न 'चीजों' को—यदि मैं उन्हें ऐसा कह सकूँ—एक ही नाम दिया है और इसलिए इस बात की कुछ सम्भावना है कि उन्होने इन 'चीजों' को दो और भिन्न नही माना वरन् एक और समान ही माना। और दूसरे, उन्होंने ऐसा क्यों माना, इसके लिए एक बहुत अच्छा हेतु इस तथ्य में है कि जब हम अपने भीतर झाँकते है और यह खोजने का प्रयत्न करते है कि नीले का संवेद क्या है, तो यह मानना बहुत सरल प्रतीत होता है कि हमारे सामने एक ही वस्तु है। 'नील' पदाभिधेय को पृथक् करना तो बहुत ही सरल है, लेकिन दूसरा तत्त्व, जिसे मैंने 'चेतना' (वह जो नीले और हरे के संवेदनों में सामान्य है) कहा है उसे स्पष्टांकित करना अत्यन्त ही कठिन है। बहुत से मनुष्य इसको स्पष्ट आँकने में सर्वथा असफल रहते है, यह इस बात से पर्याप्त स्पष्ट देखा जा सकता है कि, कुछ लोग भौतिकवादी है। और सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि जो नीले के संवेद को एक मानसिक तथ्य बनाता है, हमारी पकड़ में नहीं आता और यदि मुझे एक रूपक का प्रयोग करने की अनुमति हो तो मै कह सकता हूँ कि यह पारदर्शी प्रतीत होता है—हम इसमें से देखते है और 'केवल नीले' को ही देखते है, हम निश्चिततया यह भी मान सकते हैं कि कुछ है, किन्तु वह क्या है यह, मेरे विचार में, अभी तक किसी भी दार्शनिक को स्पष्टतः ज्ञात नही है।

लेकिन यह एक अवान्तार चर्चा थी। अभी तक मैंने जो स्थापित किया वह यह ही कि प्रत्येक संवेद या प्रत्यय में हमें दो तत्त्वो को अलग अलग करना चाहिए–(१) 'विषय' या वह

जिसमें एक संवेद दूसरे से भिन्न होता है; और (२) 'चेतना', या वह जो सब में समान है—वह जो उन्हें संवेद या मानसिक तथ्य बनाती है । चूँकि यह ऐसा है, इसलिये इससे यह अनुगमित होता है कि जब एक संवेद या प्रत्यय का अस्तित्व हो तो हमें इन विकल्पों में से चुनना होगा कि, या तो केवल विषय का या केवल चेतना का या दोनों का, अस्तित्व है; और मैंने यह दिखाया कि इन विकल्पों में एक, जो केवल 'विषय' का अस्तित्व मानता है, इस तथ्य के कारण अपवर्जित हो जाता है कि जिस बात को हम कहना चाहते हैं वह यह कि एक मानसिक तथ्य का अस्तित्व है । अब प्रश्न यह रह जाता है कि क्या दोनों का अस्तित्व है ? या केवल चेतना का अस्तित्व है ? और इस प्रश्न का आज तक जो सार्वभौम उत्तर दिया गया है वह यह है कि दोनों का अस्तित्व है । यह उत्तर किसी भी संवेद या प्रत्यय के अन्तर्गत 'विषय' के 'चेतना' के साथ सम्बन्ध यहाँ अभी तक स्वीकृत विश्लेषण से अनुगमित होता है । यह माना जाता रहा है कि जिसे मैं विषय कहता हूँ वह केवल मात्र संवेद या प्रत्यय का वस्तु तत्त्व (कांटेंट) है । यह भी माना जाता रहा है कि प्रत्येक अवस्था में हम दो, और केवल दो, तत्त्वों को ही विलग कर सकते हैं : (१) यह तथ्य कि सवेद या अनुभव है, और (२) जो कुछ भी संवेदन या अनुभव किया जाता है—संवेद या प्रत्यय; यह कहा गया है कि, वह एक समग्र बनाता है जिसमें हमें दो 'अविश्लेष्य तत्त्वों' को भिन्न करना चाहिए—अर्थात् वस्तुतत्त्व (कांटेंट) और 'अस्तित्व'। मैं यह दिखाने का प्रयत्न करूँगा कि यह विश्लेषण मिथ्या है; और इसके लिये एक ऐसा प्रश्न पूछूँगा जो असाधारण दिखाई दे सकता है : अर्थात् यह कहने का क्या तात्पर्य है कि एक चीज दूसरी का वस्तुतत्त्व है ? यह प्रश्न सामान्यतः प्रत्याशित नहीं है, क्योंकि यह पद ऐसे प्रयुक्त किया जाता है मानों इसे सब समझते ही हैं। लेकिन चूँकि मैं यह मानने जा रहा हूँ कि 'नीला' 'नीले' के सवेद का वस्तुतत्त्व नहीं है, और जो इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि यदि यह हो तो भी यह विश्लेषण नीले के संवेद में जो बहुत महत्वपूर्ण तत्त्व है उसे छोड़ देगा, अतः यह आवश्यक है कि मैं स्पष्टतः यह बताने का प्रयत्न करूँ कि वह क्या है जिसका मैं निषेध करूँगा।

तब यह कहने का क्या तात्पर्य है कि एक वस्तु दूसरी का अंश है ? सबसे पहले मैं यह बताना चाहूँगा कि 'नीले' को उचित ही नीले पुष्प की अन्तर्वस्तु का एक हिस्सा कहा गया है। अतः यदि हम यह भी कहें कि यह नीले के संवेद की अन्तर्वस्तु का भाग है, तो हम कह सकते हैं कि इसका सम्बन्ध समग्र के अन्य भागों से (यदि कोई हो) वही है जो यह नीले पुष्प के अन्य भागों से रखता है — और तब हम केवल यह कह सकते है कि इसका नीले के संवेद से कोई भी ऐसा सम्बन्ध नहीं हो सकता जो इसका नीले पुष्प से न हो सके। और हम देख चुके हैं कि नीले के संवेद में नीले के अतिरिक्त एक और भी तत्त्व विद्यमान है जिसे मैंने 'चेतना' कहा है, जो इसे संवेदन बनाती है। अतः जब तक हम यह कहते हैं कि नीला संवेद का अंश है, तो हम यह दृढ़ निश्चय के साथ कहना चाहते हैं कि इसका चेतना से भी वही सम्बन्ध है जो इसका नीले पुष्प के अन्य हिस्सों से है : हम केवल यही कहना चाहते है और इसके अतिरिक्त कुछ नही कहना चाहते । इस प्रश्न में कि, नीले और नीले पुष्प में वस्तुतः क्या

सम्बन्ध है जिसके कारण हम पूर्वोक्त भाग को अन्तर्वस्तु कहते है, मैं नहीं उलझना चाहता। मेरे उद्देश्य के लिए तो यह बताना ही पर्याप्त है कि यही वह बहुचर्चित सामान्य सम्बन्ध है जो एक पदार्थ और उसके गुणों में होता है; और कि, यह सम्बन्ध ऐसा है कि यह कहना कि पदार्थ का अस्तित्व है यह समाहित करता है कि गुणों का भी अस्तित्व है। जब हम पदार्थ के अस्तित्व का कथन करते हैं तो हम उसकी मात्रा के अस्तित्व का भी कथन करते है।

इसलिए जब नीले को 'नीले के संवेद' की अन्तर्वस्तु का भाग कहा जाता है तो पिछले को वैसा ही समझा जाता है मानों यह एक ऐसा समग्र हो जो किसी भी अन्य 'वस्तु' की भाँति ही बना हो। इस दृष्टि से 'नीले का संवेद नीले मनके या नीली दाढ़ी से उसी प्रकार भिन्न होता है जैसे ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न है : नीले मनके, नीली दाढ़ी से इस बात में भिन्न है कि जब कि पहले में कांच है, दूसरे में बाल है; और नीले का संवेद दोनों से इस बात में भिन्न है कि कांच और बाल के स्थान पर इसमें चेतना है। नीले से चेतना के सम्बन्ध को ठीक उसी प्रकार देखा जाता है जैसे कि नीले का कांच या बाल से है : यह तीनों ही परि-स्थितियों में किसी पदार्थ का गुण है।

लेकिन मैंने अभी कहा कि नीले के संवेद का विश्लेषण 'अन्तर्वस्तु' और 'अस्तित्व' मे किया गया है, और नीले को नीले के प्रत्यय का अंश कहा गया है। यहाँ इसमें एक अस्पष्टता है और एक सम्भव दोष है जिसे मुझे आगे बढ़ने से पूर्व नोट करना चाहिए। 'अन्तर्वस्तु' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया जा सकता है। यदि हम 'अन्तर्वस्तु' का व्यवहार ब्रैडले द्वारा प्रयुक्त 'क्या' के समान ही करें—यदि इसके द्वारा हम उस सब को घोषित करना चाहें, जिसका अस्तित्व है, जब कि उस पदार्थ का अस्तित्व हो, तब तो निश्चिततया ही नीला नीले के संवेद का अंश नहीं हो सकता : और पद के इस अर्थ में सवेद की अन्तर्वस्तु का एक भाग वह दूसरा तत्त्व है जिसे मैंने चेतना कहा है। अतएव इस सवेद का विश्लेषण एक ओर तो 'अन्त-र्वस्तु' और 'नीले' में और दूसरी ओर केवल अस्तित्व में अवश्य ही मिथ्या है; और इसमें पुनः 'नीले का अस्तित्व' और 'नीले के सवेद के अस्तित्व' की अभिन्नता मे आत्म--व्याघात है। लेकिन एक और अर्थ में, जिसमें 'नीले' को संवेद की एक मात्र अन्तर्वस्तु कहा जा सकता है—अर्थात् उस अर्थ में जिसमें कि 'अन्तर्वस्तु' 'द्रव्य' या 'भौतिक तत्त्व' का विपरीतार्थक है। क्योंकि 'चेतना' तत्त्व सभी सवेदों में समान होने के कारण उपयुक्त रूप से और निश्चय ही, किसी अर्थ में उनका द्रव्य माना जाता है, और प्रत्येक की 'अन्तर्वस्तु' अभिप्रेत है वह तत्त्व जिसकी अपेक्षा से एक से दूसरा भिन्न होता है। तब इस अर्थ में 'नीले' को 'संवेद' की एक-मात्र अन्तर्वस्तु कहा जा सकता है; लेकिन कम से कम उस अवस्था में 'अन्तर्वस्तु' और 'अस्तित्व' में विश्लेषण भ्रामक हो जायगा क्योंकि 'अस्तित्व' पद के अर्थ में उसका समावेश करना भी आवश्यक है जो 'संवेद' में नीले से अतिरिक्त अस्तित्ववान है।

अतः यह एक सर्वमान्य मत है कि नीला नीले के संवेद या प्रत्यय से उसकी अन्तर्वस्तु के रूप में सम्बन्धित है, और इस विचार का यदि इसे सत्य होना हो तो, यह तात्पर्य होना चाहिये कि नीला उसका भाग है जिसको अस्तित्ववान तब कहा जाता है जब कि हम कहते

है कि संवेद का अस्तित्व है। और यह कहना कि संवेद अस्तित्ववान् है इन दोनों कथनों के बराबर है कि नीले का अस्तित्व है और 'चेतना' का भी—चाहे हम इसे द्रव्य कहें, जिसका 'नीला' एक मात्र अन्तर्वस्तु है, और चाहे इसे अन्तर्वस्तु का अन्य भाग कहें। कोई भी संवेद प्रत्यय एक 'वस्तु' है, और जिसे मैंने इसका विषय कहा है वह इस वस्तु का गुण है। ऐसी 'वस्तु' वह है जिसे हम तब सोचते हैं जब हम मानसिक बिम्ब को सोचते हैं। एक मानसिक बिम्ब को ऐसा माना जाता है जैसे कि यह उससे, जिसका (यदि वस्तु है) यह बिम्ब है, ठीक उसी प्रकार में सम्बन्धित है जैसे कि दर्पण में अंकित बिम्ब उससे सम्बन्धित होता है जिसकी कि यह प्रतिच्छवि होता है; दोनों ही परिस्थितियों में अन्तर्वस्तु की एकरूपता है, दर्पण का बिम्ब मन के बिम्ब से केवल इस बात में भिन्न है कि एक अवस्था में तो दूसरा घटक काँच है जबकि दूसरी अवस्था में यह चेतना है। यदि प्रतिबिम्ब नीले का हो तो इसके चेतना से नहीं अपितु काँच से सम्बन्ध के बारे में विचार किया जाता है; इसे केवल मात्र इसकी अन्तर्वस्तु मान लिया जाता है। और इस तथ्य के कारण कि संवेद और प्रत्यय इस वर्णन के समग्र माने जाते हैं—मन की अन्तर्गत वस्तुएँ—इसलिए यह प्रश्न कि हम क्या जानते है ? इस प्रश्न का पर्याय माना जाता है कि हमारे पास इस मान्यता का क्या हेतु है कि मन के बाहर वैसी ही वस्तुओं का अस्तित्व है जैसी वस्तुओं का मन के भीतर है ? अतः मैं जो बताना चाहता हूँ वह यह है कि (१) हमारे पास यह मानने के कोई कारण नहीं हैं कि मानसिक बिम्ब नाम की कोई चीजें भी हैं—और यह मानने के लिए भी कि, नीला नीले के संवेद की अन्तर्वस्तु का भाग है, और (२) यदि मानसिक बिम्ब हों भी तो, कोई भी मानसिक बिम्ब और कोई भी संवेद या प्रत्यय केवल इस प्रकार का पदार्थ नहीं है : वह 'नीला' यदि यह नीले के बिम्ब या संवेद या प्रत्यय की अन्तर्वस्तु का भाग हो तो भी इससे सर्वदा किसी अन्य प्रकार से भी सम्बन्धित रहता है, और यह अन्य सम्बन्ध ही—जिसकी पारस्परिक विश्लेषण में उपेक्षा की गई है — केवल एक सम्बन्ध है जो नीले के संवेद को एक मानसिक तथ्य बनाता है।

किसी भी सवेद या प्रत्यय का ठीक विश्लेषण निम्न प्रकार का होता है : वह तत्त्व, जो कि सबमें समान रूप से विद्यमान है और जिसे मैंने 'चेतना' कहा है वह वस्तुतः ही चेतना है। वास्तव में संवेद 'जानना' या 'अवगत होना' या 'अनुभव होना' है। जब हम यह जानते है कि नीले का सवेद अस्तित्वमान है तो हम जो तथ्य जानते हैं वह यह है कि नीले की अवगति का अस्तित्व है। और यह अवगति अपने आप में केवल स्फुट और विलक्षण ही नहीं है, नीले से सर्वथा अलग, वरन् यह नीले से पूर्णतः स्फुट और विलक्षण रूप से सम्बन्धित भी है, यह सम्बन्ध न तो वैसा है जैसा पदार्थ या द्रव्य का अन्तर्वस्तु से होता है और न ही वैसा जैसा अन्तर्वस्तु के एक भाग से इसके दूसरे भाग का होता है। यह सम्बन्ध केवल वह है जिसका अर्थ प्रत्येक अवस्था में 'जानना' है। अपने मस्तिष्क में नीले के ज्ञान को रखने का मतलब अपने मस्तिष्क में किसी 'पदार्थ' या 'प्रतिबिम्ब' को रखना नहीं है, जिसका कि नीला 'अन्तर्वस्तु' हो। नीले के सवेद की अवगति का तात्पर्य किसी मानसिक प्रतिबिम्ब से अवगत

होना नहीं है, ऐसी वस्तु से जिसके कि 'नीला' और कोई दूसरा तत्त्व उसी अर्थ में घटक हों, जिस अर्थ में कि नीला और काँच नीले मनके के घटक होते हैं। यह तो नीले कि अवगति से अवगत होना है; यहाँ दोनों परिस्थितियों में अवगति का प्रयोग बिल्कुल एक ही अर्थ में किया गया है। हम देख चुके हैं कि इस तत्त्व की 'अन्तर्वस्तु' सिद्धान्तवादियों द्वारा उपेक्षा की गई है : यह सिद्धान्त इस तथ्य को अभिव्यक्त करने में पूर्णरूपेण असफल हो जाता है कि नीले के सवेद में नीले और दूसरे घटक के बीच यह एक विलक्षण सम्बन्ध है। और मेरा यह दावा है कि यह चूक केवल अभिव्यक्ति के प्रमाद के कारण नही है, अपितु इसलिए है कि यद्यपि दार्शनिकों ने यह देख लिया है कि 'चेतना' से कुछ भिन्न अभिप्रेत है, किन्तु वे अभी तक यह स्पष्ट अवधारणा नहीं कर पाये कि यह 'कुछ' क्या है। वे उसे और नीले को अपने मन के समक्ष रख कर इनकी तुलना उस प्रकार से नही कर सकते जिस प्रकार वे नीले और हरे की तुलना कर सकते हैं। और यह उसी कारण है जो मै ऊपर दे चुका हूँ, अर्थात् जिस क्षण हम चेतना पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहते है और देखना चाहते है कि स्पष्टतः यह क्या है, उसी क्षण यह तिरोहित होती दिखलाई पड़ती है : ऐसा दृष्टिगोचर होता है मानों हमारे समक्ष केवल शून्यता रही हो। जब हम नीले संवेद के मानस-दर्शन का प्रयत्न करते है तो हमें केवल नीला ही दिखाई देता है, दूसरा तत्त्व ऐसा है मानों यह दर्शक हो। तब भी यदि हम खूब ध्यानपूर्वक देखें, और यदि हम यह जाने कि कुछ देखने के लिए है तो इसे भिन्न किया जा सकता है। इस परिच्छेद में मेरा उद्देश्य पाठक को इसे दिखाने का प्रयत्न करना रहा है, किन्तु मुझे याद है कि मैं उसमें बहुत कम सफल हुआ हूँ।

अब चूंकि इस अवस्था में नीले का सवेद अपने विश्लेषण में नीले के अतिरिक्त एक विलक्षण तत्त्व 'अवगति' और एक विलक्षण सम्बन्ध को—जो कि इस तत्त्व का नीले से है—समाहित करता है, अतः मै अपने अर्थ को दो भिन्न तर्क वाक्यो द्वारा स्पष्ट कर सकता हूँ, (१) कि सम्भवतया नीला संवेद की 'अन्तर्वस्तु' का भाग बिल्कुल भी न हो, यदि नीले का इससे केवल यही सम्बन्ध हो तो। अतः प्रथम अभ्युपगम को अब यह कह कर अभिव्यक्त किया जा सकता है कि, यदि यह सत्य रहा हो, तब जब कि नीले के संवेद का अस्तित्व है वहाँ नीले की अवगति का भी अस्तित्व है : कोई इस अभिव्यक्ति से चिढ़ सकता है, किन्तु तब भी यह ठीक वह अभिव्यक्त करता है जो कि इस कथन का अर्थ होना चाहिए और जो इस अवस्था में इस कथन से अभिप्रेत है कि, नीला चेतना या अनुभव की अन्तर्वस्तु है। जब मुझे नीले का संवेद होता है तब मेरी चेतना या प्रज्ञा भी नीली होती है या नही, इस सम्बन्ध में अन्तर्दर्शन मुझे विनिश्चित होने में सक्षम नही बनाता : केवल मुझे यह सोचने का कोई औचित्य दिखाई नहीं देता कि यह ऐसा है। लेकिन यह ऐसा है या नही, यह बात इतनी महत्वपूर्ण नही है, क्योंकि अन्तर्दर्शन मुझे यह निश्चित करने में सक्षम बनाता है कि कुछ और भी सत्य है; अर्थात् कि मुझे नीले की अवगति है, और इससे मेरा तात्पर्य है कि मेरी अवगति नीले से एक बिल्कुल अलग और भिन्न सम्बन्ध रखती है। मैं मानता हूँ कि यह सम्भव है कि मेरी अवगति नीली भी हो और साथ ही साथ नीले की भी हो; लेकिन जिसके बारे में मैं बिल्कुल निश्चित

हूँ वह यह है कि यह नीले की है; कि इसका नीले से एक सरल और विलक्षण सम्बन्ध है जिसका अस्तित्व ही केवल हमारे वस्तु के ज्ञान और ज्ञान वस्तु के, और इस प्रकार से मन और भूत के भेद को तर्क संगत सिद्ध करता है। और इस निष्कर्ष को मैं यह कह कर प्रकट कर सकता हूँ कि जिसे संवेद की अन्तर्वस्तु कहा जाता है वह वास्तव में वही है जो मैंने आरम्भ में इसे कहा था अर्थात् सवेद का विषय।

परन्तु यदि यह सब सत्य है तो इससे क्या अनुगमित होता है ?

आदर्शवादी स्वीकार करते हैं कि कुछ वस्तुओं का यथार्थतः अस्तित्व है, जिनका कि उन्हें ज्ञान नहीं है : वे मानते हैं कि कुछ वस्तुएँ है जो उनके अनुभव से अवियोज्य तत्त्व नहीं हैं, यद्यपि वे किसी अन्य अनुभव के अवियोज्य तत्त्व हो सकती है। आगे उनकी यह भी धारणा है कि कतिपय वस्तुओं का जिनकी उन्हें कभी-कभी अवगति होती है, तब भी अस्तित्व होता है जब उन्हे उनकी अवगति नहीं भी होती; उदाहरण के लिए-वे यह मानते हैं कि उन्हें कभी-कभी अन्य मस्तिष्कों की अवगति होती है, जो तब भी अस्तित्ववान रहते हैं जब कि उन्हें उनकी अवगति नहीं होती। अतः उन्हें कभी-कभी ऐसी वस्तु की भी अवगति होती है जो उनके स्वयं के अनुभव से अवियोज्य नहीं होती। वे कुछ ऐसी वस्तुओं को भी जानते हैं जो उनके अनुभव के केवल भान या अन्तर्वस्तुएँ नहीं होती। और मैंने संवेद के अपने विश्लेषण की योजना इस प्रयोजन के अनुरूप की है कि यह दिखाया जा सके कि जब एक संवेद या प्रत्यय घटित होता है तब मैं कुछ ऐसे के बारे में अवगत होता हूँ जो समान रूप से और उसी अर्थ में मेरे अनुभव का अवियोज्य पक्ष नहीं होता। वह अवगति जिसको मैने संवेद में समाविष्ट माना है, वही विलक्षण तथ्य है जो सब प्रकार के ज्ञान की रचना करता है : 'नीला' मेरे अनुभव का उतना ही विषय है, और इसका केवल मात्र अन्तर्वस्तु होना उतना ही कम सम्भव है जितनी कि मेरी अवगति में कोई भी महान् और स्वतन्त्र सत् वस्तु। इसलिए यह कोई प्रश्न नही है कि हम अपने प्रत्ययों और संवेदों के चक्र से बाहर कैसे निकलें। संवेद का होना मात्र ही उस चक्र से बाहर होने का सूचक है। यह ऐसी वस्तु को जानने जैसा है जो कि उचित रूप से मेरे अनुभव से उतनी ही पृथक् है जितना कुछ भी हो सकता है।

अब मैं समझता हूँ कि मैं यह प्रतिपादित करने में गलत नहीं था कि आदर्शवादी ऐसा क्यों मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु जो है, उसे किसी अनुभव का अवियोज्य पहलू होना चाहिए, वह कारण यह है कि वे कम से कम कुछ वस्तुओं को अपने अनुभव का अवियोज्य पहलू मानते हैं। और वास्तव में निश्चित रूप से कुछ भी ऐसा नहीं है—सिवाय उसके जिसे वे संवेदों और प्रत्ययों की अन्तर्वस्तु कहते हैं—जिसको वे अपने अनुभव का अवियोज्य पहलू मानने में इतनी दृढ़ता से विश्वास करते हैं। इसलिए यदि यह प्रत्येक अवस्था में-चाहे वह अन्तर्वस्तु हो या नही। कम से कम इसके अनुभव का अवियोज्य पहलू न बन जाय, तो यह तुरन्त मान लिया जायगा कि और कुछ भी, जिसको हमने कभी भी अनुभव किया हो ऐसा अवियोज्य पहलू नहीं है—लेकिन यदि हमने कभी भी, सिवाय उसके जो कि उस अनुभव का अवियोज्य पहलू नहीं है, किसी भी अन्य वस्तु का अनुभव न किया हो तो हम यह कैसे अनुमान कर सकते हैं कि

जो कुछ भी है वही या सभी कुछ किसी भी अनुभव का अवियोज्य पहलू है ? इस स्पष्टतम प्रकाश में यह धारणा कि 'सत् प्रत्यक्षरूप' है कैसी सर्वथा निराधार प्रतीत होती है। परन्तु मैं सोचता हूँ कि, यह देखा जा सकता है कि यदि आदर्शवादी के संवेद का विषय, जैसा कि वह समझता है, विषय नही होकर केवल उस सवेद की अन्तर्वस्तु हो, अर्थात् यदि वस्तुत. ही यह उसके अनुभव का अवियोज्य पहलू हो, तो प्रत्येक आदर्शवादी कभी भी न तो स्वयं से ही और न ही किसी अन्य सत् वस्तु से अवगत हो सकेगा। क्योंकि किसी भी सवेद का इसकी वस्तु से सम्बन्ध निश्चित रूप से उसी तरह का होता है जैसा कि किसी भी अन्य अनुभव का उसके विषय से होता है; और मैं सोचता हूँ कि साधारणतया यह आदर्शवादियो द्वारा भी माना जाता है : वे उतने ही तत्परता से यह भी प्रतिपादित करते है कि जो भी निर्णीत किया या सोचा या देखा जाता है वह उस निर्णय का विचार या प्रत्यक्ष ज्ञान की अन्तर्वस्तु होती है, जैसे कि नीला नीले के सवेद की अन्तर्वस्तु है। लेकिन यदि ऐसा हो तो जब कोई भी आदर्शवादी यह सोचे कि उसे स्वयं की अवगति है, या किसी अन्य की है, तो यह वस्तुतः नहीं हो सकता। तथ्य यह है कि, उसके स्वय के सिद्धान्त द्वारा भी—कि वह स्वय और अन्य व्यक्ति वास्तव में केवल एक अवगति की अन्तर्वस्तुएँ है, जो (अवगति) कि स्वयं किसी से अवगत नहीं है। अतः जो कुछ भी कहा जा सकता है वह यह है कि उसमे किसी निश्चित अन्तर्वस्तु की अवगति है; परन्तु यह कभी सत्य नही हो सकता कि उसमे किसी भी वस्तु की चेतना है। और इसी प्रकार उसे इस तथ्य की भी कभी अवगति नही हो सकती कि उसका अस्तित्व है या कि सत्ता आध्यात्मिक है। वास्तविक तथ्य—जिसका वर्णन वह उन पदों में करता है—यह है कि उसका अस्तित्व और सत्ता की आध्यात्मिकता एक अवगति की अन्तर्वस्तुएँ है, जिसे कि किसी का भी भान नहीं है। तव तो निश्चित रूप से उसे स्वय की अन्तर्वस्तु का भी भान नही हो सकता।

और भी, यदि वह प्रत्येक वस्तु जिसको कि वह सोचता है कि उसे अवगति है—वास्तव में उसके स्वय के अनुभव की केवल अन्तर्वस्तु हो, तो उसके पास इस धारणा का कोई कारण नहीं रह जाता कि उसके अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व भी है : अलवत्ता यह सम्भव होगा कि अन्य व्यक्तियों का अस्तित्व हो; सॉलिपसिज्म आवश्यक रूप से सत्य नहीं होगा; किन्तु वह अपनी किसी भी धारणा से सम्भवतया यह अनुमान नही कर सकेगा कि यह सत्य नही है। अलवत्ता उसके इस आधार वाक्य से कि उसका स्वयं का अस्तित्व है, अनुगमित हो जायेगा कि वहुत सी वस्तुएँ उसके अनुभव की अन्तर्वस्तुएँ है। लेकिन चूँकि प्रत्येक वह पदार्थ जिसके बारे में वह सोचता है कि उसे (उसकी) अवगति है, वास्तव में केवल मात्र उस अवगति का अवियोज्य पहलू है; तो यह आधार वाक्य किसी भी इस अनुमान को स्वीकार नही करता है कि इन अन्तर्वस्तुओं में से किसी का भी अवगति की अन्तर्वस्तु होने से भिन्न, अस्तित्व है, अन्य चेतना का स्वतन्त्र अस्तित्व तो दूर की वात है।

ये परिणाम हैं जो आदर्शवादी की इस मान्यता से अनुगत होते हैं कि किसी अनुभव का विषय वास्तव में केवल उसकी अन्तर्वस्तु होती है अथवा अवियोज्य पहलू ही होता है,

इससे वे परिणाम अनुगत नहीं होते जो वह समझता है कि होते हैं। और दूसरी ओर, यदि हमें स्पष्टतः उस विलक्षण सम्बन्ध स्वभाव के बारे में ज्ञान हो जिसे मैंने 'किसी भी वस्तु की अवगति कहा है, यदि हम यह देख लें कि यह समान रूप से प्रत्येक अनुभव के विश्लेषण में निहित है--सरल संवेद से लेकर अत्यन्त विकसित प्रत्यक्ष ज्ञान या विमर्श तक में; और यह कि तथ्यतः केवल मात्र यही किसी अनुभव का आधारभूत तत्त्व है—एक मात्र ऐसी वस्तु जो सभी अनुभवों में समान और विलक्षण है—यही वह चीज है जो किसी भी तथ्य को हमें मानसिक कहने का कारण देती है; आगे, यदि हमें यह ज्ञात हो कि यह अवगति सभी अवस्थाओं में इसी तरह की है या होनी चाहिए, कि इसका विषय जिसका ज्ञान कि हमें है, परिशुद्ध रूप से तब भी वैसा ही होगा जब कि हम इससे अनवगत भी हों: तो यह स्पष्ट हो जाता है कि देश में एक मेज का अस्तित्व इसके बारे में अनुभव से ठीक उसी प्रकार सम्बन्धित है जिस प्रकार कि मेरे अनुभव का अस्तित्व उसके मेरे अनुभव से सम्बन्धित है। दोनों की हमें केवल अवगति मात्र है: यदि हमें यह अवगति है कि एक का अस्तित्व है, तो हमें ठीक उसी अर्थ में दूसरे के अस्तित्व की भी अवगति है; और यदि यह सत्य है कि मेरे अनुभव का अस्तित्व तब ही हो सकता है, जब कि मुझे इसके अस्तित्व की अवगति नहीं हो, तो हमारे पास ठीक उसी प्रकार के हेतु यह मानने के लिए भी हैं कि मेज का भी अस्तित्व उसके बिना हो सकता है। अतः जब बर्कले ने यह माना था कि वह एक मात्र वस्तु जिसकी मुझे प्रत्यक्ष रूप से अवगति है, केवल मेरे स्वयं के संवेद और प्रत्यय ही हो सकते हैं, तो उसने एक ऐसी बात मानी थी जो मिथ्या थी; और जब काण्ट ने यह माना था कि वस्तुओं की देश में निरपेक्ष सत्ता उनके इस तथ्य में है कि वे Vorstellungun हैं और उनका परस्पर सम्बन्ध उससे भिन्न प्रकार का है जिस प्रकार का एक Vorstellungun का दूसरे से आत्म-निष्ठ अनुभव में होता है तो उसने एक ऐसी बात मानी थी जो समान रूप से मिथ्या थी। मुझे देश में भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व की उतनी ही अवगति है जितनी कि स्वयं के संवेद की; और प्रत्येक के बारे में मुझे जिस बात की अवगति है वह बिल्कुल समान है—अर्थात् एक अवस्था में भौतिक वस्तु और दूसरी में मेरे संवेद वास्तव में अस्तित्ववान् हैं। अतः भौतिक वस्तुओं के बारे में जो प्रश्न पूछा जाना चाहिए वह यह नहीं है; कि हमारी इस मान्यता के क्या कारण है कि हमारे संवेद के अनुरूप किसी वस्तु का अस्तित्व है ? वरन् यह कि हमारे पास यह मानने के क्या कारण हैं कि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है क्योंकि उनके अस्तित्व के बारे में भी ठीक वैसे ही साक्ष्य (प्रमाण) हैं जैसे कि हमारे संवेद के अस्तित्व के बारे में ? यह मिथ्या हो सकता है कि दोनों का अस्तित्व है; किन्तु यदि भौतिक द्रव्य के अस्तित्व के संशय में कोई भी कारण है, कि यह हमारे अनुभव का एक अवियोज्य पहलू है, तो ऐसा ही तर्क अन्तिम रूप से यह भी सिद्ध कर देगा कि हमारे अनुभव का भी अस्तित्व नहीं है, क्योंकि वह भी इसके हमारे अनुभव का अवियोज्य पहलू होना चाहिए। अब इस स्वीकृति का, कि भौतिक द्रव्य का भी अस्तित्व है और आत्मा का भी, केलव एक ही तर्क संगत विकल्प है—पूर्ण शसंयवाद, जो

यह मानेगा कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। यदि भौतिक द्रव्य में विश्वास का कोई कारण नहीं हो तो अन्य सब मान्यताएँ भी—अनीश्वरवादी की कि कुछ सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है और ठीक उसी तरह आदर्शवादी की कि आत्मा का अस्तित्व है—उसी प्रकार आधारहीन हैं जैसे कि स्थूलतम अन्ध-विश्वास।

अस्तिता की समस्या

विलर्ड वान् ओर्मान् क्वाईन

अस्तित्व की समस्या के सम्बन्ध में एक विचित्र बात यह है कि यह अत्यन्त सरल है। यह समस्या तीन आंग्ल-सेक्शन पदों में प्रस्तुत की जा सकती है : क्या (वस्तु) है (ह्वाट इज देयर) ? और इसका उत्तर एक ही शब्द में दिया जा सकता है......"सब कुछ"......और इस उत्तर की सत्यता सभी स्वीकार करेंगे। किन्तु विशिष्ट स्थितियों को लेकर इस सम्बन्ध में मतभेद सम्भव है, और इस प्रकार से यह समस्या सदियों से विवाद-विषय बनी हुई है।

अब मान लें कि दो दार्शनिक, श्री य और मैं, अस्तित्व को लेकर मतभेद रखते है। मान लें कि श्री य किसी वस्तु के सम्बन्ध में मानते है कि वह है, जबकि मैं उसके होने को स्वीकार नही करता। उस अवस्था में श्री य, अपने दृष्टिकोण के अनुसार, हमारे मतभेद के सम्बन्ध में कह सकते है कि मै कुछ वस्तुओं की सत्ता को मान्यता देने से इन्कार करता हूँ। स्वभावत: मैं विरोध करूँगा कि वह हमारे मतभेद को अनुचित ढंग से प्रस्तुत कर रहा है, क्योंकि वास्तव में ऐसी कोई वस्तुएं हैं ही नही जिनके लिए वह दावा करता है कि मुझे उनकी सत्ता स्वीकार करनी चाहिये। किन्तु हमारे मतभेद की स्थापना में मेरे लिए श्री य की भूल दिखाना महत्त्वपूर्ण ही नहीं है, क्योंकि किसी भी अवस्था में मैं उसकी अस्तित्व-मीमांसा को गलत मानने को बाध्य हूँ।

इसके विपरीत, जब मै हमारे बीच के मतभेद को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता हूँ, मैं अपने आपको एक विचित्र उलझन में पाता हूँ। मैं यह स्वीकार नहीं कर सकता कि ऐसी कुछ वस्तुएँ है जिन्हें श्री य देखता है किन्तु मैं नहीं देखता, क्योंकि यह स्वीकार करके कि ऐसी कोई वस्तुएँ हैं, मैं स्वयं उन वस्तुओं के अपने ही द्वारा किए निषेध का खण्डन कर देता हूँ।

जैसाकि देखा जा सकता है, यदि यह तर्क-प्रणाली उचित है तो अस्तित्व सम्बन्धी किसी भी विवाद में निषेधक पक्ष के प्रवक्ता को यह कठिनाई है कि वह यह स्वीकार नहीं कर सकता कि उसका प्रतिवादी उससे असहमत है।

अनस्तित्व की यह पुरानी प्लेटोनीय पहेली है। असत् (अस्तित्व-रहित) वस्तु का भी किसी अर्थ में अस्तित्व होना आवश्यक है, अन्यथा वह क्या है जो नही है ? इस उलझनपूर्ण सिद्धान्त को 'प्लेटो की दाढ़ी' ऐसा उपनाम दिया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से, यह दाढ़ी काफी विषम प्रमाणित हुई है और बहुधा "ओखम के उस्तरे" को (लाघव तर्क के प्रयत्नों को) कुण्ठित करती रही है।

कुछ इस प्रकार की विचार-सरणी का अनुसरण करते हुए श्री य के समान दार्शनिक ऐसी अवस्थाओं में भी अस्तित्व का विधान करते रहे हैं जिनमें अन्यथा उन्होंने किसी वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं की होती। उदाहरणतः पंखों वाले घोड़े पीगासस को लें। श्री य का तर्क है कि यदि पीगासस नहीं होता तो यह पद-प्रयोग किसी वस्तु के सम्बन्ध में नहीं होता; इस प्रकार, यह कहना भी अर्थशून्य होगा कि पीगासस नहीं है। इस प्रकार से, यह मानते हुए कि पीगासस के निषेध का भी संगत रूप से कथन नही किया जा सकता, वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि पीगासस है।

वास्तव में श्री य यह स्वीकार करने के लिए अपने को प्रेरित नहीं कर सकता कि सपंख घोड़ा वास्तव में ही किसी देश-काल में है। तब फिर पीगासस सम्बन्धी विवरण की माँग करने पर वह कहता है कि पीगासस मनुष्यों के मन में विचार-रूप में है। अब यहाँ एक घपला उभरने लगता है। हम तर्क के लिए यह भी मान लेते हैं कि 'पीगासस' पद द्वारा सकेतित कोई वस्तु है, हम यह भी मान लेते हैं कि एक अद्वितीय वस्तु है (यद्यपि यह अयुक्त है) जो कि पीगासस का मानसिक प्रत्यय है। किन्तु जब लोग पीगासस का निषेध करते है तब वे इस मानसिक वस्तु........पीगासस........के बारे में बात नही करते।

श्री य पार्थेनन को पार्थेनन-प्रत्यय से कभी नही घपलाते। पार्थेनन भौतिक है, पार्थेनन-प्रत्यय मानसिक है (कम से कम श्री य की प्रत्ययों की धारणा के अनुसार), और इससे बेहतर व्याख्या मेरे पास भी नहीं है। पार्थेनन इन्द्रिय-गोचर है और पार्थेनन-प्रत्यय इन्द्रिय-गोचर नहीं है। हम इन दो वस्तुओं से अधिक असमान वस्तुओं की कल्पना नही कर सकते, और इस प्रकार से इनमें घपले की सम्भावना अल्पमत है। किन्तु जब हम पार्थेनन से पीगासस पर आते है तब घपला उत्पन्न होता है........क्योंकि श्री य पीगासस के अनस्तित्व को स्वीकार करने के बजाय अत्यन्त भोंडी तथा स्पष्ट छलना से अभिभूत होना स्वीकार कर सकता है।

जैसाकि हमने देखा, इस धारणा ने कि पीगासस के अनस्तित्व का भी कथन करने के लिए यह आवश्यक है कि पीगासस हो, श्री य को अत्यन्त स्थूल प्रकार के घपले में डाला। किन्तु उत्कृष्टतर प्रतिभा-सम्पन्न चिन्तकों ने इसी पूर्वप्रतिज्ञा को अपना प्रस्थान-बिन्दु बना कर पीगासस सम्बन्धी ऐसे सिद्धान्तों की रचना कर डाली जो श्री य के सिद्धान्त से कम पथ-भ्रष्ट हैं, और परिणामतः उनका निराकरण भी अधिक कठिन है। इन प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों में एक वाइमन है। वाइमन के अनुसार, पीगासस का अस्तित्व अचरितार्थ सम्भावना के रूप में है। जब हम पीगासस के सम्बन्ध में कहते हैं कि ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व नही है, तब हम वास्तव में कहते है कि पीगासस वास्तवता (एक्चुअलिटी) के विशिष्ट गुण से रहित है। यह कहना कि 'पीगासस वास्तव नहीं है', तर्कतः यह कहने के बराबर है कि 'पार्थेनन लाल वर्ण का नहीं है'। दोनो ही अवस्थाओं में हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में कथन करते है जिसका कि अस्तित्व सन्देहोपरि है।

वाइमन उन दार्शनिकों मे से एक है जिन्होंने पुराने विश्वसनीय शब्द 'अस्तित्व' को भ्रष्ट किया। अब, (वाइमन) अपनी अचरितार्थित सम्भाव्यता (अनरीयलाइज्ड पॉसीबिलिटी)

की उद्भावना के बावजूद 'अस्तित्व' शब्द को 'चरितार्थ' तक ही सीमित रखता है—और इस प्रकार से वह अपने तथा हमारे बीच, जोकि उसके बाकी के स्फीत विश्व को स्वीकार नहीं करते, अस्तित्वमीमांसात्मक मतैक्य का भ्रम उत्पन्न करता है। हम 'अस्तित्व' पद के सामान्य प्रयोगानुकूल यह कहना उचित समझते रहे हैं कि पीगासस का अस्तित्व नहीं है, जिससे हमारा अभिप्राय होता था कि ऐसी वस्तु सर्वथा नही है, यदि पीगासस का अस्तित्व होता तो वह किसी देश-काल में होता किन्तु यह केवल इसलिए क्योंकि 'पीगासस' पद की देश-कालिक अर्थापेक्षाएं (कोनोटेशज) हैं, न कि 'अस्तित्व' पद की देश-कालिक अर्थापेक्षाएँ हैं जब हम २७ संख्या के घनमूल (क्यूब रूट) के अस्तित्व का कथन करते है तब केवल इसलिए क्योंकि घनमूल देश-कालिक प्रकार की वस्तु नहीं है, न कि इसलिए क्योंकि हम 'अस्तित्व होने' पद के प्रयोग को समझने में किसी व्यामिश्र में हैं।[1] तो भी वाइमन सहमति की प्रतीति उत्पन्न करने के भ्रान्त प्रयत्न में पीगासस के अस्तित्व का निषेध करने में हमसे सहमत हो जाता है। और तब, पीगासस के अनस्तित्व सम्बन्धी हमारी धारणा के विपरीत आग्रह करता है कि पीगासस है। वह कहता है कि भौतिक अस्तित्व एक बात है और गुणात्मक अस्तित्व दूसरी बात। इस व्यामिश्र से निपटने का एक ही रास्ता है और वह यह कि 'अस्तित्व' पद को वाइमन को ही सौंप दिया जाय। अब मैं पुनः इसका प्रयोग नहीं करने का प्रयत्न करूंगा, अब मेरे पास 'है' शब्द है। अस्तु शब्द—चिन्ता को यहीं छोड़ कर हम वाइमन की अस्तित्व-मीमांसा पर लौटेंगे।

वाइमन का अत्यधिक जन-संकुल संसार अनेक प्रकार से अरुचिकर है। यह हमारी सौन्दर्य-चेतना को ठेस पहुँचाता है, क्योंकि हमें रेगिस्तानी प्रकृति-चित्र ही रुचिकर हैं। किन्तु इसका दोष केवल इतना ही नहीं है। वाइमन की सम्भाव्यों से अध्युषित गन्दी वस्ती अव्यवस्थित तत्वों को बहुत उपयुक्त प्रजनन-क्षेत्र प्रदान करती है। उदाहरणतः, उस दरवाज़े में एक सम्भाव्य स्थूल व्यक्ति को लें और दूसरे में एक सम्भाव्य गंजे व्यक्ति को लें। अब, क्या वह एक ही सम्भाव्य व्यक्ति है अथवा दो सम्भाव्य व्यक्ति हैं ? हम कैसे निर्णय करें कि उस दरवाज़े में कितने सम्भाव्य व्यक्ति हैं ? क्या वहाँ दुबले सम्भाव्य व्यक्तियों की संख्या मोटे सम्भाव्य व्यक्तियों से अधिक है ? उनमें से कितने अनुरूप हैं ? अथवा, क्या उनकी अनुरूपता

---

१. देश–काल में वास्तवीकृत विषयों के अस्तित्व तथा इनसे भिन्न प्रकार के विषयों के अस्तित्व अथवा सत्ता में शब्दतः भेद करने की इच्छा आंशिक रूप से, सम्भवतः, इस विचार से उत्पन्न होती है कि प्रकृति का प्रेक्षण पहली प्रकार की वस्तुओं के अस्तित्व के ज्ञान के लिये ही आवश्यक है। किन्तु इस विचार का खण्डन बहुत सहज ही में विपरीत उदाहरणों से किया जा सकता है, जैसे 'सेंटाउरों (अर्धाश्वनरों) की संख्या तथा यूनीकोर्नों (एक सींग वाले अश्वों) की संख्या का अनुपात'। यदि ऐसा कोई अनुपात हो तो यह एक अमूर्त वस्तु होगी, अर्थात् एक संख्या। किन्तु तब भी, केवल प्रकृति को देख कर ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्धाश्वनरों तथा एकविषाणाश्वों दोनों की संख्याएँ ० हैं और परिणामतः कोई अनुपात सम्भव नहीं है।

उन्हें एक बनाएगी ? क्या कोई दो सम्भाव्य वस्तुएँ अनुरूप नहीं हो सकतीं ? क्या इस कहने का वही तात्पर्य है जो यह कहने का कि कोई दो वस्तुएँ अनुरूप नही हो सकतीं ? अथवा क्या तादात्म्य का प्रत्यय (कांसेप्ट ऑफ आइडेंटिटी) अवास्तव सम्भाव्यों पर लागू नहीं हो सकता ? किन्तु ऐसी वस्तुओं की चर्चा को कैसे अर्थपूर्ण कहा जा सकता है जिन्हें सार्थक रूप से अपने से अभिन्न और अन्यों से भिन्न नहीं कहा जा सकता ? इन तत्वों में सुधार अत्यधिक दुष्कर है। व्यक्ति-प्रत्ययों (इंडीविडुअल कांसेप्ट्स)[२] की फ्रेगेकृत चिकित्सा से इनमें सुधार का कुछ प्रयत्न किया जा सकता है, किन्तु मेरे विचार में वाइमन की गन्दी वस्ती से अवांछित तत्वों का निराकरण और विनाश ही अधिक सुविधाजनक हो सकता है।

अनिवार्यता, असम्भवता और अनिश्चितता आदि अन्य निश्चय-मात्राओं (मोडेलिटीज) के अनुरूप ही सम्भाव्यता भी कुछ कठिन समस्याओं को जन्म देती है, यद्यपि मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि हम इनसे मुँह मोड़ लें। किन्तु हम एक बात कर सकते है और वह यह कि हम निश्चय मात्राओं को पूर्ण कथन–वाक्यों तक ही सीमित रखें। हमें 'सम्भवतया' इस क्रिया-विशेषण को पूरे कथन-वाक्य के साथ प्रयुक्त करना चाहिए और ऐसे प्रयोग के अर्थ-सम्बन्धी विश्लेषण की चिन्ता करनी चाहिये। किन्तु यदि हम तथाकथित सम्भाव्य वस्तुओं का भी अपने विश्व में समावेश करते हैं तो ऐसे विश्लेषण से किसी वास्तव प्रगति की आशा नहीं की जा सकती। मेरे विचार में इस विस्तार के पीछे मुख्य प्रयोजन केवल यह पुरानी धारणा है कि पीगासस का होना आवश्यक है, क्योंकि अन्यथा उसका निषेध करना भी सम्भव नहीं हो सकता।

किन्तु, वाइमन के सम्भवों के संसार का यह अतिशय पल्लवन उदाहरण में थोड़ा परिवर्तन कर देने मात्र से थोथा दिखाई देने लगेगा : हम पीगासस के बजाय बर्कले कॉलेज में गोल–वर्गाकार गुम्बद का उदाहरण ले सकते हैं। यदि, जब तक पीगासस नहीं हो तब तक यह कहना कि वह नहीं है, असम्भव है, तब उसी प्रकार से जब तक बर्कले कॉलेज में गोल-वर्गाकार गुम्बद नहीं हो तब तक यह कहना असम्भव होगा कि वह नही है। किन्तु, पीगासस से भिन्न, बर्कले कॉलेज पर गोल–वर्गाकार गुम्बद का होना अवास्तवीकृत (अन–एक्चुअलाइज्ड) सम्भव वस्तु भी नहीं है। क्या अब हम वाइमन को अवास्तवीकृत असम्भवों के क्षेत्र को स्वीकार करने के लिये भी प्रेरित कर सकते हैं ? हम वाइमन से यह स्वीकार करवा कर कि कुछ वस्तुएँ गोल–वर्गाकार भी है, उसे व्याघात (कंट्रेडिक्शन) में फंसाने की आशा कर सकते हैं, किन्तु चतुर वाईमन उभयतोपाश (डाइलमा) का दूसरा पाश चुनता है, और मान लेता है कि 'बर्कले कॉलेज पर गोल–वर्गाकार गुम्बद है' कहना निरर्थक है। वह कहता है कि 'गोल-वर्गाकार गुम्बद' पद अर्थ–शून्य है।

वाइमन इस विकल्प को स्वीकार करने वाला प्रथम दार्शनिक नहीं है। व्याघातक

---

२. द्रष्टव्य–क्वाइन : फ्राम ए लॉजीकल प्वाइंट आफ व्यू, पृ० १५३।

पदों की अर्थ–शून्यता का सिद्धान्त बहुत पुराना है । यह परम्परा उन लेखकों में भी अवशिष्ट है जिनका वाईमन के प्रयजनों से कोई भी वास्ता नहीं है । तो भी, यह सम्भव है कि इस सिद्धान्त की प्रथम प्रेरणा बहुत हद तक उसी प्रयोजन से उपलब्ध हुई हो जो वाईमन में हम देख चुके हैं । इस सिद्धान्त में स्वतः कोई आकर्षण नहीं है । इसने अपने पुजारियों को इतने भ्रामक अतिवाद में प्रेरित किया है कि उन्होंने अयुक्ति–साधन (रिडक्शियो एड एब्ज़र्डम) द्वारा प्रमाण की विधि को भी चुनौती दी है । किन्तु वास्तव में इस चुनौती में स्वयं इस सिद्धान्त का ही अयुक्ति–साधन दिखाई देता है ।

इसके अतिरिक्त, व्याघातकों की निरर्थकता का सिद्धान्त भयानक रूप से प्राविधिक (मेथोडोलोजीकल) दोषों से पूर्ण है, क्योंकि यह सिद्धान्ततः सार्थक और निरर्थक में निर्णय के लिए उपयुक्त परीक्षा को असम्भव बना देता है । हमारे लिए यह ऐसी सुनियोजित विधियों को पा सकना असम्भव कर देगा जिनसे हम सार्थक और निरर्थक प्रतीक-शृंखलाओं में भेद कर सकें—स्वयं हमारे अपने लिए भी, दूसरों की तो बात ही क्या । क्योंकि, जैसाकि चर्च द्वारा स्थापित गणितिक न्याय में एक अनुसन्धान से अर्थापतित (इम्पलाई) होता है, व्याघातता की कोई पूर्णतः सामान्य परीक्षा नहीं है ।

मैंने प्लेटो की दाढ़ी के सम्बन्ध में कुछ निन्दात्मक शब्द कहे और संकेत किया कि यह उलझी हुई है । मैंने इसके साथ निर्वाह करने विषयक कठिनाई पर पर्याप्त विस्तार से प्रकाश डाला है। अब आवश्यक है कि हम इसके निरास की ओर कदम उठाएं । रसल ने अपने तथाकथित व्यक्तिवाचक वर्णन-पदों (सिंगुलर डिस्क्रिप्शंस्) के सिद्धान्त में स्पष्टतः दिखाया है कि हम किस प्रकार से संज्ञा प्रतीत होने वाले पदों का सार्थक रूप से इस पूर्व कल्पना के बिना प्रयोग कर सकते हैं कि उनके द्वारा अभिहित वस्तुओं का अस्तित्व है । रसल का सिद्धान्त जिन संज्ञाओं पर प्रत्यक्षतः लागू होता है वे अनेक पदात्मक वर्णनात्मक संज्ञाएं है, जैसे 'वेवर्ली का लेखक', 'फ्रांस का वर्तमान राजा', 'बर्कले कॉलेज पर गोल-आयताकार गुम्बद' आदि । रसल ऐसे प्रयोगों का विश्लेषण उन सम्पूर्ण वाक्यों के खण्डों के रूप में करता है जिनमें ये घटित होते हैं । उदाहरणतः 'वेवर्ली का लेखक एक कवि था' वाक्य की व्याख्या एक पूर्ण एकक के रूप में इस प्रकार की जाती है—"किसी व्यक्ति ने ('किसी वस्तु ने' कहें तो और अच्छा) वेवर्ली लिखा, और वह कवि था, और अन्य किसी व्यक्ति ने (वस्तु ने) वेवर्ली नहीं लिखा" । (इस दूसरे वाक्यांश का प्रयोजन उस अद्वितीयता पर बल देना है जो इंगलिश शब्द 'दि' में निहित है—दि आथर आफ वेवर्ली : वेवर्ली का लेखक) । 'बर्कले कॉलेज पर गोल-आयताकार गुम्बद गुलाबी रंग का है' वाक्य का विश्लेषण इस प्रकार से किया जाता है—'कुछ गोलाकार और आयताकार है, और वह बर्कले कॉलेज पर गुम्बद है, और वह गुलाबी रंग का है, और अन्य कुछ ऐसा नहीं है जो गोलाकार, आयताकार तथा बर्कले कॉलेज का गुम्बद है ।[३]

---

३. वर्णन–सिद्धान्त पर विस्तृत चर्चा के लिए द्रष्टव्य पूर्वोक्त पुस्तक में पृ० ८५ से तथा पृ० १६६ से ।

इस विश्लेषण की उपयोगिता यह है कि प्रतीयमान रूप से संज्ञा पद, एक वर्णनात्मक प्रयोग, का एक सन्दर्भ मे तथाकथित अपूर्ण प्रतीक के रूप में पदान्वय किया गया है। वर्णनात्मक पद के विश्लेषण के रूप में कोई एक-पद प्रस्तुत नहीं किया गया है, किन्तु पूरा कथन, जोकि इस पद का सन्दर्भ है, समग्र रूप में अर्थ प्रस्तुत करता है—चाहे यह कथन सत्य हो या असत्य।

अविश्लेपित कथन-वेवर्ली का लेखक एक कवि था—में 'वेवर्ली का लेखक' पद एक भाग के रूप में घटित होता है, जिसके लिए कि श्री य तथा वाइमन ने भ्रमवश समझा कि इसकी सार्थकता तक के लिए यह आवश्यक है कि इसका कुछ वस्तु-निर्देश हो। किन्तु रसल के अनुवाद में—किसी ने वेवर्ली लिखा, वह कवि था, और अन्य किसी ने वेवर्ली नहीं लिखा—वस्तु-निर्देश का दायित्व, जोकि पहले वर्णन-पद पर था, अब ऐसे पदों द्वारा ले लिया गया है जिन्हें तर्कशास्त्री बद्धचर-प्रतीक (वाउंड वेरीयेबल्स) कहते हैं, अर्थात् परिमाणीकृत चरों (क्वांटीफाइड वेरीयेवल्ज)—'कुछ', 'कुछ नहीं', 'सब कुछ'—द्वारा। ये शब्द, विशेष रूप से वेवर्ली के लेखक की संज्ञा होना तो दूर रहा, किसी के भी नाम नहीं हैं। ये वस्तुओं का सामान्य रूप से निर्देश करते हैं, एक सचेत अस्पष्टता के साथ, जोकि इनकी मौलिक विशेषता है।[४] ये परिमाणीकरणात्मक पद (क्वांटीफिकेशनल टर्म्स) अथवा बद्ध-चर भाषा के आधारभूत अङ्ग है और इनकी सार्थकता को, कम से कम समग्र सन्दर्भ में, चुनौती नहीं दी जा सकती। किन्तु उनकी सार्थकता के लिए किसी भी प्रकार से वेवर्ली के लेखक, अथवा वर्कले कॉलेज पर गोल-आयताकार गुम्बद, अथवा अन्य किसी भी निर्देशित विषयों की पूर्वकल्पना अपेक्षित नहीं है।

अब, जहाँ तक वर्णनों का सम्बन्ध है, अस्तित्व के विधान और निषेध में कोई कठिनाई नहीं है। रसल ने "वहाँ वेवर्ली का लेखक है' की व्याख्या इस प्रकार से की है : 'किसी ने वेवर्ली लिखा, और अन्य किसी ने वेवर्ली नहीं लिखा'। 'वेवर्ली का लेखक नहीं है' की व्याख्या किंवा-तर्कवाक्य (आल्टर्नेशन) के रूप में की जाती है : 'या तो सब वस्तुएँ वेवर्ली लिखने में असमर्थ रहीं अथवा दो या अधिक वस्तुओं ने वेवर्ली लिखा'। यह किंवा-तर्कवाक्य असत्य है किन्तु अर्थयुक्त है, और इसमें कोई पद वेवर्ली के लेखक का अभिधान नहीं करता। इसी प्रकार 'वर्कले कॉलेज पर गोल-आयताकार गुम्बद नही है' कथन का भी विश्लेपण किया जाता है। इस प्रकार से यह पुरानी धारणा, कि अनस्तित्व के वाचक कथन स्वतोव्याघाती हैं, निराधार हो जाती है। जब अनस्तित्व अथवा अनस्तित्व परक कथनों का रसल के वर्णन-सिद्धान्त द्वारा विश्लेपण किया जाता है तो यह ऐसे किसी भी पद से रहित हो जाता है जो किसी का नाम होने की अपेक्षा भी करता है और इस प्रकार से कथन की सार्थकता यह पूर्वकल्पित करती नहीं कही जा सकती कि ऐसी वस्तु का अस्तित्व भी हो।

---

४. बन्द-चरों पर अधिक विवेचन के लिए द्रष्टव्य पृ० ८५, तथा १०२ से।

अब, पीगासस की क्या स्थिति है ? यह वर्णनात्मक पद न होकर एक शब्द है, अतः रसल का तर्क उस पर लागू नहीं होता । किन्तु इसे सहज में लागू किया जा सकता है । हम 'पीगासस' की वर्णनात्मक पद के रूप में पुनारचना कर सकते हैं, कम से कम यह हमारे प्रत्यय को पर्याप्त विशिष्टता देता प्रतीत होता है, जैसे 'सपंख अश्व जिसे बेलोरोफन ने पकड़ा था ।' ऐसे पद से 'पीगासस' को स्थानान्तरित करके हम 'पीगासस है' अथवा 'पीगासस नहीं है' का विश्लेषण करने की ओर अग्रसर हो सकते हैं, ठीक उसी पद्धति से जिससे रसल ने 'वेवर्ली का लेखक है' अथवा 'वेवर्ली का लेखक नहीं है' का विश्लेषण किया ।

इस प्रकार से एक-पद-संज्ञा अथवा 'पीगासस' के समान तथोक्त संज्ञा का रसल के सिद्धान्त के अन्तर्गत समावेश करने के लिए यह आवश्यक है कि हम एक शब्द को वर्णन-पद के रूप में अनूदित कर सकें । किन्तु यह सीमा वास्तविक नहीं है । यदि 'पीगासस' की अवधारणा इतनी अस्पष्ट अथवा इतनी मूलभूत होती कि किसी परिचित विधि से वर्णन-पद में इसका अनुवाद उपलब्ध नहीं होता, तो भी हम कृत्रिम विधि का उपयोग कर सकते थे : हम स्पष्टतः अविश्लेष्य का अरूपान्तरणीय विशेषण 'पीगासस होने' का सहारा ले सकते है, और इसकी अभिव्यक्ति के रूप में क्रिया 'पीगासस—है' अथवा 'पीगासस होता है'—पीगासयति—को स्वीकार कर सकते हैं । उस अवस्था में स्वयं 'पीगासस' नाम को आहार्य (डिरिवेटिव) माना जा सकता है और इसे निम्न वर्णन-पद का वाचक माना जा सकता है : 'वह, जो वस्तु पीगासस है', 'वह जो वस्तु पीगासस होती है'[५] (यत् पीगासस अस्ति तत्, 'यत् पीगासयति तत्') ।

यदि 'पीगासयति' के समान विधेय पद लाने से यह अनुगत होता प्रतीत होता है कि इसके अनुरूप विशेषण 'पीगासस—होना' प्लेटो के स्वर्ग में है अथवा मनुष्यों के मन में है, तो और अच्छा । अभी हम या वाइमन, अथवा श्री य ही, सामान्यों के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के सम्बन्ध में कुछ दावा नहीं कर रहे हैं । यदि 'पीगासस होने' की पदावली में हम 'पीगासस' संज्ञा को वर्णन के रूप में निरूपित कर सकते हैं और इस प्रकार रसल के वर्णन-सिद्धान्त के अन्तर्गत ला सकते हैं, तो समझें कि हमने इस पुरानी धारणा को कि, पीगासस के अनस्तित्व का कथन किसी अर्थ में उसने अस्तित्व को पूर्वकल्पित किए बिना नहीं किया जा सकता, निराधार प्रमाणित कर दिया ।

अब हमारा तर्क पर्याप्त सामान्यीकृत है । श्री य और वाइमन का विचार था कि 'अमुक-अमुक नहीं है' रूप कथन का उस अवस्था में सार्थक प्रयोग नहीं कर सकते यदि हम 'अमुक-अमुक' को सरल अथवा वर्णनात्मक व्यक्तिवाचक संज्ञा द्वारा स्थानान्तरित करते हैं, जब तक कि 'अमुक-अमुक' का अस्तित्व नहीं हो । इस धारणा को अब लगभग सभी निराधार

---

५. सब व्यक्तिवाचक पदों के वर्णनों में अन्तर्भाव के लिए द्रष्टव्य पूर्वोक्त में पृ० १६७ तथा क्वाइन—'मैथड्स ऑफ लॉजिक', पृ० २१८—२२४ ।

मानते हैं, क्योंकि प्रस्तुत प्रकार की व्यक्तिवाचक संज्ञा सदैव व्यक्ति-निर्देशक वर्णन में रूपान्तरित की जा सकती है, और तब रसल के सिद्धान्त के अनुसार विश्लेषित की जा सकती है।

जब हम कहते हैं "दस लाख से बड़ी पूर्ण संख्या है" तब हम ऐसी अस्तित्वमीमांसा को स्वीकार करते हैं जिसमें संख्याओं का भी अस्तित्व है, जब हम कहते है कि "सेंटाउर हैं" तब हम ऐसी अस्तित्वमीमांसा को स्वीकार करते हैं जिसमें सेंटाउरों का भी समावेश है, और इसीप्रकार जब हम कहते है "पीगासस है", तब हम पीगासस के अस्तित्व का समावेश करने वाली अस्तित्वमीमांसा को स्वीकार करते हैं। किन्तु यदि हम कहते है कि पीगासस या वेवर्ली का लेखक, या बर्कले कॉलेज पर गोल-आयताकार गुम्बद, नही है, तब हम ऐसी अस्तित्व-मीमांसा को स्वीकार करने को बाध्य नहीं है जिसमें इनके अस्तित्व का भी समावेश है। अब हमें इस भ्रम में रहने की आवश्यकता नहीं है कि व्यक्तिवाचक पद-युक्त वाक्य की सार्थकता उस पद द्वारा संज्ञापित वस्तु के अस्तित्व को पूर्वकल्पित करती है। व्यक्तिवाचक पद के सार्थक होने के लिए वस्तु का अभिधान करना आवश्यक नहीं है।

इसकी झलक वाइमन तथा श्री य को शायद रसल की सहायता के बिना भी मिल गयी होती, यदि केवल उन्होंने यह देखा होता, जैसाकि हम में से कुछेक देख पाते हैं, कि ऐसे व्यक्तिवाचक पदों में भी, जो उचित रूप से वस्तुओं का अभिधान (नेमिंग) भी करते है, अभिधान तथा अर्थ में भेद रहता है। यहाँ फ्रेगे से निम्न उदाहरण देना उपयोगी होगा : 'सन्ध्या का तारा' पद एक गोलाकार बृहत् भौतिक पिण्ड को अभिधानित करता है जो यहाँ से करोड़ों मीलों की दूरी पर आकाश में चक्रमणशील है। 'भोर का तारा' पद भी उसी वस्तु को अभिधानित करता है, जैसाकि प्राचीन वेबीलोन के किसी खगोल-विद्या-विज्ञ ने सर्वप्रथम खोजा था। किन्तु इन दोनों पदों को अर्थ में समान नहीं कहा जा सकता। अन्यथा उस वेबीलोन के वैज्ञानिक ने अपने प्रेक्षणों को छोड़ कर इस अनुसन्धान के लिए (कि दोनों पदों का निर्देश्य विषय एक ही है) इन पदों के अर्थो पर ध्यान केन्द्रित किया होता। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि इन पदों के अर्थ इनके अभिधान से पृथक् हैं, क्योंकि जबकि इनके अर्थ परस्पर भिन्न है, अभिधान एक ही हैं।

अर्थ के अभिधान के साथ व्यामिश्र ने न केवल श्री य को यह समझने का अवसर दिया कि वह सार्थक रूप से पीगासस का प्रत्याख्यान नहीं कर सकता प्रत्युत अर्थ और अभिधान के निरन्तर व्यामिश्र ने इस मूर्खतापूर्ण धारणा को भी प्रेरित किया कि पीगासस एक प्रत्यय, एक मानसिक वस्तु, है। इसके व्यामिश्र की संरचना (स्ट्रक्चर) इस प्रकार से है : उसने तथोक्त अभिधानित विषय पीगासस का पीगासस' पद के अर्थ के साथ व्यामिश्र किया, और इस प्रकार वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि 'पीगासस' पद के अर्थयुक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि पीगासस का अस्तित्व भी हो। किन्तु ये अर्थ किस प्रकार की वस्तुएँ हैं? यह एक केन्द्रीय प्रश्न है, किन्तु कोई पर्याप्त संगत रूप से यह दिखा सकता है कि अर्थ मानसिक प्रत्यय है, यदि केवल वह 'मानसिक-प्रत्यय' के प्रत्यय को सार्थक दिखा सके। किन्तु यहाँ विशेष महत्व की बात यह है कि वाइमन ने, जोकि मूलतः श्री य के ही अनुरूप उद्देश्यों से प्रेरित

था, इस विशिष्ट भूल से अपने आपको बचाया और उसके स्थान पर अचरितार्थ सम्भाव्यों के साथ अपनी स्थापना का उपसंहार किया।

अब हम सामान्यों के अस्तित्व सम्बन्धी समस्या पर विचार करेंगे : अर्थात्, क्या विशेषण, सम्बन्ध, वर्ग, संख्याओं तथा प्रकार्यों (फंक्शंस्) आदि का अस्तित्व है ? श्री य स्वमतानुसार ही मानता है कि इनका अस्तित्व है। विशेषणों के सम्बन्ध में वह कहता है कि "लाल घरों, लाल गुलाबों तथा लाल सूर्यास्तों का अस्तित्व है। इतना मात्र प्राग्दार्शनिक सामान्य धारणा है जिससे हमें सहमत होना ही चाहिए। तब इन घरों, गुलाबों तथा सूर्यास्तों में कुछ समान है, और इसे, जो इनमें समान है, ही मैं 'लाली' का विशेषण देता हूँ"। इस प्रकार, श्री य के लिए विशेषणों का अस्तित्व उससे भी अधिक स्वतःस्पष्ट है जितना लाल घरों, गुलाबों तथा सूर्यास्तों का अस्तित्व। मेरे विचार में, यह तत्त्वमीमांसा की विशिष्टता है, अथवा कम से कम तत्त्वमीमांसा के उस भाग की, जिसे अस्तित्वमीमांसा कहते हैं : अर्थात जो कोई इस सम्बन्ध में किसी कथन को सत्य मानता है उसे इसको स्वतःस्पष्ट रूप से सत्य मानना भी आवश्यक है। प्रत्येक की अस्तित्वमीमांसा उसकी उस सम्प्रत्ययात्मक योजना की आधारभूत होती है जिसके द्वारा कि वह अनुभवों की व्याख्या करता है—अत्यन्त साधारण अनुभवों की भी। किसी सम्प्रत्ययात्मक योजना के सन्दर्भ में विमर्श करते हुए—और अन्यथा विमर्श सम्भव भी कैसे हो सकता है—एक अस्तित्वात्मक कथन स्वतः स्पष्ट रहता है, जिसके लिए किसी पृथक प्रमाण की अपेक्षा नहीं रहती। अस्तित्वात्मक कथन सब प्रकार के साधारण तथ्यात्मक कथनों से अनुगत होते हैं, जैसे श्री य की सम्प्रत्ययात्मक योजना के दृष्टिकोण से 'विशेषण का अस्तित्व है' प्रतिज्ञा 'लाल घर हैं, लाल गुलाब, लाल सूर्यास्त हैं' से स्वतः अनुगत होती है।

एक भिन्न सम्प्रत्ययात्मक योजना में एक अस्तित्वात्मक कथन, जो कि श्री य को स्वतः सिद्ध प्रतीत होता है, उतने ही सहज तथा स्वतः स्पष्ट रूप से असत्य सिद्ध हो सकता है। कोई लाल घरों, गुलाबों तथा सूर्यास्तों का होना स्वीकार कर सकता है और तब भी, कथन के साधारण तथा भ्रामक प्रकार को छोड़ते हुए, यह अस्वीकार कर सकता है कि इनमें कुछ सामान्य है। 'घर' 'गुलाब' तथा 'सूर्यास्त' पद पृथक व्यष्टि-वस्तुओं--जो लाल घर, लाल गुलाब तथा लाल सूर्यास्त हैं—के लिए सत्य है, तथा 'लाल' अथवा 'लाल वस्तु' पद ऐसी प्रत्येक पृथक् व्यष्टि—वस्तु के लिए सत्य हैं जो कि लाल घर, गुलाब या सूर्यास्त है, किन्तु उनके अतिरिक्त या, ऊपर कोई वस्तु, वैयष्टिक अथवा अन्यथा, ऐसी नहीं है जो 'लाली' पद से अभिहित हो सकती है। और उसी प्रकार, न 'गृहत्व', 'गुलाबपन' तथा 'सूर्यास्तता' से ही अभिहित होने वाली वस्तुएँ हैं। कि गृह तथा गुलाब तथा सूर्यास्त सब रक्तवर्णी हैं, इस तथ्य को परम तथा मौलिक माना जा सकता है, और यह कहा जा सकता है कि श्री य अपनी ऐसी अलौकिक वस्तुओं के द्वारा, जिन्हें वह 'लाली' आदि संज्ञाओं से आक्षिप्त करता है, व्याख्या की दृष्टि से किसी लाभ में नहीं हैं।

एक साधन का, जिसके द्वारा श्री य अपनी सामान्यों की अस्तित्वमीमांसा हमारे पर

लादने का प्रयत्न कर सकता था, हमने सामान्यों की समस्या पर विचार करने से पूर्व ही निराकरण कर दिया था। श्री य यह तर्क नहीं कर सकता कि 'लाल' तथा 'लाल है' पद, जिनका प्रयोग करने में हम सब सहमत है, सार्थक होने के लिए आवश्यक रूप से व्यष्टि—सामान्यो की संज्ञाएँ होने चाहियें। क्योंकि, जैसाकि हमने देखा, किसी वस्तु की संज्ञा होना सार्थक होने की अपेक्षा अत्यन्त सीमित और विशिष्ट गुण है। वह हम पर 'पीगासस होता है' विधेय के प्रयोग के कारण 'पीगासस होना' विशेषण को आरोपित करने का आक्षेप नहीं लगा सकता—कम से कम उस तर्क से सर्वथा नही।

किन्तु श्री य एक भिन्न पैतरे का आश्रय लेता है। वह कहता है "मान लें कि हम आपके अर्थ और निर्देश (डिनोटेशन) में भेंट को, जिसे आप इतना महत्व देते हैं, मान ही लेते हैं। हम यह भी मान लेते हैं कि 'लाल है', 'पीगासस होता है' आदि पद विशेषणों के अभिधान नही हैं। तो भी आप यह तो स्वीकार करते ही है, कि ये अर्थयुक्त है। किन्तु ये अर्थ, चाहे ये अभिधानित हों या नहीं, सामान्य ही हैं, और मै कह सकता हूँ कि इनमें से कुछ वही वस्तुएँ हो सकती है जिन्हें मैं विशेषण कहता हूँ—अथवा वैसा-ही कुछ प्रयोजन सिद्ध करने वाली वस्तुएँ।

श्री य की दृष्टि में यह एक असाधारण रूप से गम्भीर वक्तृता है, और इसके प्रत्याख्यान का एकमात्र उपाय जो मुझे दिखाई देता है वह है 'अर्थ' को स्वीकार नहीं करना। और फिर, मुझे अर्थो को अस्वीकार करने में कोई झिझक भी नही है, क्योंकि इससे मै शब्दों और कथनों की सार्थकता का निषेध करने को बाध्य नही हूं। मैं तथा श्री य भाषीय आकृतियों के सार्थक और निरर्थक में वर्गीकरण में शब्दशः सहमत हो सकते है, यद्यपि श्री य सार्थकता की परिभाषा 'अर्थसहित होना' ('सहित होने' के अर्थ में) करता है और मैं नही करता। मैं यह मानने को स्वतन्त्र हूँ कि किसी पद की अर्थवत्ता (अथवा सार्थकता, और कथन के इस प्रकार को मैं अर्थो की वस्तु के रूप में कल्पना से वचने के लिए अधिक उचित मानता हूँ) आत्यन्तिक तथा अविश्लेष्य तथ्य है, अथवा, मै इसे लोगों के भाषीय ध्वनियों से उद्दीपन के प्रसंग में व्यवहार की पदावली में भी विश्लेषित कर सकता हूँ।

अर्थों के सम्बन्ध में लोग जिस प्रकार बात करते है, अथवा करते प्रतीत होते है, उसे दो भागों में बांटा जा सकता है : अर्थ रखना, जो सार्थकता है, तथा अर्थ-समानता, अथवा समानार्थकता। जिसे हम 'किसी उक्ति को अर्थ देना' कहते हैं वह मात्र पर्याय देना है, जो सामान्यतः मूल कथन से स्पष्टतर भाषा में होता है। यदि हम अर्थ मात्र के प्रति अलर्जिक है तो हम सीधे कथनों की सार्थकता अथवा निरर्थकता की बात कर सकते है तथा उन्हे परस्पर समानार्थक अथवा विपरीतार्थक कह सकते है। इन 'सार्थक' अथवा 'समानार्थक' विशेषणों की व्यवहार की पदावली में कुछ स्पष्टता तथा निश्चितता के साथ व्याख्या की समस्या उतनी ही कठिन है जितनी महत्वपूर्ण।[1] किन्तु विशिष्ट तथा अविश्लेष्य मध्यवर्ती (इण्टरमीज्यरी) वस्तुओं के रूप में अर्थो का व्याख्यात्मक मूल्य ही निश्चय ही शून्य है।

---

१ द्रष्टव्य फ्राम ए लॉजीकल प्वाइण्ट आफ व्यू में अ. २ तथा ३। (अ. २ यहां आगे संकलित है। (अनु.))

अब तक मैंने यह तर्क किया है कि व्यक्तिवाचक पदों का वाक्यों में सार्थक प्रयोग ऐसी वस्तुओं की पूर्वकल्पना के बिना भी कर सकते हैं जिन्हें अभिहित करने की ये पद आकांक्षा करते हैं। मैंने आगे यह तर्क किया है कि हम भाषा-ध्वनियों को सार्थक, तथा परस्पर समानार्थक अथवा विपरीतार्थक कह सकते हैं और फिर भी इस पूर्वकल्पना से बच सकते हैं कि 'अर्थ' पद से अभिधेय वस्तुओं का अस्तित्व है। यहाँ श्री य को यह आश्चर्य होने लगता है कि क्या इस अस्तित्वमीमांसात्मक निरापदता की कोई सीमा है? क्या कुछ भी हमें सामान्यों तथा अन्य अवांछित वस्तुओं की पूर्वकल्पना के लिए बाध्य नहीं करता ?

मैंने इस प्रश्न का एक निषेधात्मक उत्तर पहले भी, रसल के वर्णन सिद्धान्त (थीयरी आफ डिस्क्रिप्शंस्) के प्रसंग में बद्ध चरों अथवा मात्रीकरण के चरों (वेरीयेबल्स आफ क्वांटी-फिकेशंस्) की चर्चा के अवसर पर प्रस्तावित किया था। हम सहज ही अपने को अस्तित्व-मीमांसात्मक स्वीकृतियों के सन्दर्भ में डाल सकते हैं यदि केवल हम इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करें, जैसे 'ऐसा कुछ है (बद्ध चर) जो लाल गृहों तथा सूर्यास्तों में समान रूप से है,' अथवा 'ऐसा कुछ है जो दस लाख से बड़ा पूर्णांक है'। किन्तु यह मूलतः एकमात्र ऐसी विधि है जिसके द्वारा हम अस्तित्वमीमांसात्मक विधान करते कहे जा सकते हैं : अर्थात् बद्ध चरों के अपने प्रयोग के द्वारा। कथित नामों का प्रयोग कोई कसौटी नहीं है जब तक कि वस्तु के अस्तित्व की मान्यता को हम प्रयुक्त बद्ध स्थिरों (कांस्टेंट्स) की पदावली में नहीं खोज पाते। क्योंकि हम उनकी नामवत्ता का निषेध बिना किसी कठिनाई के कर सकते हैं। वास्तव में अस्तित्वमीमांसात्मक प्रश्न के लिए नामों का कोई महत्व नहीं है, क्योंकि जैसा कि मैंने 'पीगासस' तथा 'पीगासयति' के प्रसंग में दिखाया, नामों का वर्णनों में रूपान्तरण किया जा सकता है, और जैसा कि रसल ने दिखाया है, वर्णनों का निरास सम्भव है। हम नामों के प्रयोग से जो कुछ भी कह सकते हैं वह ऐसी पदावली में भी कहा जा सकता है जिसमें नामों का प्रयोग निषिद्ध हो। किसी वस्तु के अस्तित्व की मान्यता का केवल मात्र एक अर्थ है : उसे बद्ध चरों का मूल्य मानना। प्रचलित व्याकरण की पदावली में इस बात को स्थूल रूप से इस प्रकार से कहा जा सकता है कि 'होने का अर्थ है किसी सर्वनाम के निर्देश की विस्तार-सीमा में होना'। सर्वनाम निर्देशन के मौलिक माध्यम हैं, नामों को उपसर्वनाम कहना अधिक उचित होता। मात्रीकरण के चर, यथा 'कुछ', 'कुछ नहीं', 'सब कुछ', हमारी अस्तित्वमीमांसा के सम्पूर्ण विस्तार को व्याप्त करते हैं, यह अस्तित्व-सिद्धान्त जो भी चाहे हो। और हम विशिष्ट अस्तित्वमीमांसात्मक पूर्वमान्यता को तब स्वीकार करते कहे जा सकते हैं, यदि और केवल यदि, मान्य विषय प्रयुक्त चरों की विस्तार-सीमा में, उनमें से एक के सत्यापन के लिये, उपलब्ध हो सके।

उदाहरणतः, हम कह सकते हैं कि कुछ कुत्ते श्वेत हैं, और तब भी कुत्तापन अथवा श्वेतता के वस्तु रूप में स्वीकार से इन्कार कर सकते हैं। 'कुछ कुत्ते श्वेत हैं' वाक्य-कथन करता है कि कुछ वस्तुएँ, जो कुत्ते हैं वे श्वेत हैं, और इस कथन के सत्य होने के लिए, उन वस्तुओं में, जो बद्ध चर 'कुछ' की विस्तार-सीमा में आते हैं, कुछ श्वेत कुत्तों का समावेश

आवश्यक है, किन्तु श्वेतता तथा कुत्तेपन का समावेश आवश्यक नहीं है। दूसरी ओर, जब हम कहते है कि कुछ प्राणी-जातियाँ संकर-प्रसवक्षम (क्रास-फर्टाइल) हैं, तब हम स्वयं अनेक जातियों की वस्तुता को भी स्वीकार करने को बाध्य है, यद्यपि ये भाववाची (एब्सट्रैक्ट) हैं। कम से कम हम तब तक वैसा स्वीकार करने को बाध्य है जब तक कि हम इस कथन के पद-विन्यास की कोई ऐसी विधि नहीं घड़ लेते जिससे यह दिखाया जा सके कि हमारे बद्ध चरों द्वारा जातियों का प्रातीकिक निर्देश केवल एक उक्ति-प्रकार है, जिसका निराकरण किया जा सकता है।[७]

जैसा कि हमने दस लाख से बड़ी अभाज्य संख्या के उदाहरण से देखा, प्राचीन गणित अमूर्त वस्तुओं की अस्तित्वमीमांसा मे आकण्ठ डूबा हुआ है। इस प्रकार से सामान्यों सम्बन्धी मध्ययुगीन महान् विवाद गणित के आधुनिक दर्शन मे दोबारा उठ खड़ा हुआ है। यह प्रश्न आज पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है, क्योंकि आज हमारे पास यह निर्णय करने की अधिक अच्छी कसौटियाँ हैं कि किसी प्रस्तुत सिद्धान्त अथवा विषय-क्षेत्र का अस्तित्वमीमांसात्मक सीमा-विस्तार क्या है? एक सिद्धान्त उन, और केवल उन, वस्तुओ का अस्तित्व स्वीकार करने को बाध्य है जिनका निर्देश करने में उस सिद्धान्त के चर (वेरीयेबल्ज़) समर्थ हों, जिससे कि उस सिद्धान्त के अन्तर्गत विहित कथन सत्य हो सकें।

क्योंकि तत्वमीमांसात्मक पूर्वमान्यताओं की यह कसौटी दार्शनिक परम्परा में स्पष्टतः उद्भूत नहीं हुई। इसलिए आधुनिक दार्शनिक गणित-शास्त्रियों ने सम्यक् प्रकार से यह नही देखा कि वे सामान्यों की उसी पुरानी समस्या पर नवीन और स्पष्टतर पदावली में विचार कर रहे है। किन्तु गणित के आधारो विषयक आधुनिक दृष्टिकोणों में विच्छेद या अन्तर स्पष्टतर रूप में वस्तुओं की उस विस्तार-सीमा (रेंज) सम्बन्धी मतभेद को लेकर प्रकट होता है जो उचित रूप से बद्ध चर-प्रतीकों (बाउण्ड वेरीयेबल्ज़) के निर्देश विषय हो सकते हैं।

इतिहासज्ञ लोग सामान्यों विषय तीन प्रमुख दृष्टिकोणों को 'सामान्य सत्तावाद', 'सामान्य सम्प्रत्ययवाद', तथा 'सामान्य नामवाद' ये संज्ञाएं देते हैं। तत्वतः ये ही तीन सिद्धान्त बीसवीं शताब्दी के गणित विषयक दार्शनिक पर्यवेक्षण में तार्किकवाद (लाजिसिज़्म) प्रातिभवाद (इंट्यूशनिज़्म) तथा आकारवाद (फार्मलिज़्म) के नये नामों में पुनः प्रकट हो गये।

सामान्य सत्तावाद (रीयलिज़्म), जैसाकि इस पद का प्रयोग सामान्यों विषयक मध्ययुगीन विवादों को लेकर हुआ है, वह प्लेटोवादी सिद्धान्त है जो सामान्यों अथवा अमूर्त वस्तुओं का अस्तित्व मन से स्वतन्त्र मानता है, मन उन्हें खोज सकता है किन्तु उनका सृजन नहीं कर सकता। फ्रेगे, रसल, ह्वाइटहेड, चर्च और कार्नप द्वारा प्रस्तावित तार्किकवाद ज्ञात और अज्ञात, निरूपणीय अथवा अनिरूपणीय, सब अमूर्त वस्तुओं के बद्ध चर प्रतीकों द्वारा निर्देश को विहित मानता है।

---

७. पूर्वोक्त में अ. ६।

सम्प्रत्ययवाद (कांसेप्चुअलिज्म) के अनुसार, सामान्यों का अस्तित्व है; किन्तु यह इन्हें मनोनिर्मित मानता है। प्रतिभानवाद (इण्टच्यूशनिज्म), जो आधुनिक काल में ब्राउवर, वाइल तथा अन्यों द्वारा प्रस्तावित किया गया है, सामान्यों के निर्देश के लिए बद्ध चर प्रतीकों का प्रयोग केवल तभी विहित मानता है यदि ये वस्तुएँ पूर्वतः निरूपित घटकों से व्यष्टिशः घड़ी जा सकें। जैसाकि फॅंकल ने प्रतिपादित किया है, तार्किकवाद वर्गों (क्लासिस) को अन्वेषणीय मानता है, जबकि प्रतिभानवाद इन्हें आविष्कृत मानता है—यह सामान्य सत्तावाद तथा सम्प्रत्ययवाद के प्राचीन विवाद का अत्यन्त सुन्दर निरूपण है। यह विरोध केवलमात्र वाक्छल ही नहीं है, यह प्राचीन प्रतिष्ठित गणित की हमारी स्वीकृति की मात्रा में आधारभूत अन्तर डालता है। तार्किकवादी, अथवा सामान्य सत्तावादी, अपनी पूर्वधारणाओं के आधार पर कैंटर की असीमता की आरोही श्रृंखलाओं (एसेंडिंग ऑर्डर्स) को उपलब्ध कर सकते है, प्रतिभानवादी असीमता की निम्नतम श्रृंखला के साथ रुकने को बाध्य हैं, और एक परोक्ष परिणाम के रूप में, वास्तविक संख्या के कुछ प्राचीन प्रतिष्ठित सिद्धान्तों को भी छोड़ने को बाध्य हैं।[८] वास्तव में लोजीसिज्म (तार्किकवाद) तथा प्रतिभानवाद में आधुनिक विवाद असीमता को लेकर ही उत्पन्न हुआ था।

तार्किकवाद द्वारा सामान्यों की विवेक-रहित स्वीकृति की आकारवाद द्वारा निन्दा प्रतिभानवाद को ही प्रतिध्वनित करती है। यह आकारवाद हिल्बर्ट के नाम के साथ सम्बन्धित है। किन्तु आकारवाद प्रतिभानवाद को भी असन्तोषजनक पाता है। यह स्थिति दो परस्पर विरोधी कारणों में से किसी भी एक से सम्भव हो सकती है। आकारवादी, तार्किकवादी के समान ही, प्राचीन गणित को पंगु करने पर आपत्ति कर सकता है, अथवा वह प्राचीन सामान्य नामवादियों के समान अमूर्त वस्तुओं को किसी भी प्रकार की स्वीकृति देने पर आपत्ति कर सकता है, उस सीमित अर्थ में भी जिसके अनुसार उनका अस्तित्व केवल मन पर आश्रित है। दोनों का परिणाम एक ही है: आकारवादी प्राचीन गणित को निरर्थक संख्याओं का खेल मात्र मानता है। यह संख्याओं का खेल मात्र होने पर भी उपयोगी हो सकता है—अपनी जो भी उपयोगिता यह भौतिक वैज्ञानिकों तथा यन्त्र वैज्ञानिकों के उपकरण के रूप में प्रदर्शित कर चुका है। किन्तु किसी भी शाब्दिक भाषीय अर्थ में उपयोगिता अर्थ-वत्ता को लागू नहीं करती। न ही प्रमेयों को घड़ने तथा एक दूसरे के परिणामों से सहमति के वस्तुनिष्ठ आधार पा सकने में गणितशास्त्रियों की अद्भुत सफलता इसकी सार्थकता को लागू करती है। क्योंकि गणितशास्त्रियों में सहमति के आधार केवल उन नियमों में उपलब्ध हो सकते हैं जो संख्याओं के प्रयोग का नियमन करते हैं, और ये वाक्य-रचनात्मक (साइंटेक्टिकल) नियम, स्वयं संख्याओं से भिन्न, सार्थक और बोधगम्य होते हैं।[९]

---

८. उपरोक्त में, पृ० १२५ से।

९. नेल्सन गुडमैन तथा क्वाईन : "स्टेप्स टूवार्ड्स् ए कंसट्रक्टिव नोमिनलिज्म," जर्नल आफ सिम्बालिक लॉजिक, जिल्द १२ (१९४७) पृ० १०५–१२२)

मैंने तर्क किया है कि हम जिस विशिष्ट प्रकार की अस्तित्वमीमांसा को स्वीकार करते हैं उससे विशिष्ट परिणाम भी अनुगत होते हैं—विशेषतः गणित में, यद्यपि यह केवल एक उदाहरण है। अब हम प्रतिस्पर्धी अस्तित्वमीमांसाओं में किस प्रकार से निर्णय कर सकते हैं? निश्चय ही इसका उत्तर इस भाषार्थ विज्ञान (सेमेंटिक्स) के इस सूत्र से, कि "होने का अर्थ है किसी चर प्रतीक का मूल्य होना", नहीं प्राप्त किया जा सकता, यह सूत्र तो वास्तव में, इसके विपरीत, एक प्रदत्त उक्ति अथवा सिद्धान्त की किसी पूर्वस्वीकृत अस्तित्वमीमांसात्मक मानदण्ड से संगति की परीक्षा करने में सहायक होता है। हम बद्ध चर-प्रतीकों की ओर इसलिए नहीं झाँकते हैं कि उनसे हमें यह ज्ञात होता है कि किन वस्तुओं का अस्तित्व है, प्रत्युत यह जानने के लिए झाँकते हैं कि कोई प्रदत्त उक्ति या सिद्धान्त किन वस्तुओं के अस्तित्व का विधान करता है; और इस सीमा तक समस्या उचित ही ऐसी है कि इसमें भाषा का भी प्रश्न प्रासंगिक है। किन्तु अस्तित्ववान् क्या है? यह पूर्णतः भिन्न प्रश्न है।

किस का अस्तित्व है, इस प्रश्न पर विचार करते हुए अर्थ के धरातल पर विमर्श के लिए कुछ औचित्य तो है ही। एक औचित्य तो उस उलझन से बचना ही है जिसकी चर्चा हमने पीछे की थी : वह है मेरी उन वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर सकने की कठिनाई जिन्हें श्री य स्वीकार करने योग्य पाता है और मैं नहीं पाता। जब तक मैं अपनी अस्तित्वमीमांसा के प्रति वफादार रहता हूँ, जोकि श्री य की अस्तित्वमीमांसा के विपरीत है, मैं अपने बद्ध चर-प्रतीकों को उन वस्तुओं का निर्देश नहीं करने दे सकता जो श्री य की अस्तित्वमीमांसा में विहित हैं किन्तु मेरी अस्तित्वमीमांसा में विहित नहीं हैं। किन्तु मैं हमारे मतभेद का श्री य के कथनों के स्वरूपनिरूपण के द्वारा संगत रूप से वर्णन कर सकता हूँ। यदि मेरी अस्तित्वमीमांसा केवल भाषीय आकारों के सन्दर्भ में ही रहती है, अथवा कम से कम स्थूल लिपि-चिह्नों अथवा उक्तियों के सन्दर्भ में रहती है, तब मैं श्री य के वाक्यों के सम्बन्ध में चर्चा कर सकता हूँ।

भाषार्थ के धरातल पर उतरने का दूसरा कारण यह भी है कि वाद-विवाद के लिए ऐसे धरातल की आवश्यकता है जो दोनों में सामान्य हो। अस्तित्वमीमांसा में मतभेद सम्प्रत्ययात्मक योजना में मौलिक मतभेद को अर्थापतित करता है, किन्तु फिर भी, मैं तथा श्री य इन मौलिक मतभेदों के बावजूद पाते हैं कि हमारी सम्प्रत्ययात्मक योजनाएँ अपनी मध्यवर्ती तथा ऊपरी शाखा-प्रशाखाओं में पर्याप्त मात्रा में अनुरूप हैं, जिससे हम राजनीति, ऋतु, और विशेषतः भाषा के सम्बन्ध में, परस्पर सम्भाषण कर सकते हैं। जिस सीमा तक हमारी मौलिक अस्तित्वमीमांसा को शब्दों तथा उनके उपयोग-विषयक विवाद में अनूदित करना

तथा पॉल बर्नेस : सुर ले प्लेटोनिस्मे डंस लेस मेथेमेटिक्स" ल' एन्साइनेमेंट मेथेमेटिके, जिल्द ३४ (१९३५–३६), पृ० ५९–६९। तथा मैक्स ब्लैक—दी नेचर आफ मैथेमेटिक्स।

सम्भव है उस सीमा तक विवाद को प्रमाणाप्रेक्षीता (क्वश्चन बैगिंग) के दोष से बचाया जा सकता है।

इसलिए, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है कि अस्तित्वमीमांसात्मक विवाद अन्ततः भाषा सम्बन्धी विवाद में परिणत हो जाय। किन्तु इसमें हमें एकदम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच जाना चाहिये कि वस्तुओं की सत्ता शब्दों पर आधारित है। किसी प्रश्न का भाषार्थपरक (सेमेंटिकल) पदावली में अनुवाद्य होना यह प्रदर्शित नहीं करता कि यह प्रश्न भाषीय है। नेपल्स को देखना एक नाम को धारण करना है, जो, नाम जब 'नेपल्स को देखता है' इस पद के पहले जुड़ जाता है तब एक सत्य कथन—वाक्य को सम्भव करता है। तो भी, स्वयं नेपल्स को देखने में कुछ भाषीय नहीं है।

हमारा एक अस्तित्वमीमांसा को स्वीकार करना, मेरे विचार में, एक वैज्ञानिक सिद्धान्त को स्वीकार करने जैसा है, कहें, एक भौतिक-वैज्ञानिक योजना को स्वीकार करने जैसा : हम सरलतम सम्प्रत्ययात्मक योजना को स्वीकार करने का प्रयत्न करते हैं जिसमें कि अव्यवस्थित अनुभव को व्यवस्थित किया जा सकता है। एक बार एक समग्र सम्प्रत्यया-त्मक योजना को निश्चित कर लेने पर हमारी अस्तित्वमीमांसा निर्धारित हो जाती है, जिसका प्रयोजन विज्ञान का, उसके व्यापकतम अर्थ में, आकलन करना है। और जो अपेक्षाएं उस सम्प्रत्ययात्मक योजना के किसी भी भाग के तर्कसम्मत सर्जन का निर्धारण करती हैं, उदाह-रणतः जीववैज्ञानिक अथवा भौतिकवैज्ञानिक का, उन अपेक्षाओं से प्रकारतः भिन्न नहीं हैं जो समग्र के तर्कसम्मत सर्जन का निर्धारण करती हैं। चाहे जिस भी सीमा तक किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त की स्वीकृति को भाषा का प्रश्न कहा जाय, वही—किन्तु उससे अधिक कदापि नहीं—अस्तित्वमीमांसा की स्वीकृति के सम्बन्ध में भी सही होगा।

किन्तु सरलता, सम्प्रत्ययात्मक योजनाओं की रचना के निर्देशक सिद्धान्त के रूप में एक स्पष्ट तथा अमिश्र प्रत्यय नहीं है, और यह दुहरे अथवा अनेक विध मानक प्रस्तुत करने की योग्यता रखता है।

उदाहरणतः मान लें कि हम सम्प्रत्ययों के एक अत्यन्त लाघवपूर्ण संस्थान की रचना करने में सफल हो जाते हैं जो अव्यवहित अनुभवों के यथातथ इतिवृत्त की सूचना उपयुक्त रूप से दे सकता है। अब, मान लें कि इस योजना के अन्तर्गत वस्तुएँ वद्ध चर—प्रतीकों के मूल्य—संवेदों अथवा विचारों की आत्मनिष्ठ घटनाएँ हैं। निस्सन्देह, तब भी हम पाएंगे कि एक भौतिकतावादी सम्प्रत्ययात्मक योजना (फिजिकलिस्टिक कांसेप्चुअल स्कीम), जो केवल बाह्य विषयों की चर्चा करती है, हमारी समग्र सूचनाओं के सरलीकरण में बहुत उपयोगी रहती है। विशृंखल ऐन्द्रिय संवेदों को एकत्र कर तथा उन्हें एक ही विषय के प्रेक्षण मान कर हम अनुभवों के जटिल प्रवाह को व्यवस्थित तथा सरल सम्प्रत्ययात्मक संस्थान में ला सकते है। विषयों को संवेदों से सम्बन्धित करते हुए निश्चय ही सरलता का नियम हमारा निर्देशक सूत्र रहता है : हम पूर्व तथा पश्चात् के गोलाकार संवेद—प्रदत्तों को एक ही तथाकथित "पैसे" के साथ जोड़ते है अथवा दो भिन्न पैसों के साथ जोड़ते हैं, जैसा भी

हमारे सम्पूर्ण विश्व–चित्र में अधिकतम सरलता की मांग के अनुसार उपयुक्त होता है।

यहाँ हमें दो स्पर्धी सम्प्रत्ययात्मक योजनाएँ प्रस्तुत हैं, सवेद-अस्तित्ववादी योजना तथा वस्तु-अस्तित्ववादी योजना। कौन सी योजना स्वीकार की जानी चाहिये ? दोनों के अपने-अपने लाभ हैं, दोनों की अपनी-अपनी विशिष्ट सरलताएँ है। मेरे विचार में, दोनों को विकसित करना उचित है। प्रत्येक को अपेक्षाकृत अधिक आधारभूत कहा जा सकता है, यद्यपि भिन्न अर्थों में : एक ज्ञानमीमांसात्मक रूप से और दूसरी भौतिक रूप से आधारभूत है।

भौतिक सम्प्रत्ययात्मक योजना हमारे संख्या विकीर्ण अनुभवों को तथाकथित व्यष्टि—वस्तुओं से सम्बद्ध करके हमारे अनुभवों के विवरण को सरलता का सौष्ठव देती है, तो भी यह सम्भव नहीं है कि भौतिक विषयों सम्बन्धी प्रत्येक वाक्य का सवेदप्रदत्तवादी भाषा में अनुवाद किया जा सके, चाहे कितना भी क्लिष्ट तथा अस्पष्ट यह अनुवाद क्यों न हो। भौतिक विषय आभ्युपगमिक (पोस्टचूलेटिड) वस्तुएँ हैं जो हमारे अनुभव-प्रवाह के विवरण को सुघड़ तथा सरल बनाती है, जिस प्रकार से अपरिमेय संख्याओं (इर्रैशनल नम्बर्ज) के समावेश से अंकगणित के सिद्धान्त में सरलता आई। केवल परिमेय संख्याओं के आरम्भिक अंकगणित की सम्प्रत्ययात्मक योजना के दृष्टिकोण से परिमेय तथा अपरिमेय संख्याओं के समवेशक विस्तृततर अंकगणित का स्थान सुविधापेक्ष कल्पना का सा होगा, वास्तव सत्य से (अर्थात् परिमेय संख्याओं के गणित से) सरलतर किन्तु तब भी इस वास्तव सत्य का अव्यवस्थित भाग के रूप में समावेश करता हुआ। इसी प्रकार, संवेदप्रदत्तवादी दृष्टिकोण से भौतिक विषयों की सम्प्रत्ययात्मक योजना एक सुविधाजनक कल्पना है, वास्तव सत्य से सरलतर किन्तु फिर भी उस वास्तव सत्य का अव्यवस्थित भाग के रूप में समावेश करती हुई।[१०]

तब फिर वर्गों तथा भौतिक विषयों के विशेषणों का क्या होगा ? इस प्रकार की प्लेटोवादी अस्तित्वमीमांसा, पूर्वतः भौतिकसिद्धान्तवादी (फिजीकलिस्टिक) दृष्टिकोण से उतनी ही कल्पना है जितनी यह स्वयं संवेदप्रदत्तवादी सिद्धान्त में है। यह उन्नततर कल्पना जिस सीमा तक हमारे भौतिक विज्ञान के विवरण को सरलता देती है उसी सीमा तक यह उत्तम और उपयोगी है। क्योंकि गणित उन्नततर कल्पना का अभिन्न भाग है, इसलिए इस कल्पना की भूतविज्ञान के लिए उपयोगिता स्पष्ट है। किन्तु इसे एक कल्पना कह कर मैं गणित के उस दर्शन को प्रतिध्वनित कर रहा हूँ जिसे मैंने पीछे आकारमात्रवाद (फार्मलिज्म) कहा था। किन्तु आकारमात्रवादी रवैया पूरे औचित्य के साथ विशुद्ध सौष्ठववादी (ह्यूरिष्टिक) अथवा संवेदवादी द्वारा भौतिकसिद्धान्तवाद के प्रति भी अपनाया जा सकता है।

गणित की कल्पनामूलक सत्ताओं तथा भौतिक विज्ञान की कल्पनामूलक सत्ताओं में अनुरूपता कुछ अन्य प्रकार से भी बहुत अधिक है। उदाहरणतः इस शताब्दी के आरम्भ में

---

१०. गणित की उपमा फ्रैंक की पुस्तक "माडर्न साइन्स एण्ड इट्स फिलासफी, पृ० १०८ से, ली गयी है।

रसल के विरोधाभास (पेराडोक्स) तथा सैट-सिद्धान्त के विप्रतिषेधों (एंटीनोमीज़) की खोज के परिणामस्वरूप निष्पन्न क्रान्ति को देखा जा सकता है। इनके निराकरण के लिए तर्कपूर्वक तथा तात्कालिक उपायों को काम में लाया गया।[11] गणित में हमारी काल्पनिक सर्जना प्रयत्नसाध्य तथा सर्वविदित हो गयी। किन्तु तब भौतिक विज्ञान का क्या हुआ? वहाँ क्वांटम-सिद्धान्त तथा ऊर्मि-सिद्धान्त (क्वांटम थीयरी तथा वेव थीयरी) में विरोधाभास उत्पन्न हुआ, और यदि वह रसल के विरोधाभास के समान पूर्ण विरोधाभास नहीं भी था तो, मेरे विचार में, इसका कारण यह है कि भौतिकी गणित के समान पूर्णतः काल्पनिक नहीं है। और पुनः, गणित के आधारों में दूसरी महान् क्रान्ति, जो १९३१ में गूडल के इस प्रमाण से प्रेरित हुई कि गणित में अनिर्धारित कथनों का होना अनिवार्य है, की अनुरूपता भौतिकी में हीज़न्बर्ग के अनिर्धारितता के सिद्धान्त में उपलब्ध होती है।

आरम्भिक पृष्ठों में मैंने दिखाने का प्रयत्न किया था कि कुछ अस्तित्वमीमांसाओं के पक्ष में कुछ प्रचलित युक्तियाँ भ्रामक हैं। इसके पश्चात्, मैंने एक स्पष्ट कसौटी प्रस्तुत की जिससे किसी सिद्धान्त की अस्तित्वमीमांसात्मक विस्तार-सीमा देखी जा सकती है। किन्तु कौन सी अस्तित्वमीमांसा अपनायी जाय, यह प्रश्न अब भी खुला है, और इसके लिए उपयुक्त सम्मति यही है कि सहिष्णुता तथा प्रयोग-वृत्ति का आश्रय लिया जाय। हमें यह देखने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये कि भौतिकवादी सम्प्रत्ययात्मक योजना का संवेदवादी सम्प्रत्ययात्मक योजना में किस सीमा तक अन्तर्भाव किया जा सकता, किन्तु तब भी भौतिक विज्ञान हमारे प्रयत्नों की उतनी ही अपेक्षा करता है, चाहे वह पूर्ण रूप से अन्तर्भाव्य ही क्यों न हो? हमें देखने का प्रयत्न करना चाहिए कि प्राकृतिक विज्ञानों को प्लेटोवादी गणित से किस सीमा तक अलग किया जा सकता है, किन्तु साथ ही हमें गणित में अनुसन्धानों के प्रयत्न भी जारी रखने चाहियें और उसके प्लेटोवादी आधारों में डुबकी लगानी चाहिए।

इन विभिन्न प्रयत्नों के उपयुक्त विभिन्न सम्प्रत्यय योजनाओं में से एक—संवेदवाद—ज्ञान मीमांसात्मक प्राथमिकता का दावा करती है। संवेदवादी सम्प्रत्यय योजना के भीतर से झाँकते हुए, भौतिक विषय तथा गणित के विषय कल्पनामूलक हैं। किन्तु काल्पनिक विषय—रचना का गुण सापेक्ष है, वहाँ ज्ञानमीमांसात्मक दृष्टिकोण का सापेक्ष। यह दृष्टिकोण अनेक में से एक है—हमारी विभिन्न रुचियों और उद्देश्यों के अनुरूप ही।

---

११. द्रष्टव्य क्वाईन—पूर्वोक्त, पृ० ९० से, ९६ से तथा १२२ से।

अनुभववाद की दो अपरीक्षित मान्यताएँ

विलर्ड वान् ओर्मान क्वाइन

आधुनिक अनुभववाद दो विशेष मान्यताओं से बँधा रहा है। एक तो उसकी यह धारणा रही है कि विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक सत्य के बीच की खाई पट नहीं सकती। पहला, उसके अनुसार, तथ्य से विलग केवल अर्थ मात्र पर ही आधारित है, जबकि दूसरा तथ्य या वस्तु-स्थिति पर ही पूर्णरूपेण आश्रित है। इसकी दूसरी धारणा यह है कि प्रत्येक अर्थपूर्ण वाक्य किन्हीं ऐसे पदों का तार्किक व्यापार है जो सीधे किसी अपरोक्षतः अनुभूत तथ्य का निर्देश करते हैं। इसको अन्तर्भाववाद (रिडक्शनिज्म) भी कह सकते हैं। दोनों विश्वास मेरी राय में, तर्क की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। और यही मैं इस निम्बन्ध में सिद्ध करने की कोशिश करूँगा। यदि दोनों धारणाएँ निर्मूल सिद्ध हो जायें, तो इनको छोड़ने का एक ओर यह असर होगा कि विज्ञान और दर्शन के बीच का भेद धुँधला हो जायगा और दूसरी ओर प्रेग्मेटिज्म की ओर झुकाव बढ़ेगा।

[१] विश्लेषणात्मकता के लिये पृष्ठ भूमि

काण्ट ने विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक सत्यों में जो भेद किया उसका पूर्वाभास ह्यूम के उस भेद में पहले ही मिलता है जो उसने तथ्यों और विचार-प्रत्ययों के आन्तरिक सम्बन्धों के बीच किया है। दार्शनिक लाइबनिज ने भी कुछ इसी प्रकार का भेद तथ्यात्मक सत्य और बुद्धिगत सत्य के बीच किया था। लाइबनिज ने बुद्धिगत सत्य का सभी संसारों में सत्य होना अनिवार्य माना है। इसी बात को यदि सीधी-सादी भाषा में कहें तो इसका अर्थ यह होगा कि बुद्धिगत सत्य वे सत्य हैं जो कभी असत्य हो ही नहीं सकते। इसके अनुरूप ही हम विश्लेषणात्मक वाक्यों की ऐसी परिभाषा भी सुनते हैं कि ऐसे वाक्य वे वाक्य हैं जिनका निषेध, या जिनको ग़लत ठहराना स्वयं अन्तर्विरोध को जन्म देता है। लेकिन इस परिभाषा से विश्लेषणात्मकता के अर्थ को समझने में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती प्रतीत होती, क्योंकि 'अन्तर्विरोध' का अर्थ, विशेषकर उस व्यापक दृष्टिकोण में जिसमें वह विश्लेषणात्मकता को समझने में मदद दे सके उतना ही धुँधला है जितनी कि विश्लेषणात्मकता भी। दोनों प्रत्यय वास्तव में एक ऐसे सिक्के की दो तरफें हैं जिसके खरे होने में शक हो।

काण्ट ने विश्लेषणात्मक वाक्य को इस प्रकार समझा था कि उसमें उद्देश्य-पद के बारे में वही कहा जाता है जो उसके प्रत्यय में पहले से ही अन्तर्निहित है। इस प्रतिपादन में

दो कमियाँ हैं : पहली तो यह कि यह केवल उद्देश्य-विधेय प्रकार के वाक्यों तक ही सीमित रहता है, और दूसरी यह कि 'अन्तर्निहित' का प्रयोग कुछ आलङ्कारिक रूप में ही किया गया है। फिर भी काण्ट का अर्थ यदि हम उसकी परिभाषा को भूल जायें और केवल उसके व्यवहार की ओर दृष्टिपात करें, कुछ इस प्रकार से बताया जा सकता है—वाक्य विश्लेषणात्मक तब होता है जब उसकी सत्यता उसके पदों की सत्यता पर ही पूर्ण-रूपेण आश्रित होती है, किसी वस्तु-स्थिति पर नहीं। इस दिशा सङ्केत के अनुसार, अब हमें 'अर्थ' के उस वास्तविक अर्थ की खोज करनी चाहिये जो इस परिभाषा के बगैर विश्लेषण किये ही मान लिया गया है।

'अर्थ' वही चीज़ नहीं है जो 'नाम' है। अर्थ और नामकरण दो भिन्न भिन्न बातें हैं[१] ऐसा हमें ध्यान रखना चाहिये। फ्रेगे और रसल के प्रसिद्ध उदाहरण 'सँध्या का तारा' और 'भोर का तारा' या 'स्कॉट' और 'वेवरली का लेखक' इस बात को साफ तौर पर सिद्ध करते हैं कि विभिन्न पद एक ही वस्तु का नाम होते हुए भी अलग अलग अर्थ रख सकते हैं। उन पदों के विषय में भी जो वस्तु-विशेष के द्योतक नहीं हैं, यह भेद उतना ही सार्थक है। संख्या '९' और 'ग्रहों की संख्या' एक ही अमूर्त वस्तु के नाम हैं परन्तु उनके अर्थों को सम्भवतया भिन्न ही मानना पड़ेगा, क्योंकि उनके विषय की वास्तव में एकता सिद्ध करने के लिये खगौलिक अनुसन्धान की आवश्यकता पड़ी, न कि केवल उनके अर्थों पर शुद्ध चिन्तन की।

ऊपर के उदाहरण केवल ऐसे पदों के हैं जो किसी वस्तु-विशेष के द्योतक हों, फिर चाहे वह मूर्त हो या अमूर्त। सामान्य अथवा विधेय-पदों की समस्या कुछ भिन्न है, यद्यपि वह समानान्तर है। जबकि विशेष-वस्तु वाचक पद किसी का नाम देने की कोशिश करते हैं, चाहे वह मूर्त हो या अमूर्त, सामान्य पद वास्तव में किसी का भी नाम नहीं होते।[२] परन्तु फिर भी, सामान्य पद किसी एक वस्तु के बारे में, या बहुत सी वस्तुओं में से हर एक के बारे में, या किसी के बारे में भी नहीं, सत्य होता है। उन सब वस्तुओं का समूह, जिनके बारे में कोई भी सामान्य-पद सही-सही लागू किया जा सकता है, उस पद का विस्तार कहलाता है। अब उसी भेद के सामानान्तर, जो हमने विशिष्ट पदों के अर्थ और उनकी वस्तु-द्योतकता के बीच किया था, एक और भेद सामान्य पदों के अर्थ और उनके विस्तार के बीच भी करना पड़ेगा। उदाहरण के रूप में "हृदय रखने वाले प्राणी" और 'गुर्दा रखने वाले प्राणी' पद शायद अपने विस्तार में अभिन्न हों, परन्तु अर्थ में तो भिन्न ही होंगे।

सामान्य पदों में अर्थ और विस्तार में घपला कम होता है जब कि विशिष्ट पदों में अर्थ का नामकरण के साथ घपला अधिक साधारण बात है। दार्शनिक चिन्तन में अर्थ और विस्तार का भेद एक बहुत प्रचलित बात है।

अरस्तू का सत्व (एस्सेंस) का सिद्धान्त, निस्संदिग्ध रूप से, अर्थ अथवा अभिप्राय का

---

१. द्रष्टव्य—क्वाइन : 'फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइंट आफ व्यू', पृ० ६।
२. वहीं, पृ० १० तथा ११७-११५।

पूर्वगामी है। अरस्तू के लिये मनुष्य का बुद्धियुक्त होना उसका मूल-सत्व है, जब कि उसका दो पाँव रखना केवल एक आकस्मिक बात है। लेकिन उसमें और अर्थ के सिद्धान्त में एक महत्वपूर्ण भेद है। अर्थ के दृष्टिकोण से, यह बात, हम यदि तर्क के लिये स्वीकार भी कर लें कि 'मनुष्य' शब्द में 'बुद्धिमत्ता' निहित है जबकि दो पाँव रखना। उस अर्थ के लिये आवश्यक नहीं है, तब भी किसी और शब्द, जैसे 'द्विपद' के अर्थ में 'दो पाँव रखना' आवश्यक रूप से निहित हो सकता है और 'बुद्धिमान होना' बिल्कुल अनावश्यक। इस प्रकार अर्थ के सिद्धान्त के दृष्टिकोण से किसी जीते-जागते व्यक्ति के लिये, जो एक साथ ही आदमी और द्विपद दोनों ही है, यह कहना कि 'बुद्धिमान होना' उसका विशिष्ट सत्व है और 'दो पाँव रखना' आकस्मिक बात है, या कि 'दो पाँव रखना' विशिष्ट सत्व है और 'बुद्धिमान होना' आकस्मिक बात है, बिल्कुल निरर्थक है। अरस्तू के लिये विशिष्ट सत्व वस्तुओं मे था जब कि अर्थ केवल भाषीय रचनाओं का ही होता है। सत्व को जब हम निर्दिष्ट वस्तु से अलग कर केवल शब्द के साथ जोड़ देते हैं, तब वह अर्थ हो जाता है।

अर्थ के सैद्धान्तिक विवेचन में एक महत्वपूर्ण प्रश्न उसके विषय के स्वरूप के बारे में उत्पन्न होता है, कि आखिर अर्थ स्वयं में किस प्रकार की वस्तु है। अर्थगत सत्ताओं की आवश्यकता का आधार यह भी हो सकता है कि पहले अर्थ तथा निर्देश में भेद नहीं देखा गया था। एक बार अर्थ के सिद्धान्त का निर्देश के सिद्धान्त से पूर्णरूप से भेद कर लेने पर यह बात साफ जाहिर हो जायगी कि अर्थ के विवेचन का पहला कार्य केवल पदों की समानार्थकता और वाक्यों की विश्लेषणात्मकता है। एक तीसरे मध्यस्थ के रूप में अर्थ कुछ नहीं है और इसलिये पूर्णरूप से छोड़े जा सकते है।[3]

तब विश्लेषणात्मकता की समस्या हमारे सामने फिर नये रूप में आती है। ऐसे वाक्य, जो दार्शनिक सर्वसम्मति से विश्लेषणात्मक हो, ढूँढना कोई मुश्किल बात नहीं है। वे दो भागों में विभाजित किये जा सकते है। पहला भाग उन वाक्यों का है जिन्हे तार्किक रूप से सत्य कहा जा सकता है, जैसे:

(१) कोई भी अविवाहित आदमी विवाहित नहीं है।

इस उदाहरण की विशेष बात यह है कि यह केवल इसी रूप में सत्य नहीं है, वरन् 'आदमी' और 'विवाहित' पदों की सभी व्याख्याओं के अन्दर भी यह उसी प्रकार सत्य रहता है। यदि हमारे पास पहले से ही तार्किक पदों, जैसे 'नहीं' 'अ-', 'तब', 'और' आदि की सूची हो, तब साधारणतया वे वाक्य तार्किक रूप से सत्य कहे जा सकते है जो तार्किक पदों के अलावा अन्य सभी पदों को किसी भी अर्थ में लेने पर सदैव सत्य रहते है।

लेकिन विश्लेषणात्मक वाक्यों का एक और भी प्रकार होता है; जैसे :

(२) कोई भी कुँवारा विवाहित नहीं है।

इस प्रकार के वाक्यों की विशेषता यह है कि इनको आसानी से तार्किक सत्यता प्रदान

---

३. वहीं, पृ० ११ तथा पृ० ४८।

की जा सकती है, यदि हम एक शब्द के स्थान पर उसका समानार्थक कोई दूसरा शब्द रख दें। जैसे वाक्य (२) को आसानी से वाक्य (१) में परिवर्तित किया जा सकता है यदि हम 'कुँवारा' पद के स्थान पर उसका समानार्थक पद 'अविवाहित आदमी' रख दें। परन्तु जहाँ तक दूसरे प्रकार के विश्लेषणात्मक वाक्यों का सवाल है, उनका ठीक ठीक स्वरूप अभी हमें दिखाई नहीं पड़ता, क्योंकि 'समानार्थकता' का प्रत्यय जो हमने उनको समझने में प्रयोग किया है स्वयं स्पष्टता की माँग करता है।

पिछले कुछ वर्षों में, कार्नप ने विश्लेषणात्मकता को अपने 'स्थिति-वर्णनों' (स्टेट डिस्क्रिप्शंस)[४] के संदर्भ में समझाने का प्रयत्न किया है। 'स्थिति--वर्णनात्मकता' का अर्थ अणु वाक्यों को कोई भी एक अशेष सत्य या असत्य मूल्य प्रदान करना है। कार्नप यह मान कर चलता है कि भाषा के अन्य सभी वाक्य उन विभिन्न अंगों से बने हैं जो तार्किक उपायों के सहारे एक सूत्र में इस प्रकार सम्बन्वित और रचित किए गये हैं कि सम्पूर्ण वाक्य का सत्य या असत्य होना विशिष्ट तार्किक नियमों के द्वारा प्रत्येक स्थिति-वर्णन के लिए निर्धारित होता है। इसके अनुसार, वाक्य विश्लेषणात्मक उस हालत में होता है जब किसी भी स्थिति-वर्णन में वह सदैव सत्य उतरता है। वास्तव में यह लाइबनिज के प्रसिद्ध सिद्धान्त "सब सम्भव संसारों में सत्य" का ही एक नया रूप है। लेकिन यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि विश्लेषणात्मकता का यह अर्थ तभी ठीक बैठता है जब कि भाषा के अणुवाक्य एक-दूसरे से पूर्णतया स्वतन्त्र हों, यानि वे "जॉन कुँवारा है" और 'जॉन विवाहित है' इस प्रकार के नहीं हों। अन्यथा एक ऐसी स्थिति-वर्णनात्मकता होगी जो 'जॉन कुँवारा है' और 'जॉन विवाहित है' वाक्यों को सत्यता प्रदान करेगी और इस प्रकार 'कोई भी कुँवारा विवाहित नहीं है' वाक्य संश्लेषणात्मक हो जायगा। इस प्रकार विश्लेषणात्मकता को 'वर्णनात्मक-वस्तु स्थिति' के द्वारा समझने की कोशिश उन्हीं भाषाओं के लिये सफल हो सकती है जिनमें कोई भी दो अतार्किक समानार्थक शब्द न हों, जैसे कि 'कुँवारा' और 'अविवाहित आदमी'-यानि उस प्रकार के समानार्थक शब्द जो दूसरे प्रकार के विश्लेषणात्मक वाक्यों को जन्म देते हैं। 'वर्णनात्मक वस्तु स्थिति' तार्किक सत्यता को बता सकती है, न कि विश्लेषणात्मकता को।

मेरी इस बात से यह नहीं समझना चाहिये कि कार्नप को स्वयं उसके बारे में कोई गलतफ़हमी है। उसकी 'स्थिति वर्णन युक्त' तार्किक भाषा की रचना वास्तव में विश्लेषणात्मकता की समस्या को हल करने के लिए नहीं दी गई है। उसका तो उद्देश्य ही दूसरा है-यानि आगमन--तर्क की समस्याओं को सुलझाना। परन्तु हमारी समस्या तो विश्लेषणात्मकता की है और इसकी विशिष्ट कठिनाई तार्किक रूप से सत्य वाक्यों के सम्बन्ध में उत्पन्न न होकर दूसरे प्रकार के वाक्यों के बारे में पैदा होती है, जिनकी विश्लेषणात्मकता 'समानार्थकता' पर आश्रित है।

---

४. कार्नप : 'मीनिंग एंड नेसेस्सिटी', पृ० ६ तथा 'लॉजिकल फाउंडेशंस् ऑफ लेंग्वेज' पृ० ७०।

[२] परिभाषा

ऐसे लोग भी है जिन्हें यह मानना अच्छा लगता है कि परिभाषा द्वारा दूसरे प्रकार के विश्लेषणात्मक वाक्यों का पहले प्रकार के वाक्यों में, जो तार्किक रूप से अनिवार्यतः सत्य है, अन्तर्भाव किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर, 'कुँवारा' शब्द की परिभाषा ही इस प्रकार की जा सकती है कि उसका अर्थ 'अविवाहित आदमी' हो। परन्तु हम यह किस तरह मालूम करते है कि 'कुँवारा' पद 'अविवाहित' के रूप में परिभाषित है ? उसकी ऐसी परिभाषा किसने की, और कब की ? क्या हम अपने सबसे सहज उपलब्ध शब्द–कोष की दुहाई देंगे और जो उसके बनाने वाले ने लिखा है, उसको अनिवार्य नियम मान लेगे ? यह तो साफ तौर पर, बात को बिल्कुल उलटा समझना होगा। शब्द–कोष बनाने वाला तो एक ऐसा वैज्ञानिक है जो वास्तव में वस्तु–स्थिति क्या है उसका अध्ययन करता है। उसका काम तो पूर्ण–घटित घटनाओं का ब्यौरा रखना है और यदि वह 'कुँवारा' शब्द को 'अविवाहित' का पर्यायवाची मानता है, तो केवल अपने इसी विश्वास के आधार पर कि दोनों में एक समानार्थकता का सम्बन्ध है जो उसके लिखने के पूर्व शब्दों के साधारण या विशेष प्रयोग में निहित है। परन्तु 'समानार्थकता' का अर्थ तो तब भी साफ नहीं होता और शायद इसका समाधान मनुष्य के भाषा–व्यवहार या भाषा–प्रयोग में मिले। फिर भी यह तो निश्चित ही है कि शब्द–कोष के बनाने वाले की दी गई परिभाषा के आधार पर समानार्थकता का निरूपण नहीं किया जा सकता क्योंकि वह तो स्वयं शब्दों के पूर्व नियत सामानार्थक प्रयोग पर आधारित है।

परिभाषा का कार्य केवल भाषा–विदों तक ही सीमित नहीं है। दार्शनिक और वैज्ञानिक भी बहुधा ऐसे स्थल पाते हैं जहाँ उन्हें किसी अपरिचित पद की परिभाषा अधिक परिचित पदो में करनी पड़ती है। परन्तु ऐसी परिभाषाएँ भी आमतौर पर, भाषा–विद् की परिभाषा के समान शुद्ध भाषा–कोष बनाने जैसी ही होती है। वे एक ऐसी समानार्थकता को बताती है जो पहले से ही मान ली गई है।

यह बात कोई बहुत स्पष्ट नही है कि वास्तव में जब कोई दो पदों को समानार्थक कहता है तो उसका क्या मतलब होता है, या भाषा के विभिन्न प्रकारो के बीच वे सम्बन्ध क्या हैं, जिनके होने पर ही उनको समानार्थक कहा जा सकता है। लेकिन ये सम्बन्ध चाहे कुछ भी हों, साधारणतया उनका आधार भाषा के प्रयोग में ही है। परिभाषाएँ, जो समानार्थकता के कुछ चुने हुए उदाहरण लेकर बनाई जाती है, वास्तव में भाषा के कुछ प्रयोगों का ही वर्णन करती हैं।

लेकिन इसके अलावा एक और परिभाषा–प्रक्रिया भी होती है जो अपने को पूर्व–नियत समानार्थकताओं का वर्णन करने तक ही सीमित नही रखती। मेरा मतलब उससे है जिसको कार्नप 'व्याख्या करना' कहता है। यह ऐसा कार्य है जिसमें लगना दार्शनिकों की सहज प्रवृत्ति है और वैज्ञानिक भी अपने दार्शनिक क्षणों मे इसी का सहारा लेते है। व्याख्या करने का मतलब परिभाष्य शब्द के केवल सीधे पर्यायवाची शब्द देना नही है, वरन् उसके अर्थो की सूक्ष्म अभिव्यञ्जना और विस्तार करके उसकी परिशुद्धि करना भी है। परन्तु यह सत्य होते

हुए भी कि व्याख्या परिभाष्य और परिभाषा में किसी पूर्व स्थित समानार्थकता का वर्णन नहीं है, वह किन्हीं अन्य पूर्व-स्थित समानार्थकताओं पर तो आश्रित रहती ही है। इस बात को ऐसे समझा जा सकता है—कोई भी शब्द जो व्याख्या के योग्य समझा जाता है, ऐसे विशेष संदर्भ रखता है जो प्रयोग की दृष्टि से बिल्कुल स्पष्ट और सही होते हैं। व्याख्या का काम तब इन विशिष्ट संदर्भों में हुए प्रयोगात्मक अर्थ को बचाये रख कर अन्य संदर्भों में किये गये प्रयोगों को एक सुनिश्चितता प्रदान करना होता है। व्याख्या के लिये किसी परिभाषा का उचित होना, तब, इस पर निर्भर नहीं करता कि परिभाष्य शब्द अपने पूर्व-प्रयोगों में पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से समानार्थक है, अपितु केवल इस पर कि उसके विशिष्ट संदर्भों में है।

दो भिन्न भिन्न परिभाषाएँ व्याख्या के काम के लिये एक सी होकर भी, एक दूसरे के समानार्थक नही भी हो सकती है, क्योंकि विशिष्ट संदर्भों में जब कि उनका प्रयोग एक-दूसरे के स्थान पर सत्य में अन्तर लाये बिना किया जा सकता है, अन्य संदर्भों में ऐसा शायद सम्भव न हो। उन परिभाषाओं में से यदि हम केवल एक ही को पकड़ कर चलें तो व्याख्यात्मक ढँग की परिभाषा मनमाने ढँग से परिभाषा और परिभाषेय में एक ऐसे समानार्थक सम्बन्ध को जन्म देती है जो पहले नहीं था। लेकिन, जैसा कि हम पहले देख चुके है, ऐसी परिभाषा अपने व्याख्यात्मक कार्य में पूर्व-स्थित समानार्थकताओं पर ही आधारित होती हैं।

इनके अलावा, एक और प्रकार की परिभाषा भी होती है जो किसी भी पूर्व-समानार्थकता का आश्रय नही लेती। यह नये चिह्नों का स्पष्टतः रूढ़ प्रयोग है जो चिह्न केवल संक्षेप के लिये आविष्कृत किये जाते है। यहाँ परिभाषा और परिभाषेय केवल इसलिये समानार्थक होते हैं क्योंकि परिभाषा परिभाषेय के समानार्थक होने के लिये ही गढ़ी जाती है। वास्तव में, यह उस स्थिति का स्पष्ट उदाहरण है जहाँ समानार्थकता की सृष्टि केवल परिभाषा के ही द्वारा उत्पन्न होती है। कितना अच्छा होता यदि समानार्थकता के अन्य प्रकार भी इसी की भाँति समझ में आ सकते। परन्तु, जहाँ तक अन्य अर्थों का प्रश्न है, उनमें तो परिभाषा समानार्थकता को समझाने के बजाय स्वयं उसी पर आश्रित होती है।

'परिभाषा' शब्द गणित और तर्क-शास्त्र में बहुधा प्रयोग के कारण बहुत परिचित हो गया है और इससे यह भ्रामक रूप से सरलता का आश्वासन उत्पन्न करता है। इसलिये यह उचित ही होगा यदि हम थोड़े में यह देखने की कोशिश करें कि गणित और तर्क-शास्त्र में परिभाषा का क्या स्थान है ?

तर्क और गणित शास्त्रों में हम लाघव की दो परस्पर विरोधी प्रक्रियाओं में से किसी एक की ओर बढ़ सकते हैं। दोनों की वास्तव में अपनी अपनी अलग और विशिष्ट क्रियात्मक उपयोगिता है। एक ओर हम अपने विचारों की अभिव्यक्ति में कम से कम शब्द प्रयोग करने की दिशा में जा सकते है—अनगिनत सम्बन्धों को सरलता से सूत्र रूप में बतलाने की दिशा। इसके लिये प्रायः प्रत्ययों की बहुलता के लिये विशिष्ट, स्पष्ट और लघु संकेतों की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, और इसके बिल्कुल विपरीत, हम शब्द-भण्डार और व्याकरण में लाघव की कोशिश कर सकते हैं। हम ऐसे आधार-प्रत्ययों को पाने की चेष्टा कर सकते हैं

जिन की संख्या कम से कम हो और जिन में से प्रत्येक के लिये एक विशिष्ट सङ्केत बनाने के बाद कोई भी अन्य प्रत्यय उन्हीं सङ्केतों को भिन्न भिन्न रूपों मे दुहरा कर और मिला कर अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसमें व्यवहार की दृष्टि से एक दोष है। आधारभूत-सङ्केतों के लाघव के कारण वर्णन हमेशा बहुत लम्बा होने लगता है। परन्तु अन्य दृष्टिकोण से इसमें व्यावहारिक उपयोगिता भी है। आधारभूत प्रत्ययों और उनके सम्बन्धों के कम से कम होने के कारण भाषा के विषय में तार्किक या बौद्धिक चर्चा सरलता को प्राप्त होती है।

दोनों प्रकार के लाघव, एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होने पर भी, अपने अपने तरीके से भिन्न भिन्न रूप में मूल्यवान हैं। इसीलिये दोनों को एक साथ मिला कर काम लेने की परम्परा चल पड़ी है। वास्तव में यह दो भाषाओं का सम्मिश्रण है, जिनमें कि एक दूसरी का अङ्ग बन जाती है। यह मिश्रित भाषा व्याकरण और शब्द-राशि का बाहुल्य होते हुए भी अभिव्यक्ति के लिये थोड़े में ही समर्थ होती है जब कि उसका वह भाग जो आधार-सङ्केतों के रूप मे जाना जाता है, व्याकरण और शब्द-राशि में लाघव प्राप्त करता है। पूर्ण मिश्रित भाषा और उसके अंश मे अनुवाद के नियमो की सहायता से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है जिनके अनुसार कोई भी वाक्य जो आधार-सङ्केतों में नहीं है उसको केवल आधार-सङ्केतों से बने वाक्य में बदला जा सकता है। अनुवाद के ये नियम शुद्ध रूप-गत-संस्थानों की तथाकथित परिभाषाएँ ही हैं। उनको एक भाषा के अङ्ग-विशेष के रूप में देखना ठीक न होगा, बल्कि दो भाषाओं के बीच में सम्बन्ध-कारिका के रूप में, जिनमें कि एक दूसरी का विशिष्ट अङ्ग है।

लेकिन यह एक भाषा का दूसरी भाषा से समरूप-सम्बन्ध कोई मनगढ़न्त नहीं है। उसका काम यह दिखाना है कि आधार-सङ्केत किस प्रकार से बहुल भाषा के सब काम कर सकते हैं, केवल आराम से और थोड़े में कहने को छोड़ कर। परिभाषा और परिभाषेय के सम्बन्ध, इस प्रकार, प्रत्येक अवस्था में, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, तीन तरह से समझे जा सकते हैं। परिभाषा परिभाषेय की एक सकुचित साङ्केतिक भाषा में बिल्कुल सही अभिव्यक्ति या समझाने की ऐसी चेष्टा हो सकती है जो व्यवहार में पहले ही आये हुए सीधे समानार्थक[५] प्रयोगों को सुरक्षित रखती है। या परिभाषा, व्याख्या के दृष्टिकोण से, परिभाषेय के पूर्व-प्रयोगों पर कुछ नये सुधार कर सकती है। या, अन्ततः, परिभाषा एक नये अर्थ-सङ्केतों की जन्मदात्री हो सकती है जिनको अर्थ बिल्कुल नये रूप मे वहीं और तब ही प्रदान किया जाता है।

---

५. परिभाषा के एक अन्य महत्वपूर्ण अर्थ में, सम्बन्ध केवल निर्देश की अनुरूपता का भी हो सकता है, जो कि एक क्षीणतर सम्बन्ध है। द्रष्टव्य : "फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइंट आफ व्यू" में पृ० १३२। किन्तु इस अर्थ में यहाँ परिभाषा की उपेक्षा करना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि यह समानार्थकता के प्रश्न के लिये अप्रासंगिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे शुद्ध रूप-गत-संस्थान हो या बोल-चाल की भाषा, परिभाषा सदैव पूर्व-स्थित समानार्थकताओं के सम्बन्धों पर आश्रित रहती है। इसका अपवाद केवल उस अवस्था में होता है जब नये सङ्केतों का खुले रूप में व्यावहारिक प्रयोग स्पष्ट किया जाता है। यह अच्छी तरह समझ कर कि परिभाषा के पास समानार्थकता और विश्लेषणात्मकता को सुलझाने की कुञ्जी नहीं है, हम परिभाषा के विषय में कुछ और न कह कर समानार्थकता की तरफ ध्यान देने की चेष्टा करेंगे।

[२] परस्पर परिवर्त्तनीयता

एक विचार, जो इस विषय में बहुत ध्यान देने योग्य है, यह मत प्रतिपादित करता है कि दो भाषीय तत्त्वों की समानार्थकता केवल इस में है कि सब अवस्थाओं में वे एक दूसरे की जगह, बिना वाक्य की सत्यता या असत्यता पर किसी प्रकार का असर डाले, बदले जा सकते हैं; इस प्रकार की परस्पर पूर्ण परिवर्तनीयता को लाइब्निज ने साल्वा वेरिटाट (Salva Veritate)[६] कहा था। इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार से सोचे गये समानार्थक शब्दों के अस्पष्टता से रहित होने की आवश्यकता नहीं है, जब तक कि दोनों की अस्पष्टता एक-दूसरे के बिल्कुल समरूप हो।

परन्तु यह बात तो पूर्ण रूप से सच नहीं कही जा सकती कि समानार्थक शब्द 'कुँवारा' और 'अविवाहित' सब स्थानों पर एक-दूसरे की जगह सत्यता या असत्यता पर किसी प्रकार का प्रभाव डाले बिना बदले जा सकते हैं। ऐसे सत्य, जो 'अविवाहित' का प्रयोग 'कुँवारा' शब्द की जगह करने से असत्य में परिणत हो जायेंगे, आसानी से बनाये जा सकता हैं। उदाहरण के लिये, ऐसे वाक्य जो अंग्रेजी के शब्द 'बैचलर ऑफ आर्ट्स' या 'बैचलरस् बटन्स्' से बनाये जा सकते हैं—या ऐसे वाक्यों के द्वारा जैसे :

'कुँवारा' आठ से कम अक्षरों का पद है।

इस प्रकार के विरोधी उदाहरणों को शायद यह कह कर हटाया जा सकता है कि 'बैचलर ऑफ आर्टस्' या 'बैचलरस् बटन्स्' जैसे मुहावरे या 'कुँवारा' शब्द का उद्धरण रूप में प्रयोग एक अविभाज्य शब्द के रूप में लिया जाना चाहिये और इस बात को मान लेना चाहिए कि वह परस्पर पूर्ण परिवर्तनात्मकता जिसको हम समानार्थकता का द्योतक मानते हैं, शब्दों के विशिष्ट अङ्गों पर लागू नहीं होती। समानार्थकता की यह व्याख्या, यदि हमें और सब दृष्टिकोणों से ठीक भी लगे, 'शब्द' के प्रत्यय को पूर्व-कल्पित करके चलती है, जो अपने आप में नयी मुश्किलें पैदा कर सकती है। फिर भी, यह तो कहा ही जा सकता है कि समस्या को सुलझाने में कम से कम इतनी प्रगति तो हुई है कि समानार्थकता की समस्या अब केवल 'शब्द' की समस्या रह गई है। अब हम 'शब्द' को पूर्वसिद्ध मान कर, इस दिशा में चिन्तन को कुछ और आगे बढाने की चेष्टा करेंगे।

---

६. सी. आई. ल्यूईस : 'ए सर्वे आफ, सिम्बॉलिक लॉजिक', (बर्कले, १९१८)।

यह प्रश्न तो रहता ही है कि क्या परस्पर परिवर्तनीयता (शब्दों के आन्तरिक अंशों को छोड़ कर) सब अवस्थाओं में पूर्णरूपेण समानार्थकता को जानने के लिये केवल अपने में ही काफ़ी है ? ऐसा तो नहीं है, कि कुछ असमानार्थक शब्द भी इस प्रकार परस्पर परिवर्तनीय होते हैं। इस प्रसङ्ग में यहाँ यह बात तो हमको बिल्कुल स्पष्ट रूप से समझनी है कि हमारा यहाँ समानार्थकता के उस अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है जिसमें सब प्रकार के अनुषंगी मानसिक विचारों या काव्यमय अनुभूतियों का पूर्ण तादात्म्य शामिल हो। वास्तव में, इस अर्थ में तो कोई भी दो शब्द कभी भी समानार्थक नहीं हो सकते। हमारा तात्पर्य यहाँ केवल ऐसी समानार्थकता से है जिसे ज्ञानात्मक समानार्थकता कहा जा सकता है। यह ठीक-ठीक क्या है, यह तो इस गवेषणा की सफल समाप्ति पर ही कहा जा सकता है, लेकिन हमको उसके बारे में कुछ ज्ञान तो है जोकि विश्लेषणात्मकता पर विचार करने के संदर्भ में इसकी आवश्यकता के द्वारा हमें प्राप्त हुआ था। प्रथम भाग में जिस समानार्थकता की आवश्यकता हुई थी, वह केवल इतनी थी कि किसी भी विश्लेषणात्मक वाक्य को, समानार्थक शब्दों के स्थान पर समानार्थक शब्द रखने पर, तार्किक वाक्य में बदला जा सकता है। इसके बिल्कुल विपरीत, यदि हम विश्लेषणात्मकता को मान कर चलें तो शब्दों की ज्ञानात्मक समानार्थकता को हम इस प्रकार समझ सकते हैं। पुराने परिचित उदाहरण को रखते हुए, यह कहना कि 'कुँवारा' और 'अविवाहित' ज्ञानात्मक दृष्टि से समानार्थक हैं, इस कथन से न कम न ज्यादा है कि :

(३) "सब और केवल कुँवारे ही अविवाहित हैं" वाक्य विश्लेषणात्म है।[७]

परन्तु, वास्तव में, यदि हम को विश्लेषणात्मकता की व्याख्या ज्ञानात्मक समानार्थकता के आधार पर करनी है, जैसाकि हमने प्रथम भाग में करने की चेष्टा की थी, तो हम को ज्ञानात्मक समानार्थकता की एक ऐसी व्याख्या की आवश्यकता है जो विश्लेषणात्मकता को मान कर न चलती हो। और वास्तव में, ज्ञानात्मक समानार्थकता की इसी प्रकार की स्वतंत्र व्याख्या इस समय विचाराधीन है, अर्थात् शब्दों की अपनी भीतरी रचना को छोड कर पूर्णरूपेण परस्पर परिवर्तनात्मकता। प्रसङ्ग सूत्र को फिर से पकड़ते हुए, हमारे सामने प्रश्न यही है कि क्या ऐसी परिवर्तनात्मकता ज्ञानात्मक समानार्थकता का पूर्ण आधार मानी जा सकती है ? निम्न लिखित उदाहरणों के द्वारा हम जल्दी ही अपने को विश्वास दिला सकते हैं कि वास्तव में ऐसा ही है। यह वाक्य :

---

७. यह प्रारम्भिक स्थूल अर्थ में प्रज्ञानात्मक समानार्थकता है। कार्नप ('मीनिंग एंड नेसेस्सिटी, पृ० ५६ से) तथा ल्यूईस ('एन एनालिसिस ऑफ नॉलेज एण्ड वेल्यूएशन' पृ० ८६ से) ने यह सुलझाव प्रस्तुत किया है कि किस प्रकार से यह अवधारणा उपलब्ध होने पर इससे प्रज्ञानात्मक समानार्थकता की संकुचिततर अवधारणा, जो कि कुछ प्रयोजनों के लिये अधिक उपयोगी है निष्कृष्ट की जा सकती है। किन्तु अवधारणा निर्माण की यह विशिष्ट प्रक्रिया हमारे वर्त्तमान उद्देश्यों के लिये अप्रासंगिक है, और उसको यहाँ विचारित व्यापक प्रकार की प्रज्ञानात्मक समानार्थकता के साथ घपलाना नहीं चाहिए।

(४) 'अनिवार्यतः सब कुँवारे ही केवल कुँवारे हैं।'

स्पष्ट रूप से ही सत्य प्रतीत होता है और यह उस अवस्था में भी सत्य है जब हम 'अनिवार्यतः' को केवल उस संकुचित अर्थ में ही लें जिसमें वह सत्यतया केवल विश्लेषणात्मक वाक्यों के लिये ही लागू किया जा सकता है। फिर, यदि 'कुँवारा' और 'अविवाहित' पूर्णरूप से परस्पर परिवर्तनात्मक हैं, तो यह वाक्य :

(५) 'अनिवार्यतः सब कुँवारे ही केवल अविवाहित हैं'

जो 'अविवाहित' को 'कुँवारा' के स्थान पर वाक्य (४) में रखने से बनता है, वाक्य (४) के अनुरूप ही सत्य होना चाहिये। लेकिन यह कहना कि वाक्य (५) सत्य है, इसी कथन के बराबर है कि वाक्य (३) विश्लेषणात्मक है और इसलिये 'कुँवारा' और 'अविवाहित' ज्ञानात्मक दृष्टि से समानार्थक है।

ऊपर दिया तर्क कुछ अजीब सा प्रतीत होता है। इसलिये इसकी कुछ और परीक्षा करना आवश्यक है। परस्पर परिवर्तनात्मकता की शर्त भाषा की शक्ति या सामर्थ्य के अनुसार बदलती रहती है। ऊपर दिया तर्क ऐसी भाषा को मानकर चलता है जिसमें 'अनिवार्यतः' जैसे शब्दों को रखने की शक्ति है और जिसमें इस शब्द का अर्थ इस प्रकार से लगाया गया है कि वह केवल तभी सत्य हो जब उसका प्रयोग विश्लेषणात्मक वाक्यों के लिये ही किया जाय। लेकिन क्या हम ऐसी भाषा को मान्यता प्रदान कर सकते हैं जिसमें ऐसा शब्द हो? क्या इसका वास्तव में कोई अर्थ है? यह मानना कि वास्तव में इसका कोई अर्थ है, इस बात को पहले मान कर चलता है कि 'विश्लेषणात्मक' का हमने कोई सन्तोषजनक उत्तर पा लिया है। और यदि ऐसा है तो यहाँ हम किसकी खोज में इतने परिश्रमपूर्वक लगे हैं?

हमारा तर्क सीधे रूप से चक्रिक न होते हुए भी, करीब-करीब वैसा ही है। आलंङ्कारिक भाषा में कहें तो, उसका आकार देश में एक बन्द वक्र का है।

परस्पर पूर्ण परिवर्तनात्मकता, वास्तव में, तब तक अर्थहीन है जब तक वह ऐसी भाषा के संदर्भ में न हो जिसका विशिष्ट दिशाओं में विस्तार साफ और सही तौर पर पहले से ही निर्धारित न कर दिया जाय। उदाहरण के तौर पर, मान ले कि हम ऐसी भाषा पर विचार करते हैं जिसमें केवल निम्न लिखित चीजें ही हैं। जिसमें बहुत संख्या में, एक-स्थानीय विधेय (जैसे 'फ', जहाँ 'फ य' का अर्थ होता है कि य एक आदमी है) और बहु-स्थानीय विधेय (जैसे 'ग' जहाँ 'ग य र' का अर्थ होता है कि य र को प्यार करता है) जिनका सम्बन्ध अधिकतया तर्केतर विषयों से है। भाषा का बाकी अंश केवल तार्किक है। भाषा के अणु-वाक्य एक विधेय के बाद एक या अधिक वेरिएबल, जैसे 'य' या 'र' आदि से बनते हैं और वाक्य-समूह अणु-वाक्यों पर तार्किक व्यापारक (जैसे 'नहीं' 'और', 'या' इत्यादि) और परिमाणात्मक व्यापारक (जैसे 'सब', 'कुछ', इत्यादि) लगाने से बनते है।[८] ऐसी भाषा को वे सब लाभ भी प्राप्त हैं

---

८. 'फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइंट ऑफ व्यू' में पृ० ८१ से ऐसी ही भाषा का विवरण दिया गया है, सिवाय इस बात के कि वहाँ केवल एक ही विधेय, वर्ग की सदस्यता का दो स्थानीय विधेय ही विद्यमान है।

जो वर्णनात्मक और व्यक्ति–सूचक पदों में होते है, क्योंकि यह दोनों ही जाने पहचाने तरीकों से उसमें परिभाषित किये जा सकते हैं।[९] अमूर्त व्यक्ति–सूचक पद, जो केवल वर्गों या वर्गों के वर्गों का नाम होते है—उनकी भी संदर्भ–रूप में परिभाषा की जा सकती है, यदि हमारे स्वीकृत उद्देश्यों में वर्ग की सदस्यता सूचित करने वाले दो–स्थानीय विधेय भी हों। ऐसी भाषा सामान्यतया प्राचीन गणित और विज्ञान के सभी अंशों के लिये पर्याप्त है। केवल प्रतितथ्यात्मक हेतु हेतुमत् वाक्यों अथवा 'अनिवार्यतः' के समान 'रीतिपरक' (मॉडल) क्रिया–विशेषणों को छोड़ कर।[११] इस प्रकार की भाषा इस अर्थ में विस्तारात्मक है कि कोई भी दो विधेय, जिनका विस्तार एक सा ही है, (यानि, जो समान विषयों के लिये सत्य ठहरते हैं) पूर्णरूप से एक-दूसरे के स्थान पर प्रयोग किये जा सकते हैं।[१२]

इसलिये विस्तारात्मक भाषा में परस्पर पूर्ण परिवर्तनात्मकता ऐसी ज्ञानात्मक समानार्थकता का, जैसी कि हम चाहते हैं,कोई निश्चित आधार पर नहीं है। यह तथ्य कि 'कुँवारा' और 'अविवाहित' विस्तारात्मक भाषा में पूर्णरूप से परिवर्तनात्मक है, हम को केवल यही आश्वासन दिलाता है कि वाक्य (३) सत्य है। इसमें ऐसा कोई आश्वासन नहीं है कि 'कुँवारा' और 'अविवाहित' भी विस्तारात्मक समानता अर्थ पर आश्रित है न कि घटनाओं के आकस्मिक गुणों पर जैसा कि 'हृदयवाले प्राणी' और 'गुर्देवाले प्राणी' पदों में है।

हमारे अधिकांश प्रयोजनों के लिये समानार्थकता के सबसे समीप पहुँचने वाली विस्तारात्मक समानता ही पर्याप्त है। परन्तु, यह तो सत्य रहता ही है कि विस्तारात्मक समानता उस प्रज्ञानात्मक समानार्थकता से बहुत दूर है जिसकी आवश्यकता हमें विश्लेषणात्मकता की उस व्याख्या के लिये चाहिये जो पहले परिच्छेद में दी गई व्याख्या के अनुरूप हो। जिस प्रज्ञानात्मक समानार्थकता की वहाँ आवश्यकता है वह ऐसी है जो 'कुँवारा' और 'अविवाहित' की समानार्थकता को वाक्य (३) की विश्लेषणात्मकता से सम्बन्धित करे न कि केवल उसकी (३) सत्यता मात्र से।

इस प्रकार यह तो हम को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि परस्पर पूर्ण परिवर्तनात्मकता, यदि वह विस्तारात्मक भाषा के सम्बन्ध में देखी जाय, तो वह प्रज्ञानात्मक समानार्थकता के उस अर्थ के लिये अपर्याप्त है जो परिच्छेद [१] में वर्णित की गई विश्लेषणात्मकता को समझाने के लिये जरूरी है। यदि किसी भाषा में 'अनिवार्यतः' जैसे अभिप्रायात्मक (इटेंशनल) क्रिया-विशेषण उसी अर्थ में है जैसा हमने पहले देखा है, या कोई और शब्द जो उसी भावना को

---

९. द्रष्टव्य : 'फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइंट आफ व्यू' में पृ० ५–८ तथा पृ० ८५ से और पृ० १६६ से।

१०. वहीं, पृ० ८७।

११. ऐसी विधियों के सम्बन्ध में उपरोक्त पुस्तक में 'रेफरेंस एंड मॉडेलिटी' लेख भी द्रष्टव्य।

१२. हमारी पुस्तक "मैथेमैटिकल लॉजिक, ‡ १२१ का यही सार है।

लिये हुये है, तो ऐसी भाषा में परस्पर पूर्ण परिवर्तनात्मकता प्रज्ञानात्मक समानार्थकता के लिये पर्याप्त अवश्य है; परन्तु ऐसी भाषा वहीं तक समझी जा सकती है जहाँ तक कि विश्लेषणात्मकता को पहले ही समझ लिया गया है।

शायद प्रज्ञानात्मक समानार्थकता को पहले समझने की चेष्टा और बाद में इसके द्वारा विश्लेषणात्मकता को समझने का प्रयत्न, जैसा कि हमने परिच्छेद [१] में किया है, एक गलत दिशा में प्रयत्न है। इसके बजाय शायद हमें विश्लेषणात्मकता को समझने का प्रयत्न बिना प्रज्ञानात्मक समानार्थकता का सहारा लिये हुए स्वतन्त्र रूप से करना चाहिए। बाद में, यदि हम चाहें, तो ज्ञानात्मक समानार्थकता को विश्लेषणात्मकता से भी निस्संदेह निष्कृष्ट किया जा सकता है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि 'कुँवारा' और 'अविवाहित' की प्रज्ञानात्मक समानार्थकता को वाक्य (३) की विश्लेषणात्मकता के रूप में समझा जा सकता है। ऐसा ही किन्हीं भी दो एक-स्थानीय विधेयों के साथ किया जा सकता है और आसानी से यही तरीका बहु-स्थानीय विधेयों पर भी लागू किया जा सकता है। अन्य भाषीय कोटियों (केटेगरीज) के साथ भी इसी प्रकार से व्यवहार किया जा सकता है। व्यक्तिवाचक पदों को भी हम तब प्रज्ञानात्मक रूप में समानार्थक कह सकते हैं, जब उनके बीच में तादात्म्य-सूचक चिन्ह (=) लगाने पर जो वाक्य बनता है, वह विश्लेषणात्मक हो। वाक्यों को प्रज्ञानात्मक रूप में समानार्थक हम सीधे सरल तौर पर तब कह सकते हैं जब उनका वह मिश्रित वाक्य, जो 'यदि और केवल यदि' लगाने से बनता है, विश्लेषणात्मक हो। और यदि हम इन सब कोटियों को एक ही प्रतिपत्ति में एकत्र करना चाहें तो यह केवल पिछले परिच्छेद के अनुरूप 'शब्द' के उस प्रत्यय को पूर्व मान्यता प्रदान करके ही सम्भव है, और तब हम किन्हीं भी दो भाषायी रचनाओं को प्रज्ञानात्मक रूप में समानार्थक कह सकते हैं जब कि वे (केवल शब्दों के भीतर घटित होने की अवस्था को छोड़ कर) एक-दूसरे के स्थान पर पूर्ण रूप से परिवर्तनीय हों। यह परस्पर पूर्ण परिवर्तनात्मकता सत्य के आधार पर न होकर विश्लेषणात्मकता के आधार पर है। यह सत्य है कि कुछ विशिष्ट तर्कणीकी प्रश्न उन अवस्थाओं में उठते हैं—जब कि शब्दों के कई विभिन्न अर्थ होते हैं, या कई अलग-अलग शब्द एक जैसे उच्चारित होते हैं। लेकिन हम पहले ही अपनी दिशा से अलग जा चुके हैं, और इन प्रश्नों के लिये हमको ठहरने की आवश्यकता नहीं है। अब हम समानार्थकता की समस्या को छोड़कर पुनः विश्लेषणात्मकता की समस्या का समाधान खोजने का प्रयत्न करेंगे।

[४] भाषार्थ परक नियम

पहले पहल यह बिल्कुल स्वाभाविक ही लगता है कि विश्लेषणात्मकता की परिभाषा अर्थों के आयाम में ढूँढी जा सकती है। अधिक परिष्कृत स्तर पर, अर्थों का आश्रय छोड़ कर समानार्थकता या परिभाषा का आश्रय लिया गया। परन्तु परिभाषा तो एक मृग-मरीचिका साबित हुई और समानार्थकता के सम्बन्ध में पाया गया कि इसे उपयुक्त रूप में विश्लेषणात्मकता के आधार पर ही समझा जा सकता है। इस प्रकार हम फिर लौटकर विश्लेषणात्मकता की समस्या पर आ पहुँचे हैं।

मैं नहीं जानता कि "प्रत्येक हरी वस्तु विस्तार-युक्त है" विश्लेषणात्मक है या नहीं। न ही इस उदाहरण के विषय में मेरी अनिश्चय की अवस्था इस बात की द्योतक है कि मैं 'हरा' तथा 'विस्तार-युक्त' शब्दों के अर्थ को पूर्ण रूप से नही समझता। समस्या 'हरा' या 'विस्तार-युक्त' शब्दों के सम्बन्ध में नही है अपितु "विश्लेषणात्मक" के सम्बन्ध में है।

ऐसा अक्सर कहा जाता है कि आम बोल-चाल की भाषा में विश्लेषणात्मक वाक्यों को संश्लेषणात्मक वाक्यों से अलग करने की कठिनाई वास्तव में उस भाषा के अर्थों की अस्पष्टता के कारण है। एक ऐसी भाषा में, जो मनुष्य की स्वयं की रचना हो और जिसमे प्रत्येक शब्द का अर्थ स्पष्ट और विशिष्ट हो, और जिसमें शब्दों को उनके विषयों से सम्बन्धित करने वाले नियम साफ हों, इन दो प्रकार के वाक्यो मे भेद करने में कोई कठिनाई नही होगी। परन्तु यह, जैसा कि अब मैं दिखाने का प्रयास करूँगा, केवल भ्रम है।

जिस विश्लेषणात्मकता के बारे में हम यहां विचार कर रहे हैं वह एक ऐसा सम्बन्ध है जो भाषाओं और कथनों के बीच मे विद्यमान समझा जाता है। किसी वाक्य 'व' को किसी भाषा 'भ' में विश्लेषणात्मक कहा जाता है, और समस्या इस सम्बन्ध को सामान्य स्तर पर समझने की है, यानि किसी भी वाक्य 'व' और किसी भी भाषा 'भ' में। यह समस्या मनुष्य की बनाई हुई अप्राकृतिक भाषाओं के लिये उतनी ही कठिन प्रतीत होती है जितनी कि आम बोल-चाल की भाषाओं के लिये। इस वाक्य का अर्थ लगाना कि "'व' 'भ' मे विश्लेषणात्मक है," जहाँ 'व' और 'भ' चर है, उतना ही कठिन रहता है जितना 'भ' को अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषाओं तक भी सीमित रखने पर। इस बात को अब मैं और स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा।

अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषाओं और शब्दों को उनके विषयों से सम्बन्धित करने वाले नियमों की चर्चा करते समय हमारा ध्यान स्वभावतः कार्नप के लेखों और पुस्तकों की ओर जाता है। उसके भाषार्थ विषयक नियम कई प्रकार के है। अपना मत स्पष्ट करने के लिये मुझे उनमें से कुछ में भेद करना होगा। मान लें कि प्रारम्भ में हम अप्राकृतिक रूप से निर्मित एक भाषा 'भ०' को लेते है जिसके भाषार्थ-विषयक नियम स्पष्ट रूप से उन सब वाक्यों का जो उस भाषा 'भ०' में विश्लेषणात्मक है, अलग-अलग और पूर्ण रूप से आकलन करते है। ये नियम हमें स्पष्ट रूप से बताते हैं कि ये और केवल यही वाक्य भाषा 'भ०' के विश्लेषणात्मक वाक्य है। परन्तु इसमें समस्या यह है कि इन नियमों के निरूपण में 'विश्लेषणात्मक' शब्द को प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ अभी तक हम बिल्कुल नही समझते। यह तो हम समझते है कि नियम किन वाक्यों को विश्लेषणात्मक करार देते हैं, लेकिन यह हम बिल्कुल नहीं समझते कि नियम उन वाक्यों में क्या गुण आरोपित करते हैं। संक्षेप मे, इसके पहले कि हम किसी ऐसे नियम को समझें जो ऐसे शुरू होता है कि "कोई वाक्य 'व' किसी भाषा 'भ०' में विश्लेषणात्मक है, यदि और केवल यदि........." हमारे लिये सामान्य सम्बन्ध-वाचक पद 'विश्लेषणात्मक' को समझना जरूरी है। हमें यह वाक्य कि "व' किसी 'भ' के सम्बन्ध में विश्लेषणात्मक है" जहाँ 'व' और 'भ' चर है, समझना जरूरी है।

अथवा इसके विपरीत, यदि हम चाहें तो इस तथा-कथित नियम को एक नये सरल प्रतीक, 'भ०' के लिये विश्लेषणात्मक" की कड़ परिभाषा के रूप में देख सकते हैं। यह और भी अच्छा हो यदि हम इस प्रतीक को 'क' लिखें जिससे ऐसा आभास भी नहीं हो कि वह 'विश्लेषणात्मक' शब्द के अर्थ पर कोई प्रकाश डालता है। इससे कोई गलत फ़हमी होने की सम्भावना भी दूर हो जायगी। इस प्रकार, यह तो स्पष्ट ही है कि किसी भाषा 'भ०' के वाक्यों के विभिन्न समूह 'य', 'र', 'व' आदि किसी विशेष प्रयोजनों के लिये, या बिना किसी प्रयोजन के भी, किसी भी संख्या में निर्धारित किये जा सकते हैं। तब फिर यह कहने का क्या अर्थ है कि भाषा 'भ०' के 'य' वाक्य ही विश्लेषणात्मक हैं, और 'र' या 'व' नहीं हैं ?

यह कहने से कि कौन से वाक्य भाषा 'भ०' के लिये विश्लेषणात्मक हैं, हम 'भ०'-के-लिये-विश्लेषणात्मक" पद की व्याख्या करते हैं, न कि 'विश्लेषणात्मक' की या 'किसी-के-लिये-विश्लेषणात्मक होने' की। हम इस प्रकार के वाक्य को कि "व' 'भ' के लिये विश्लेषणात्मक है", जहाँ 'व' और 'भ' चर हैं, समझने की दिशा में बिल्कुल अग्रसर नहीं होते, यदि हम 'भ' को अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषाओं तक भी सीमित रखें।

वास्तव में, हम 'विश्लेषणात्मक' शब्द की अभिप्रेत सार्थकता के बारे में इतना तो जानते ही हैं कि विश्लेषणात्मक वाक्य सत्य समझे जाते हैं। इसलिये भाषार्थ-विषयक नियमों के हम एक दूसरे रूप की ओर ध्यान दे सकते हैं जो यह नहीं कहता कि ये अमुक कथन विश्लेषणात्मक हैं, अपितु केवल यह कि ये अमुक कथन सत्यों में शामिल हैं। नियम के इस रूप के प्रति यह आपत्ति तो लगायी नहीं जा सकती कि इसमें 'विश्लेषणात्मक' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ अभी तक हमको पता नहीं है, और हम तर्क के लिये यह मान भी लेते हैं कि 'सत्य' जैसे व्यापक शब्द में कोई कठिनाई नहीं है। भाषार्थ विषयक यह दूसरे प्रकार का नियम जो कि सत्य सम्बन्धी नियम है, भाषा के सारे सत्यों को निर्धारित करने वाला नहीं समझा जाता। वह केवल कुछ ऐसे कथनों को ही अपेक्षया प्रस्थापित (स्टिपुलेट) करता है जिनको, अन्य ऐसे वाक्यों के साथ, जिनका कोई स्पष्ट सङ्केत नहीं किया गया है, सत्य समझा जाना चाहिये। यह माना जा सकता है कि ऐसा नियम बिल्कुल स्पष्ट है। इसीसे, बाद में, विश्लेषणात्मकता को इस प्रकार सीमित किया जा सकता है : कोई वाक्य तभी विश्लेषणात्मक होता है जब कि वह न केवल सत्य होता है, बल्कि केवल शब्दों के भाषार्थपरक नियमों के अनुसार ही सत्य होता है।

पर, वास्तव में, यह भी कोई प्रगति नहीं है। अब 'विश्लेषणात्मक' जैसे शब्द का सहारा लेने के स्थान पर जिसका कि अर्थ हम नहीं समझते, हम 'भाषार्थपरक' नियम जैसे पद का सहारा ले रहे हैं, जिसका अर्थ भी हमारे लिये उतना ही दुरूह है। ऐसा प्रत्येक सत्य कथन, जो यह कहता है कि कुछ प्रकार के कथन सत्य हैं, भाषार्थपरक नियम नहीं हो सकते, अन्यथा सब सत्य कथन इस अर्थ में विश्लेषणात्मक हो जायेंगे कि वे भाषार्थपरक नियमों के अनुसार सत्य हैं। भाषार्थपरक नियमों को दूसरों से इसी प्रकार से पृथक् किया जा सकता है कि वे किसी पृष्ठ पर 'भाषार्थपरक नियम' शीर्षक के अन्तर्गत लिखे होते हैं। पर यदि ऐसा है, तो यह शीर्षक

स्वयं मे अर्थहीन है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि हम यह कह सकते हैं कि कोई भी कथन भ०--के--लिये--विश्लेषणात्मक है यदि और केवल यदि वह विशेषरूप से अनुबन्धित "भाषार्थपरक नियमों" के अनुसार सत्य है। परन्तु ऐसी अवस्था में हम अपने आपको वहीं उस समस्या पर फिर वापिस पाते है जिसके बारे में हम आरम्भ में सोच रहे थे । "व भ०--के--लिये--विश्लेषणात्मक है यदि और केवल यदि..........."। एक बार हम "व भ० के--लिये--विश्लेषणात्मक है" को सामान्य रूप से 'भ' को चर के रूप में लेते हुए ('भ' को अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषाओं तक सीमित रखते हुए भी) समझने का प्रयत्न करें, तो यह विवेचन कि उसका आशय 'भ' के विषय--सम्बन्धी नियमों के अनुसार सत्य होना है', निरर्थक है, क्योंकि सापेक्ष--पद "भाषार्थपरक नियम" स्वयं में उतना ही विवेचनापेक्षी है, जितना कि 'किसी--भाषा--के--लिये--विश्लेषणात्मक होना'।

भाषार्थपरक नियम की अवधारणा की तुलना अभ्युपगम की अवधारणा के साथ करना उपयोगी हो सकता है। अभ्युपगमों के एक प्रदत्त समूह की सापेक्षता में किसी विशिष्ट अभ्युपगम के बारे में यह बताना सरल है कि वह क्या है : वह उस समूह का एक सदस्य है।भाषार्थ विषयक किन्हीं प्रदत्त नियमों के समूह से सम्बन्धित किसी विशिष्ट भाषार्थ विषयक नियम के बारे में यह बताना कि वह क्या है, उतना ही आसान है । लेकिन यदि हमें प्रदत्त केवल एक लिपि मात्र है, वह गणित की हो या किसी और की, तो यह कौन बता सकता है कि उसके सत्य वाक्यों में कौन--कौन से अभ्युपगम है और कौन से नहीं? और यह स्थिति तब भी है जब कि हमारी लिपि, एक दूसरे मे अनुवाद की दृष्टि से या अपने वाक्यों के सत्य होने की शर्तों की दृष्टि से, पूर्ण रूप से समझी जा सकने वाली हो। वास्तव में, यह प्रश्न स्पष्टतः निरर्थक है-उतना ही निरर्थक जितना कि यह पूछना कि ओहायो नगर में कौन से बिन्दु वे बिन्दु है जहाँ से मनुष्य अपना चलना शुरू करते हैं। वाक्यों का (जो, शायद, सत्य हों तो ज्यादा ही अच्छा हो) कोई भी सीमित (या ऐसा असीमित जिसका विशिष्ट रूप से निर्देश सम्भव हो) चुना हुआ समूह उतना ही अभ्युपगमों का एक पुञ्ज हो सकता है, जितना कि अन्य कोई भी। 'अभ्युपगम' शब्द वास्तव में केवल किसी जाँच (परीक्षा) की अपेक्षा ने ही अर्थपूर्ण है। उस शब्द का प्रयोग किसी वाक्य--समूह के लिये हम तभी करते हैं, चाहे वह आज के लिये हो या वर्ष के लिये, जब हम उनका किन्हीं और वाक्यो के सम्बन्ध में सोचते है जो कि उन से संक्रमण प्रक्रियाओं (सैट ऑफ ट्रांस्फर्मेशेन्स्) के द्वारा पहुँचे जा सकते हैं और जिनकी तरफ ध्यान देना हमने किसी कारण-वश आवश्यक समझा है।

भाषार्थ विषयक नियम का विचार भी उतना ही सार्थक प्रतीत होता है जितना कि अभ्युपगमों का--यदि हम उसको भी उसी सापेक्ष दृष्टि से सोचें तो । सापेक्षता इस बार उन अनेकों प्रयत्नों के सम्बन्ध में होगी जो अनजान व्यक्तियों को किसी भी प्राकृतिक या अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषा 'भ' के वाक्यों की सत्यता के पर्याप्त कारणों की जानकारी कराने के लिये किये जाते है। परन्तु इस दृष्टिकोण से भाषा 'भ' का कोई भी विशिष्ट वाक्य--समूह

किसी अन्य वाक्य-समूह की अपेक्षा अपने आप में ख़ास तौर पर विषय--सम्बन्धी नियम नहीं कहा जा सकता । और यदि 'विश्लेषणात्मक' होने का मतलब 'विषय-सम्बन्धी नियम के अनुसार सत्य होना है तो भाषा 'भ' का कोई भी सत्य वाक्य इस रूप से विश्लेषणात्मक नहीं है कि उसका विश्लेषणात्मक होना अन्य वाक्यों की विश्लेषणात्मकता का निराकरण करता है।

इस पर शायद यह आक्षेप किया जा सकता है कि कोई अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषा 'भ', प्राकृतिक भाषा के विपरीत, साधारण अर्थ में भाषा होने के अलावा स्पष्ट रूप से निर्धारित भाषार्थ विषयक नियम भी रखती है । कहा जा सकता है कि यह समग्र एक व्यवस्थित युगल है; और यह कि भ के भाषार्थ विषयक नियम इस युगल के दूसरे घटक हैं । किन्तु इसी आधार पर और अधिक सरलता के साथ, हम एक अप्राकृतिक भाषा भ का पूर्णतः इस प्रकार के एक व्यवस्थित युगल के रूप में निर्माण कर सकते हैं जिसका कि दूसरा घटक उस भाषा के विश्लेषणात्मक वाक्य हों। और इस प्रकार भाषा 'भ' के विश्लेषणात्मक वाक्यों का निर्देश केवल यह कह कर किया जा सकता है, कि वे 'भ' के दूसरे घटक के वाक्य हैं । किन्तु इससे अच्छा यही है कि हम इस अर्थहीन और असम्भव चेष्टा को यहीं ख़त्म कर दें ।

विश्लेषणात्मकता की वे सब व्याख्याएँ जो कि कार्नप और उसके पाठकों को ज्ञात है, इस ऊपर के विवेचन में स्पष्ट रूप से सम्मिलित नहीं हैं । परन्तु यह आसानी से देखा जा सकता है कि इसका प्रस्तार उनके ऊपर किस प्रकार से सम्भव है। केवल एक अन्य ऐसी बात है जो कभी-कभी जरूरी होती है और जिसका बताना आवश्यक है। कई बार विषय-सम्बन्धी नियम वास्तव में साधारण भाषा में अनुवाद करने के नियम-मात्र होते हैं, और ऐसी अवस्था में अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषा के वाक्यों की विश्लेषणात्मकता वास्तव में उनके साधारण भाषा में अनूदित वाक्यों की विश्लेषणात्मकता से पहचानी जाती है । ऐसी दशा में तो यह विचार भी नहीं आ सकता कि विश्लेषणात्मकता की समस्या पर अप्राकृतिक रूप से निर्मित भाषाओं की ओर से कोई प्रकाश भी पड़ सकता है ।

विश्लेषणात्मकता की समस्या के दृष्टिकोण से, भाषार्थ विषय का नियमों-युक्त अप्राकृतिक भाषा का विचार केवल एक पागलपन है। किसी अप्राकृतिक भाषा के भाषार्थ विषयक नियमों से निर्धारित विश्लेषणात्मक वाक्य वहीं तक महत्व रखते हैं, जहाँ तक कि हम विश्लेषणात्मकता के विचार को पहले से ही समझे हुए होते हैं । स्वयं इस बोध को प्राप्त करने में ये सहायक नहीं होते।

अप्राकृतिक रूप से निर्मित सरल प्रकार की कल्पित भाषाओं के द्वारा विश्लेषणात्मकता को स्पष्टता प्रदान करने की चेष्टा शायद सहायक होती यदि उसके लिये आवश्यक मानसिक, व्यावहारिक या सांस्कृतिक पक्ष-चाहे वे कुछ भी हों-उस भाषा के कल्पित रूप में आवश्यक रूप से सन्निहित किये जाते। परन्तु जो कल्पित आदर्शरूप विश्लेषणात्मकता को स्वयं अविश्लेषणीय मानकर चलता है वह विश्लेषणात्मकता की समस्या पर मुश्किल से ही कोई प्रकाश डाल सकता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि सत्य सामान्यतया भाषा और भाषेतर तथ्य दोनों पर ही निर्भर

करता है। यह वाक्य कि 'ब्रूटस ने सीजर की हत्या की' असत्य होगा यदि विश्व कुछ विशिष्ट रूपों में जैसा रहा है उससे भिन्न होता। परन्तु यह भी सत्य है कि यदि 'हत्या' शब्द का वह अर्थ होता जो 'जन्म देने' का है, तब भी यह वाक्य असत्य होता। इस प्रकार यह सोचना स्वाभाविक ही होता है कि सामान्यतया किसी भी वाक्य की सत्यता दो भागों में विश्लेष्य है, एक भाषा-सम्बन्धी और दूसरी तथ्यात्मक। इस बात को मान लेने पर यह ठीक ही लगता है कि कुछ वाक्यों का तथ्यात्मक पक्ष बिल्कुल शून्य होता है, और यही विश्लेषणात्मक वाक्य होते है। परन्तु, चाहे यह कितना ही ठीक लगे, विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक वाक्यों के बीच की रेखा तो वास्तव में खीची ही नही गई है। कि वास्तव में ऐसा कोई भेद है, यह अनुभववादियों की अ-अनुभववादी धारणा है-एक अनुभवातीत श्रद्धा।

[५] प्रमाणीकरण-सिद्धान्त और अन्तर्भाववाद

ऊपर के विवेचन में हमने पहले तो अर्थ के बारे में, फिर ज्ञानात्मक समानार्थकता के बारे में, और अन्त मे विश्लेषणात्मकता के बारे में विचार किया और इन्हें बहुत निराशाजनक पाया। परन्तु यह पूछा जा सकता है, कि *अर्थ के प्रमाणीकरण-सिद्धान्त की क्या स्थिति है?* अनुभववाद की चर्चा से तो यह मत इतने दृढ रूप से संलग्न हो गया है कि हमारे लिये उसके नीचे छिपी कुञ्जी की खोज न करना, जो शायद अर्थ और उससे सम्बन्धित समस्याओं का समाधान कर सके, नितान्त अवैज्ञानिक होगा।

अर्थ का प्रमाणीकरण-सिद्धान्त, जो दार्शनिक साहित्य में पर्स से शुरू होकर आज तक प्रमुख बना हुआ है, यह प्रतिपादन करता है कि किसी वाक्य का अर्थ वास्तव मे वह विधि ही है जो अनुभव के आधार पर उसको सत्य या असत्य ठहराती है। इस दृष्टिकोण से विश्लेषणात्मक वाक्य वह वाक्य है जो हमेशा सत्य होता है, चाहे आनुभविक तथ्य कुछ भी हो।

जैसा कि हमने पहले ही परिच्छेद-[१] में कहा है, हम अर्थ को वस्तु-रूप में मानने के प्रश्न को छोड़ कर सीधे समानार्थकता की चर्चा को तरफ बढ़ सकते है। इस संदर्भ में अर्थ को सत्य या असत्य प्रमाणित करने की प्रक्रिया के रूप में देखने वाला सिद्धान्त यही प्रतिपादित करता है कि वाक्य समानार्थक तभी कहे जा सकते हैं जब, और केवल जब, उनको एक जैसी ही प्रक्रिया सत्य या असत्य ठहरा सकती है। *ज्ञानात्मक समानार्थकता का यह विवरण केवल कथनों से सम्बन्धित है, सब भाषा-रूपों से नहीं।*[१४] परन्तु परिच्छेद-[३] में दी गई विधि के

---

१४. यह सिद्धान्त वास्तव में कथनों के बजाय पदों को ऐकिक मान कर प्रतिपादित किया जा सकता। इस प्रकार से ल्यूईस एक पद का अर्थ "मन में एक कसौटी" को कहता है, 'जिसके प्रतिमान पर हम किसी अभिव्यक्ति को प्रस्तुत अथवा कल्पित वस्तुओं अथवा वस्तुस्थितियों पर लागू करते हैं अथवा लागू करने से इन्कार करते हैं।" (द्रष्टव्य : एन एनेलेसिस आफ नॉलेज एंड इवेल्यूएशन, पृ० १३३) अर्थ के प्रमाणीकरण-सिद्धान्त में हुए परिवर्तनों के उत्कृष्ट विवरण के लिये, जिसका आधार अर्थपूर्णता है समानार्थकता और विश्लेषणात्मकता

अनुसार हम कथनों की समानार्थकता से अन्य भाषा–गत रूपों की समानार्थकता की अवधारणा भी निकाल सकते हैं। 'शब्द' के विचार को पूर्व–मान्यता प्रदान करते हुए, हम किन्ही भी दो रूपों को समानार्थक समझ सकते हैं यदि जहाँ कहीं भी एक का व्यवहार होता है, वहाँ दूसरे का व्यवहार करने पर (केवल "शब्दों" के अन्दर प्रयोग को छोड़ कर) एक समानार्थक वाक्य की सृष्टि होती है। और अन्त में, इस प्रकार सब भाषा–गत रूपों की समानार्थकता पाने के बाद, विश्लेषणात्मकता को 'समानार्थकता' और 'तार्किक सत्य' के विचार के द्वारा, जैसा कि परि-च्छेद–[१] में किया था, परिभाषित किया जा सकता है। यदि हम चाहे तो विश्लेषणात्मकता को सीधे वाक्यों की समानार्थकता और तार्किक सत्य के संयुक्त रूप में परिभाषित कर सकते हैं। वाक्यों के अतिरिक्त किसी और भाषा–गत रूप के सम्बन्ध में सोचने की कोई आवश्यकता नहीं है। किसी भी वाक्य को विश्लेषणात्मक कहा जा सकता है यदि वह किसी ऐसे वाक्य से समानार्थक हों जो तार्किक रूप से सत्य है।

इस प्रकार, यदि प्रमाणीकरण–सिद्धान्त को वाक्यों की समानार्थकता के लिये पर्याप्त मान लिया जाय तो विश्लेषणात्मकता के प्रत्यय को भी आखिरकार ठीक ठहराया जा सकता है। परन्तु ऐसा मानने से पहले, कुछ सोच–विचार आवश्यक है। कहा जाता है कि कथनों की समानार्थकता उनके प्रमाणीकरण अथवा असत्यापन की विधि की अनुरूपता ही है, और कुछ नही। पर ये कौनसी विधियाँ है जिनकी समानता के प्रयोजन से तुलना की जाती है? दूसरे शब्दों में, किसी वाक्य में और उन अनुभवों में, जो उसको सत्य या असत्य प्रमाणित करने में कुछ योग–दान देते है, क्या सम्बन्ध है?

इस सम्बन्ध में सबसे अपरिष्कृत मत तो यह है कि यह सम्बन्ध अव्यवहित निरूपण मूलक है। यह आत्यन्तिक अन्तर्भाववाद रेडिकल रिडक्शनिज्म) है। इसका आशय यह है कि प्रत्येक अर्थपूर्ण वाक्य किसी ऐसे वाक्य में अनूदित हो सकता है जो अव्यवहित–अनुभव के बारे में हो, चाहे वह सत्य हो या असत्य। इस प्रकार का सिद्धान्त, किसी न किसी रूप में अर्थों के प्रमाणीकरण–सिद्धान्त से बहुत पहले का है। लॉक और ह्यूम ने इस प्रकार बहुत पहले यह माना था कि प्रत्येक विचार या तो सीधे ऐन्द्रिय अनुभव में जन्म लेता है या जो विचार ऐसे जन्म लेते हैं उनसे मिलकर बना होता है। टुक से संकेत लेते हुए, हम इस सिद्धान्त को भाषार्थ विज्ञान की पदावली में इस प्रकार कह सकते है, कि कोई भी पद अर्थपूर्ण होने के लिये या तो किसी संवेद–प्रदत्त का नाम होना चाहिए या ऐसे नामों का एक समूह होना चाहिए, या किसी ऐसे समूह का ही संक्षिप्त नामकरण। परन्तु यदि इस सिद्धान्त का इस प्रकार से वर्णन करें तो यह निश्चित नहीं होता कि संवेद–प्रदत्त संवेद-घटनाएँ या सवेद-गुण; और न ही यह कि समूह-रचना की कौन सी विधियाँ ठीक हैं और कौन सी ग़लत। इसके अलावा, यह सिद्धान्त अनावश्यक

नहीं; द्रष्टव्य: हैम्पल का लेख प्रॉब्लम्स् एंड चेंजिस् इन दि एम्पीरीसिस्ट क्राइ-टीरियन ऑफ मीनिंग, लियोनार्ड लिस्की द्वारा सम्पादित–समेंटिक्स एंड दि फिलासफी आफ लेंग्वेज में।

रूप से हमें प्रत्येक पद की विशिष्ट खोज करने के लिये बाध्य करता है कि वह वास्तव में किन्हीं संवेदनात्मक विषयों का नाम है या नहीं। जिस मत को मैंने आत्यन्तिक अन्तर्भाववाद की संज्ञा दी है, उसकी सीमा में रहते हुए भी हम अधिक ठीक तौर पर, (पदों के स्थान पर) पूरे वाक्यों को अर्थपूर्ण ऐकिक मान कर चल सकते है। इस तरह हमारी मांग यह होगी कि वाक्य अपनी पुर्णता में संवेद्य-विषय की भाषा में परिभाषित होना चाहिए, न कि यह कि उसका प्रत्येक पद इस प्रकार परिभाषित हो सकना चाहिए।

सिद्धान्त में इस प्रकार का परिवर्तन लॉक, ह्यूम, और टुक को निस्सन्देह ही पसन्द होता, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से वह अर्थ के भावार्थ-विज्ञान के एक नयी दिशा में मुड़ने पर आश्रित था। और यह मोड़ उस दृष्टि में था जो अर्थ का प्रधान वाहक पद को नहीं मान कर वाक्य को मानती थी। दिशा-परिवर्तन की यह दृष्टि-फ्रेगे[१५] में बिल्कुल स्पष्ट है और रसल के अपूर्ण-प्रतीकों वाले सिद्धान्त का, जो प्रतीक कि प्रयोग में[१६] परिभाषित होते हैं, आधार है। अर्थों के प्रमाणीकरण-सिद्धान्त में भी यह निहित है, क्योंकि सत्य या असत्य होने के विषय वाक्य हैं, न कि पद।

वाक्यों को ऐकिक मान कर, अब आत्यन्तिक अन्तर्भाववाद के सिद्धान्त ने अपना काम यह समझा कि एक सवेद-विषयक भाषा का निर्माण करे और यह दिखाये कि बाकी सब जो अर्थपूर्ण है, उसका प्रत्येक वाक्य इसके (नई भाषा के) वाक्यों में परिभाषित किया जा सकता है। कार्नप ने अपनी पुस्तक Augbau में इसी कार्य को पूरा करने की तरफ कदम बढ़ाया है।

जिस भाषा से कार्नप ने अपना कार्य शुरू किया वह संकीर्णतम अर्थ में संवेद-विषयक भाषा नही थी, क्योंकि उसमें उन्नततर सैट सिद्धान्त के तार्किक लिपि चिन्हों का समावेश है। वास्तव में, शुद्ध गणित की सारी भाषा ही उसमें शामिल कर ली गई है। सत्ता-सम्बन्धी उसकी निहित मान्यताएँ (यानि, उसके चरों के मूल्यों की सीमा) केवल संवेद्य घटनाओं तक ही सीमित न होकर वर्ग और वर्गों के वर्ग आदि का भी समावेश करती थी। ऐसे अनुभववादी बहुत है, जो ऐसी बहुलता को मान्यता देने से घबरायेंगे। फिर भी जहाँ तक उसकी भाषा के अतार्किक, यानि संवेदनात्मक--पक्ष का प्रश्न है, कार्नप कम से कम को मानकर चला है। आधुनिक तर्क--शास्त्र की सम्भावनाओं का पूरा इस्तेमाल कर, कार्नप ने सफलतापूर्वक कई ऐसे अनुभवात्मक प्रत्ययों की परिभाषा कर डाली है जिनका कोई स्वप्न में भी विश्वास नही कर सकता था कि इतने संकीर्ण-आधार पर वे कभी की जा सकती हैं। उसको हम पहला अनुभववादी मान सकते हैं जिसने केवल यह कह कर ही सन्तोष नहीं कर लिया कि समस्त विज्ञान सद्यः सवेदन मूलक अनुभव में पूर्ण रूप से वर्णनीय है, बल्कि जिसने ऐसा करने की दिशा में कुछ महत्वपूर्ण कदम भी उठाये।

---

१५. गोट्लब फ्रेगे-फांउडेशंस् आफ रिथमेटिक, परिच्छेद ६०।

१६. द्रष्टव्य : विलर्ड वान ऑर्मान क्वाईन-फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइंट आफ व्यू, पृ० ६।

यदि यह मान भी लें कि कार्नप का प्रस्थान--बिन्दु सन्तोषपूर्ण है, तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा, जैसा कि वह स्वय मानता है, कि उसका कार्य पूरे कार्यक्रम का बहुत थोड़ा सा अंश--मात्र है। भौतिक जगत् के बारे में सरल से सरल कथनों की रचना भी अधूरी अवस्था में ही छोड़ दी गयी है। यह ठीक है कि अधूरे होने के बावजूद भी कार्नप ने जो इस दिशा में सुझाव दिये है वे बहुत विचारोत्तेजक हैं। उसने देश–कालिक बिन्दु–क्षणों को वास्तविक अङ्कों के चतुष्कों के रूप में रचना की और यह माना कि बिन्दु--क्षण सवेद्य गुणों से निश्चित नियमों के अनुसार सम्बद्ध होते है। संक्षेप में, उसकी योजना यह थी कि सवेद्य गुण बिन्दु–क्षणों से इस प्रकार सम्बन्धित किये जायँ कि हमारे अनुभूत जगत् से संगत अधिक से अधिक निष्क्रिय जगत् की रचना की जा सके। अनुभव से जगत् की रचना में, कम से कम कार्य का नियम ही हमारा मार्गदर्शक होगा।

परन्तु कार्नप ने यह नहीं देखा कि भौतिक विषयों के सम्बन्ध में उसकी परियोजना अधूरी ही नहीं थी बल्कि कभी सिद्धान्ततः भी पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकती थी। उसके नियमों के अनुसार, किसी भी इस प्रकार के वाक्य को, कि "कोई गुण 'क' किसी बिन्दु क्षण य, र, ल, स पर है" सत्य या असत्य इस प्रकार ठहराना चाहिये कि कुछ व्यापक--विशेषताओं को अधिकतम या अल्पतम किया जा सके और अनुभव की वृद्धि के साथ इसी दृष्टि से उनके सत्यता–मूल्य में क्रमशः संशोधन किया जा सके। जहाँ तक मैं समझता हूँ, यह वैज्ञानिक कार्य का सही (यद्यपि अत्यधिक सरलीकृत) विवरण है। परन्तु यह इसका रत्ती मात्र भी सङ्केत नहीं करता कि इस प्रकार के वाक्य को कि "कोई गुण 'क' किसी बिन्दु--क्षण य, र, ल, स, पर है", कार्नप की मूल भाषा में, जिसमें केवल तार्किक चिह्न और संवेद्य--विषय सूचक शब्द ही हैं, कभी भी अनूदित किया जा सकता है। संयोजक पद 'पर है' एक और अपरिभाषित पद रहता है। नियम हमको, उसका किस प्रकार व्यवहार किया जाय, वह अवश्य बताते हैं, परन्तु यह नहीं कि उसको भाषा से किस प्रकार निकाल दिया जाय, भाषा के मूल--भूत अङ्गों में परिभाषित करके।

कार्नप ने इस बात को बाद में अवश्य महत्व दिया प्रतीत होता है, क्योंकि इसके पश्चात् लिखी अपनी अन्य रचनाओं में उसने यह विचार ही बिल्कुल त्याग दिया कि भौतिक विश्व के बारे में जितने भी वाक्य हों वे सब अव्यवहित अनुभव का वर्णन करने वाले वाक्यों में अनूदित हो सकने चाहियें। कार्नप के दर्शन में बहुत दिनों से आत्यन्तिक अन्तर्भाववाद की चर्चा लुप्त हो गई है।

परन्तु, अन्तर्भाववाद के प्रति अन्ध--विश्वास एक और सूक्ष्म रूप में अनुभववादियों के विचार को प्रभावित करता रहा है। यह विचार तो सबके दिमाग में कुछ न कुछ रहता ही है कि प्रत्येक वाक्य, या यों कहे कि प्रत्येक संश्लेषणात्मक वाक्य सम्बद्ध कुछ ऐसी विशिष्ट सम्भावित संवेद्य घटनाएँ है जिनका घटित होना उस वाक्य के सत्य होने की सम्भावना को बढ़ाता है और इसी प्रकार कुछ अन्य विशिष्ट सम्भावित संवेद्य घटनाएँ हैं जिनका वास्तव में, यह विचार तो अर्थ के प्रमाणीकरण सिद्धान्त में अन्तर्निहित ही है।

अन्तर्भाववाद के प्रति अन्धविश्वास इस धारणा के द्वारा अतिजीवित है कि प्रत्येक वाक्य, अपने अन्य सहयोगी वाक्यों से बिल्कुल अलग होकर, सत्य या असत्य ठहराया जा सकता है। इसके विपरीत मेरा अपना विचार, जो कि कार्नप की 'आफबाऊ' पुस्तक में प्रतिपादित भौतिक-जगत् विषयक प्रतिपादन का ही विकास है, यह है कि हमारे वाह्य-जगत् के विषय में वाक्य अलग–अलग स्वतंत्र रूप मे नही वलिक अपनी सम्पूर्ण समग्रता में ऐन्द्रिय अनुभव की कसौटी पर कसे जाते हैं।

अन्तर्भाववाद की अन्ध–मान्यता, अपने हल्के रूप में भी, दूसरी अन्य मान्यता से विशिष्ट रूप से सम्बन्धित है। यह अन्य मान्यता यह है कि विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक के बीच एक गहरा भेद है। हमने अपने को दूसरी मान्यता के सम्बन्ध में विचार करते-करते पहली के सम्बन्ध मे भी विचार करते पाया है। यह अर्थ के सत्यापन या प्रमाणीकरण–सिद्धान्त के द्वारा हुआ है। अधिक स्पष्ट रूप में यह दिखाया जा सकता है कि, एक मान्यता दूसरी को इस प्रकार सहारा देती है कि यदि हम यह मान लें कि सामान्य रूप से प्रत्येक वाक्य का अपने में सत्य या असत्य ठहराया जाना अर्थपूर्ण है, तो यह भी अर्थपूर्ण लगता है कि कोई ऐसे प्रकार का वाक्य भी हो सकता है जो अपने आप मे शून्यतया सत्य या असत्य होता है, वस्तु-स्थिति चाहे कुछ भी हो और इस प्रकार का वाक्य विश्लेषणात्मक होता है।

वास्तव में, दोनों मान्यताएँ अपने मूल में एक ही हैं। कुछ देर पहले हमने यह विचार प्रकट किया था कि सामान्यतया वाक्यों की सत्यता स्पष्टत: भाषा और भाषेतर तथ्यों दोनों पर ही निर्भर करती है। और हमने यह भी देखा कि यह बात, तार्किक रूप से चाहे नही भी हो परन्तु स्वाभाविक रूप से अवश्य यह महसूस कराने लगती है कि किसी भी वाक्य की सत्यता का दो भागों में विश्लेषण किया जा सकता है, एक जो भाषा से सम्बन्धित है और दूसरी जो तथ्य से सम्बन्धित है। यदि हम अनुभववादी है, तो तथ्यात्मक अंश अन्त मे कुछ उन्हीं अनुभवों में निहित होगा जो उसको सत्य या असत्य ठहराने में सहायक सिद्ध होते है। और जहाँ भाषायी घटक ही सब कुछ है, वहाँ सत्य वाक्य विश्लेषणात्मक होता है। परन्तु मै आशा करता हूँ कि हमको अब तक यह तो पूरी तरह पता चल गया होगा कि विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक के बीच में सीधा भेद करना कितना मुश्किल है। मैं इस बात से भी प्रभावित हूँ कि कुछ पूर्वरचित उदाहरणों को छोड़ कर, जैसे कि किसी घड़े में सफेद और काली गेंदे, संश्लेषणात्मक वाक्यों के अनुभवात्मक सत्यापन के किसी भी स्पष्ट सिद्धान्त पर पहुँचना सदैव कितना कठिन रहा है। मेरा अपना वर्तमान सुझाव यह है कि किसी अकेले वाक्य की सत्यता के बारे में यह कहना कि उसका एक भाषा-पक्ष है और दूसरा तथ्य–पक्ष, नितान्त अर्थहीन है। और यह बुनियादी गलती ही अन्य बहुत कुछ अर्थ-शून्य चर्चा की जड़ है। सामूहिक रूप में लेते हुए विज्ञान भाषा और अनुभव दोनो पर ही दुहरा आश्रित है, परन्तु विज्ञान के एक-एक वाक्य में इस दुहरे पक्ष को खोजा नहीं जा सकता।

जैसा कि हम पहले कह चुके है, यह विचार कि किसी प्रतीक की परिभाषा उसके वास्तविक व्यवहार द्वारा की जानी चाहिये, लॉक और ह्यूम के अनुभववाद से, जो प्रत्येक पद

की असम्भव रूप से अनुभवात्मक व्याख्या माँगता था, निस्संदेह श्रेष्ठतर है। फ्रेगे के समय से यह बात सामान्यतया मान ली जाने लगी है कि अनुभववादी कसौटी पर वाक्य को परखा जाना चाहिये, न कि अकेले पद को। परन्तु जो बात मैं अब कह रहा हूँ, वह यह है कि अकेले वाक्य को भी यह मान्यता प्रदान करना गलत है। आनुभविक सार्थकता तो वास्तव में सम्पूर्ण विज्ञान-तन्त्र पर ही की जा सकती है।

[६] अन्धविश्वासों से रहित अनुभववाद

हमारे तथा-कथित ज्ञान या विश्वास का सम्पूर्ण पसारा, चाहे वह भूगोल या इतिहास की मामूली सी घटनाएँ हों या आणविक भौतिकी अथवा शुद्ध गणित या तर्क-शास्त्र के गहनतम सिद्धान्त, मनुष्य का बनाया हुआ एक तन्त्र है जो अनुभव को केवल अपने किनारों पर छूता है। दूसरे प्रकार से कहें, तो, सम्पूर्ण विज्ञान एक शक्ति के क्षेत्र के समान है जिसकी सीमान्त परिस्थितियाँ अनुभवात्मक हैं। यदि परिधि पर कहीं अनुभव से असामञ्जस्य पैदा होता है, तो क्षेत्र के सारे भीतरी भाग में पुनर्व्यवस्थापन करने पड़ते हैं। कुछ वाक्यों के सत्यता मूल्य में हेर-फेर करने होते हैं, और यदि कुछ वाक्यों के सत्य-असत्य मूल्य में परिवर्तन होता है, तो कुछ अन्य, जो उनसे तार्किक दृष्टि से विशिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं, उनमें भी परिवर्तन करना पड़ता है। परन्तु ये तार्किक नियम भी अपने आप में उसी तन्त्र के अङ्ग हैं, उसी क्षेत्र में व्याप्त हैं, उससे कुछ अलग नहीं। किसी भी एक वाक्य के पुनर्मूल्याङ्कन के बाद हमारे लिये कुछ अन्य वाक्यों का पुनर्मूल्याङ्कन भी आवश्यक हो जाता है। ये वाक्य या तो ऐसे होते हैं जो पहले वाक्य से तार्किक रूप से सम्बन्धित हों या फिर ऐसे होते हैं जो स्वयं तार्किक-सम्बन्धों-विषयक ही हों। परन्तु सारा क्षेत्र अपनी परिधि अनुभव से इस प्रकार से अनिश्चिततया निर्धारित होता है कि हमेशा इस बात की काफ़ी हद तक स्वतन्त्रता होती है कि हम किसी एक विपरीत या अप्रत्याशित अनुभव होने पर अपने किन्हीं भी वाक्यों का पुनर्मूल्याङ्कन कर सकते हैं। कोई भी विशिष्ट अनुभव क्षेत्र के अन्दर के किसी भी विशिष्ट वाक्य से सीधे रूप से सम्बन्धित नहीं है। उसका सम्बन्ध तो केवल उस सन्तुलन से है जो कि सारे क्षेत्र में उसकी समग्रता में निहित है।

यदि यह बात ठीक है, तो किसी एक वाक्य की अनुभवात्मक अन्तर्वस्तु की बात करना हमको गलत दिशा में ले जाना है, विशेषकर यदि वह वाक्य क्षेत्र की आनुभविक परिधि से जरा भी दूर हो। इससे भी अधिक, संश्लेषणात्मक वाक्यों, जिनकी सत्यता अनुभव-सापेक्ष होती है, और विश्लेषणात्मक वाक्यों, जो चाहे कुछ भी हो हमेशा सत्य रहते हैं, के बीच सीमा-रेखा खोजना एक मूर्खतापूर्ण प्रयास ही रह जाता है। किसी भी वाक्य को हम प्रत्येक अवस्था में सत्य बनाये रख सकते हैं यदि हम क्षेत्र या संस्थान के अन्य भागों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने के लिये तैयार हों। अनुभव के विपरीत होते हुये भी ज्ञान के क्षेत्र की परिधि के बहुत पास के वाक्य को भी सत्य मानकर रखा जा सकता है, यदि हम ऐसे वाक्यों में, जो तार्किक नियम कहलाते हैं, परिवर्तन करने के लिये तैयार हों या कहने के लिये कि जो अनुभूत होता है, वह-माया जाल है या भ्रम है। इसके विपरीत इसी आधार पर, यह भी कहा जा सकता

है कि कोई भी वाक्य ऐसा नहीं है जिसके सत्य–असत्य–मूल्य में परिवर्तन न किया जा सके। आणविक जगत् के क्वाण्टम सिद्धान्तों के सरलीकरण के लिये तृतीय–प्रकार–अभाव (लॉ आफ एक्सक्लूडेड मिडल) जैसे आधार–भूत तार्किक सिद्धान्त तक में सशोधन का प्रस्ताव किया गया है। और यदि ऐसा किया जाय तो सिद्धान्त रूप में इस परिवर्तन में और उनमे जो केपलर ने टोलैमी--सिद्धान्त में किये थे या आईन्स्टाईन ने न्यूटन के सिद्धान्त में, या डार्विन ने अरस्तू के सिद्धान्त में, क्या अन्तर है ?

बात को स्पष्ट रूप से समझाने के लिये ही मैंने सांवेदनिक परिधि से विविध फासलों की चर्चा की है। अब मैं इसी बात को बिना किसी उपमा का सहारा लिये समझाने का प्रयत्न करूँगा। कुछ वाक्य, जोकि यद्यपि संवेदों के सम्बन्ध में नहीं होकर भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में होते हैं, फिर भी वे, कुछ विशेष प्रकार से सवेदो से, और उसके भी किसी विशिष्ट प्रकार से, सम्बन्ध रखते हैं, कुछ वाक्य कुछ अनुभवों से और अन्य वाक्य, अन्य अनुभवों से। ऐसे वाक्य, जो किन्ही विशिष्ट अनुभवों से सम्बन्धित दीख पड़ते हैं, उनकी मैं इस प्रकार कल्पना करता हूँ कि वे परिधि के पास हैं। परन्तु इस "सम्बन्ध" से मेरा और कोई मतलब नहीं है सिवाय इसके कि यह अनिश्चित रूप में हमारे इस निर्णय को प्रतिबिम्बित करता है कि ऐसा अनुभव होने पर, जो हमें हमारे ज्ञान का विरोधी भी प्रतीत होता है और जिसे हम किसी प्रकार हटा भी नहीं सकते, इसकी सम्भावना अधिक है कि हम एक प्रकार के वाक्यो में परिवर्तन करेंगे, न कि दूसरे प्रकार के वाक्यों में। उदाहरण के लिये, हम ऐसे प्रतिकूल अनुभवों की कल्पना कर सकते है जिनको अपने ज्ञान–तन्त्र में व्यवस्थित रूप से लाने के लिये हम अपने इन वाक्यों के सत्य–मूल्य में परिवर्तन करने के लिये तैयार हो जायँ कि *एल्म सड़क पर ईंटों के मकान है*, और इसके साथ ही इससे सम्बन्धित इसी विषय पर अन्य वाक्यों में भी। हम ऐसे अन्य अनुभवों की भी कल्पना कर सकते हैं जिनके लिये हम अपने ज्ञान–सस्थान में ऐसे वाक्यों की, कि 'आधे घोड़े और आधे मनुष्य के शरीर का कोई भी व्यक्ति नहीं है' के सत्य-मूल्य में परिवर्तन करने के लिये तैयार हो सकते है। ऐसा अनुभव, जिसको कि आसानी से ज्ञान--तन्त्र में सम्मिलित नहीं किया जा सकता, ज्ञान--संस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के सत्य-असत्य मूल्यों में कई अलग-अलग प्रकार के परिवर्तन करके व्यवस्थित रूप से सम्मिलित किया जा सकता है; ऐसा मैंने कहा है। परन्तु जिन उदाहरणों की अब हम कल्पना कर रहे है उनमे हमारी स्वाभाविक प्रवृत्ति यही होती है कि पूरे ज्ञान--संस्थान में कम से कम परिवर्तन किया जाय और इसी कारण से हम अपना परिवर्तन उन्ही वाक्यों तक सीमित रखते है जो 'ईंटों के मकान' या ऐसे व्यक्तियों के बारे में है 'जिनका आधा शरीर घोड़े का है और आधा आदमी का'। इसलिये, ऐसा महसूस किया जाता है कि ऐसे वाक्यों का अनुभव से अधिक गहरा और सीधा सम्बन्ध है बनिस्बत भौतिक-शास्त्र, तर्क–शास्त्र या तत्त्व--शास्त्र के उन वाक्यों के जो अत्यन्त सैद्धान्तिक है। इन दूसरी प्रकार के वाक्यों के विषय में इस प्रकार सोचा जा सकता है कि वे ज्ञान--संस्थान में केन्द्र के अपेक्षाकृत अधिक पास स्थित हैं, जिसका आशय सिर्फ यह है कि उनका किन्ही विशिष्ट संवेदनात्मक तथ्यों से कोई विशेष सम्बन्ध हमारी दृष्टि

के सम्मुख नहीं आता।

अनुभववादी होने के नाते, मैं विज्ञान के समस्त प्रत्ययात्मक-संस्थान को अन्ततोगत्वा केवल एक ऐसी सहायक प्रक्रिया मानता हूँ जिसके द्वारा भूत काल के अनुभव के आधार पर भविष्य के अनुभव के विषय में कुछ कहा जा सके। भौतिक पदार्थों को तो बीच में प्रत्ययात्मक ढंग से इसमें शामिल करना, केवल सुविधा की बात है। इस संदर्भ में, हम भौतिक पदार्थों को उस अर्थ में नहीं ले रहे हैं जिसमें कि वे हमारे अनुभव में पूर्ण रूप से परिभाषेय हैं, अपितु उस अर्थ में जिसमें कि वे अनन्तर्भाव्य-आक्षिप्त हैं[१८]---ऐसी सत्ता जिसको कि, किसी और में रूपान्तरित ही नहीं किया जा सकता और जिसको ज्ञानात्मक दृष्टि से हम होमर के देवताओं के अनुरूप ही मान सकते हैं। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, एक साधारण भौतिक वैज्ञानिक के नाते मैं भौतिक पदार्थों की सत्ता में विश्वास करता हूँ और होमर के देवताओं में बिल्कुल नहीं। इसके अतिरिक्त, मेरा यह भी विश्वास है कि इसके विपरीत मानना वैज्ञानिक दृष्टि से ग़लत है। परन्तु ज्ञानात्मक दृष्टिकोण से भौनिक पदार्थों में और होमर के देवताओं में कोई मूल-भूत भेद नही है। भेद है तो केवल थोड़े बहुत का है। दोनों प्रकार की वस्तुएँ वास्तव में हमारे प्रत्ययात्मक विचार को संस्थान संस्कृति से ही मिलती हैं। भौतिक पदार्थो की परिकल्पना अन्य परिकल्पनाओं से ज्ञानात्मक रूप में केवल इसलिये श्रेष्ठ हैं कि इसके द्वारा अनुभव के सतत् प्रवाह को हम कुछ अधिक अच्छी तरह से विचार-तन्त्र में बांध सकते हैं।

सत्ता का आक्षेप दृश्य भौतिक वस्तुओं तक ही सीमित नहीं रहता। आणविक स्तर पर भी हम पदार्थों का सत्तात्मक रूप में आक्षेप इसलिये करते हैं कि वृहत्तर दृश्य-जगत् के पदार्थ-सम्बन्धी नियमों को और अन्ततः अनुभव के ही नियमों को सरल किया जा सके और इस प्रकार उनको विचार में अधिक आसानी से पकड़ा जा सके और जिस प्रकार हम वृहत्तर इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थों की शुद्ध संवेदनाओं के रूप में पूर्ण परिभाषा न तो स्वीकार ही करते है, न उसके विषय में आग्रह ही करते हैं, उसी प्रकार परमाणु या अणु के स्तर पर अध्यारोपित वस्तुओं की वृहत्तर जगत् के पदार्थों से सम्बन्धित पूर्ण परिभाषा की न तो आशा ही करनी चाहिये और न उस पर आग्रह ही। विज्ञान रोजमर्रा के ज्ञान का ही एक विस्तार मात्र है और उसके इस तरीके को कि सिद्धान्त को सरल बनाने के लिये सत्ताओं में आवश्यक परिवर्द्धन किया जाय, उसने अपनाया भी है।

और फिर, छोटे या बड़े भौतिक विषय भी एक मात्र आक्षिप्त नहीं हैं। 'शक्तियाँ', एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करती है और आजकल तो हम को यही बताया जाता है कि भौतिक द्रव्य और शक्ति के बीच की रेखा मिट चुकी है। इसके अलावा, वह सूक्ष्म परिकल्पित वस्तुएँ, जो गणित की प्रधान विषय हैं--जैसे वर्ग और वर्गों के वर्ग इत्यादि--इसी आक्षेप के एक अन्य उदाहरण हैं। ज्ञान की दृष्टि से यहाँ उसी प्रकार की परिकल्पना हैं जैसे कि भौतिक पदार्थ

---

१८. द्रष्टव्य : फ्रॉम ए लॉजीकल प्वाइंट आफ व्यू में पृ० १७।

या पौराणिक देवता । दोनों में से हम किसी को एक-दूसरे से अधिक अच्छा या बुरा नहीं मान सकते सिवाय इस संदर्भ के कि उनमें से कौन हमें अपने सवेदनात्मक अनुभवों के साथ व्यवहार करने में कम या अधिक सफलता प्रदान करता है।

रेशनल और इर्रेशनल संख्याओं का बीज गणित, रेशनल संख्याओं के बीजगणित के द्वारा अधोनिर्धारित है। परन्तु यह सरल और अधिक सुविधाजनक है और रेशनल संख्याओं का बीजगणित उसका स्वयं का एक इधर-उधर बिखरा अंतरङ्ग अंश है।[१९] इसी प्रकार सम्पूर्ण विज्ञान, चाहे वह गणित हो या भौतिकी, या मनुष्य सम्बन्धी, यह अनुभव के द्वारा बहुत अधिक अधोनिर्धारित रहता है। सम्पूर्ण ज्ञान-संस्थान के किनारों को तो हमें अनुभव के साथ मिला कर रखना पड़ता है, परन्तु बाकी जो सब है उसका अपनी जटिल से जटिलतम परिकल्पनाओं में भी लक्ष्य केवल यही है कि नियमों को किस प्रकार से सरल से सरल बनाया जा सके।

इस दृष्टिकोण में, सत्ता-शास्त्र के प्रश्न भौतिक-विज्ञान के प्रश्नों के समान स्तर के है।[२०] उदाहरण के लिये, यह प्रश्न लीजिये कि क्या हम वर्गो की अपनी वास्तव में सत्ता मान सकते है ? यह, जैसा कि मैंने अन्य स्थानों पर भी कहा है, वास्तव में यह प्रश्न है कि क्या हम उन चरों का परिमाणीकरण करने को तैयार है जिनके मूल्य वर्ग हो सकते हैं ? अब कार्नप ने यह मत प्रतिपादित किया है कि यह प्रश्न वास्तव में किसी वस्तु-स्थिति के विषय में नही है, बल्कि इसका सम्बन्ध इससे है कि विज्ञान के लिये कौन सी भाषा या कौन सा प्रत्ययात्मक सस्थान सुविधा-जनक है और इस आधार पर हम किसको चुनें। इससे मैं सहमत हूँ, परन्तु इस शर्त पर कि और सब वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं को भी इसी रूप में समझा जाए। यह बात कार्नप ने स्वीकार की है[२१] कि वे तत्त्व-मीमांसा सम्बन्धी प्रश्नों और वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं में इस प्रकार का दोहरा मापदण्ड केवल विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक में पूर्णरूपेण भेद मान कर ही कर सकते है और मुझे फिर यह कहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये कि मैं इस भेद को बिल्कुल अस्वीकार करता हूं।[२२]

ऐसा लगता है कि वर्गो की सत्ता का प्रश्न एक प्रत्ययात्मक सस्थान की सुविधा के सम्बन्ध में अधिक है और किसी विशिष्ट या वास्तविक वस्तु-स्थिति के बारे में कम। इसी प्रकार जहाँ तक एल्म गली में ईंटों के मकान का प्रश्न है, या ऐसे व्यक्तियों की सत्ता का प्रश्न है जिनका मुँह और धड़ आदमी का हो और बाकी घोड़े का, यह वास्तविक वस्तु-स्थिति से सम्बन्धित अधिक प्रतीत होते हैं और प्रत्ययात्मक सस्थान से कम। परन्तु मै यही कहने की

---

१९. द्रष्टव्य : फ्रॉम ए लॉजिकल प्वाइंट आफ व्यू में पृ० १८।
२०. एमिले मेयर्सन-आइडेन्टिटे एट रियालिटे (पेरिस, १९०८, चतुर्थ संस्करण १९३२)
२१. एम्पीरिसिज्म, सेमेंटिक्स एड ऑंटोलॉजी, मीनिंग एंड नेसेसिटी के संस्करण में संकलित।
२२. इस भेद विषय अन्य भ्रान्तियों के निरास के सम्बन्ध में द्रष्टव्य : मोर्टन व्हाइट-दि एनेलिटिक एण्ड दि सांइथेटिक एन अनटेनेबलडुअलिज्म-सिडनी हुक द्वारा सम्पादित-जोहन ड्यूई : फिलोसोफर आफ साइंस एंड फ्रीडम में संकलित।

कोशिश कर रहा हूँ कि यह भेद आत्यन्तिक न होकर केवल न्यूनाधिक का है और इसका आधार हमारी वह भावना है जो किसी विरोधी अनुभव के सामने विज्ञान के समस्त पसारे के एक अंश में आसानी से परिवर्तन करने के लिये तैयार है और दूसरे में कम। ऐसे निर्णयों में हमारी यह भावना, कि परिवर्तन कम से कम किया जाय और यह कि विचार-तंत्र जितना सरल हो सके उतना सरल हो, दोनों ही काम करती हैं।

कार्नेप, ल्यूइस आदि अनेक दार्शनिक, जहाँ तक विभिन्न वैज्ञानिक संस्थानों और भाषीय रूपों में से चुनने का प्रश्न है, सुविधावादी दृष्टिकोण अपनाते हैं। परन्तु उनका सुविधावाद संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक के बीच की परिकल्पित रेखा पर पहुँच कर विदा ले लेता है। ऐसी किसी रेखा को अस्वीकार कर, वास्तव में मैं सुविधावाद का अधिक और पूर्णतर रूप में पोषण करता हूँ। प्रत्येक व्यक्ति को जहाँ एक ओर उसको संस्कृति का दिया हुआ वैज्ञानिक उत्तराधिकार मिलता है वहाँ सतत् संवेदनाओं का प्रवाह भी, और वैज्ञानिक उत्तराधिकार में प्रतिकूल संवेदनाओं के समक्ष परिवर्तन का आधार, यदि वह बुद्धिनिष्ठ है, तो केवल सुविधा ही हो सकती है, अन्य कुछ नहीं।

व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदावलियाँ

गिल्बर्ट राइल

अधिकांशतः, यदि पूर्णरूपेण नहीं भी हो तो, दार्शनिक तर्क का मुख्य विषय कथनों अथवा स्थापनाओं का अर्थ विवेचन रहा है : "ऐसा कहने का क्या अर्थ है ?" ऐसा देखा गया है कि लोग अपनी साधारण भाषा में--उस भाषा में जिसका कि वे दार्शनिक सन्दर्भ के बाहर उपयोग करते हैं--कुछ पदों का प्रयोग करते हैं, और दार्शनिक लोग उनमें से किन्हीं कम या अधिक मौलिक प्रकारों या वर्गों के पदों से ही अपने आपको बाँध देते हैं, और किसी एक प्रकार की सब अभिव्यक्तियों के सम्बन्ध में प्रश्न उठाते हैं कि उनका वास्तव में क्या अर्थ है ?

कभी-कभी दार्शनिक कहते हैं कि वे उन 'अवधारणाओं' का विश्लेषण या स्पष्टीकरण कर रहे हैं जो साधारण व्यक्ति या वैज्ञानिक, इतिहासवेत्ता, कलाकार या अन्य भी किसी के निर्णयों में निहित है। लेकिन यह केवल एक अत्यन्त अस्पष्ट कथन-प्रकार है कि वे उन सामान्य पदों के अर्थों की खोज में प्रयत्नशील हैं जो उनके द्वारा उच्चरित या लिखित वाक्यों में निहित है। क्योंकि जैसाकि हम देखेंगे, 'अ एक अवधारणा है' और 'ब एक निर्णय' स्वयं ही व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदावलियाँ हैं।

परन्तु यह सम्पूर्ण प्रक्रिया ही बहुत विषम है। क्योंकि यदि विचाराधीन पदों का बुद्धिमत्ता से प्रयोग किया जाय तो उनके प्रयोग करने वाले पहले से ही जानते हैं कि उनका क्या तात्पर्य है, और इसलिए उन्हें यह समझने से पहले कि वे क्या कर रहे हैं, दार्शनिकों की सहायता लेने अथवा डाँट-फटकार सुनने की आवश्यकता नहीं है; और यदि उनके श्रोता वह सब समझते हों जो उन्हें कहा गया है तो वे भी ऐसी घबराहट में नहीं हैं कि उन्हें इस अर्थ के दार्शनिक 'विवेचन' या 'स्पष्टीकरण' की आवश्यकता हो। और कम से कम स्वयं दार्शनिक को यह मालूम होना चाहिए कि उस पद का क्या तात्पर्य है, क्योंकि अन्यथा तो वह स्वयं भी यह नहीं जान पायेगा कि वह क्या था जिसका कि वह विवेचन कर रहा था।

निश्चित रूप से ऐसी स्थिति प्रायः ही होती है कि पदों का प्रयोग विचार पूर्वक नहीं किया जाता है, और उस हद तक उनके लेखक तोते की भाँति निरर्थक उच्चारण कर रहे होते हैं। परन्तु तब यह पूछना स्पष्टतः निरर्थक होगा कि इस पद का वास्तविक अर्थ क्या है; क्योंकि इस मान्यता का कोई कारण नहीं है कि उनका कोई अर्थ है। यदि ऐसा कोई भी कारण होता तो यह केवल रटना नहीं रहता। और यदि कोई दार्शनिक यह पूछना चाहे कि

यदि एक विचारशील मनुष्य इनका प्रयोग कर रहा होता तब इन पदों का क्या अर्थ होता, तो इसका केवल यही उत्तर होगा कि तब वे वही अर्थ व्यक्त करेंगे, जो वे उस अवस्था में करेंगे। उनको समझना ही पर्याप्त होगा, और ऐसा किसी भी विचारशील श्रोता द्वारा किया जा सकता है। दार्शनिकीकरण उसकी सहायता नहीं कर सकता, और वास्तव में दार्शनिक स्वयं भी तब तक आरम्भ नहीं कर सकेगा जब तक कि वह उनको साधारण रीति से नहीं जान लेगा।

अतः यह प्रतीत होता है कि यदि एक पद को समझा जा सके तो उसे इस समझने की प्रक्रिया में स्वतः ही जान लिया जाता है (कि इसका क्या अर्थ है)। अतः यहाँ न तो कोई अंधकार विद्यमान है और इसीलिए न किसी प्रकाश की आवश्यकता है, और न ही ऐसा (अंधकार-निवारण) सम्भव है।

और यदि यह सुझाया जाय कि एक पदावली का अ-दार्शनिक लेखक (फिर चाहे वह साधारण मनुष्य हो, वैज्ञानिक हो, उपदेशक हो या कलाकार हो) अपनी पदावली के तात्पर्य को जानता तो है किन्तु वह उसे मन्द, धूमिल और सम्भ्रामक रूप से जानता है, जबकि दार्शनिक अपनी अन्वेषण-प्रक्रिया के अन्त में उसके तात्पर्य को स्पष्ट, विविक्त एवं निश्चित रूप से जानता है, तो एक द्विविध उत्तर अनिवार्य दिखाई देता है। प्रथम, यदि एक वक्ता केवल सम्भ्रामक रूप से जानता है कि उसकी पदावली का क्या तात्पर्य है, तो वह उस विषय में और उस हद तक निरर्थक शब्दोच्चार कर रहा है। और फिर एक दार्शनिक की न तो यह भूमिका ही है और न ही उसकी उपलब्धि कि वह उस प्रकार के शब्द-प्रवाह का कोई उपचार करे। और दूसरे, पदेन भी दार्शनिक का कार्य निरर्थक प्रलापों पर विचार करना नहीं है : वह तो पदावलियों का अध्ययन उनके अर्थों को जानने के लिए तब करता है जब कि उन्हें बुद्धिमत्ता पूर्वक प्रयुक्त किया जाता है, निश्चय ही ऐसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग होता है जिनके लिए उनसे अच्छा स्थानापन्न मिल सकता है और उसका ही प्रयोग किया ही जाना चाहिए या पहले ही किया जा चुका होगा। (१) एक अभिव्यक्ति अंग्रेजी या लातीनी व्याकरण के नियमों का भङ्ग करने वाली हो सकती है। (२) एक शब्द विदेशी शब्द हो सकता है, या दुर्लभ शब्द अथवा पारिभाषिक या व्यापारीय पद हो सकता है, जिसके लिये एक परिचित पर्याय विद्यमान है। (३) एक वाक्यांश अथवा वाक्य अपनी बनावट में भद्दा अथवा अपरिचित हो सकता है। (४) एक शब्द या वाक्यांश अनेकार्थक हो सकता है और इसी कारण सम्भव शब्द-क्रीड़ा का उपकरण हो सकता है। (५) कोई शब्द अथवा वाक्यांश का इस रूप में ग़लत चुनाव हो सकता है कि जहाँ एक विशिष्ट पद होना चाहिए वहाँ साधारण का प्रयोग हो, अथवा यह लाक्षणिक हो सकता है जहाँ कि उसकी लाक्षणिकता ज्ञात अथवा स्पष्ट नहीं हो। (६) अथवा कोई शब्द अनुपयुक्त अथवा असम्यक हो सकता है किन्तु शब्दान्तर-विन्यास में भी खोज—जो किन्हीं प्रस्तुत श्रोतागणों को शीघ्र समझ में आ जाये या जिसमें अधिक उक्ति-चमत्कार हो अथवा जो विशेष शैली या ढंग की हो या व्युत्पत्त्यनुसार अधिक सही हो--वह या तो व्यावहारिक कोष-रचना मात्र होगा या होगा भाषा-विज्ञान; वह दर्शन नहीं हो सकता।

तो अब हमें इस प्रश्न का सामना करना ही चाहिये कि, क्या व्यक्तियों द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले पदों व वाक्यों के अर्थों का विवेचन या स्पष्टीकरण जैसी कोई वस्तु है, सिवाय इस बात के कि भाषा--विज्ञान की दृष्टि से अनुपयुक्त पदावलियों के स्थान पर उपयुक्त पदावलियों को रख दिया जाय; हम इस समस्या को 'अवधारणाओं' की अधिक भ्रामक शब्दावली में रख कर यह पूछ सकते थे कि दार्शनिक साधारण विवेचन अथवा स्पष्टीकरण व्यक्ति, वैज्ञानिक अथवा कलाकार द्वारा प्रयुक्त अवधारणाओं पर ऐसी क्या क्रिया करता है कि ये अवधारणायें जो कि पहले अन्धकार में छिपी थीं, उद्भासित हो उठती है ? अब ठीक वैसी ही दिक्कतें सामने आती हैं। इसलिए कि भ्रामक अवधारणा की तरह की कोई भी वस्तु नहीं हो सकती, क्योंकि या तो एक व्यक्ति चिन्तन कर रहा होता है, अर्थात् अपनी विषय-वस्तु के स्वभाव को जान रहा होता है, या फिर वह ऐसा करने में असफल रहता है। यदि वह सफल हो रहा है तब तो, न तो कोई स्पष्टीकरण अपेक्षित है और न ही सम्भव है; और यदि वह असफल हो रहा है तो उसे विषय--वस्तु की अधिक खोज करनी चाहिये या उसका अधिक चिन्तन करना चाहिये, जिसके कि स्वभाव के बोध को हम 'अवधारणा' कहते हैं। लेकिन यह अवधारणा के बारे में दार्शनिकीकरण नहीं होगा वरन् उस वस्तु के स्वभाव की अधिक खोज होगी और इसलिए यह सम्भवतः अर्थशास्त्र होगा या खगोलशास्त्र अथवा इतिहास होगा। लेकिन जैसा कि मैं सोचता हूँ, यह दिखाया जा सकता है कि यह किसी भी प्राकृतिक अर्थ में सत्य नहीं है कि 'अवधारणायें' है। मैं अब समस्या के वर्णन की दूसरी विधि का अनुसरण करूँगा।

इस निबन्ध का उद्देश्य यह दिखाना नहीं है कि दर्शन सामान्यतः किस चीज की परीक्षा करता है, अपितु यह दिखाना है कि तब भी एक महत्वपूर्ण पक्ष है जिसमें कि दार्शनिकों को विवेचन और वर्णन करना चाहिए और वे कर सकते है। वह है इस या उस आधारभूत प्रकार की पदावलियों का वास्तव में क्या अर्थ है, तथापि इन विवेचनों से यह जरा भी लागू नहीं होता कि इन पदावलियों का उपयोग करने वाले सामान्य लोग कुछ भी सन्देह या सम्भ्रम में हैं कि उनकी पदावलियों का क्या तात्पर्य है, और न उन्हें भाषा के प्रयोग की साधारण--विधि को जारी रखने के लिए, अथवा उसका बोधगम्य रूप में प्रयोग करने के लिये ही किसी दार्शनिक विश्लेषण की आवश्यकता होती है।

तो जो कुछ मैं प्रतिपादित करना चाहता हूँ उसका सारांश यह है। बहुतसी ऐसी अभिव्यक्तियाँ हैं जो अदार्शनिक भाषा में घटित होती हैं और जिन्हें यद्यपि उनका प्रयोग करने वाले, उन्हें पढ़ने और सुनने वाले पूर्ण स्पष्ट रूप से समझते हैं किन्तु तब भी जो ऐसे व्याकरण या वाक्य रचना प्रकारों में रचित होती है कि जो उन वस्तु--स्थितियों के लिये तर्कतः अनुपयुक्त होती है जिनका कि वे वर्णन करती है। और दर्शन के लिये ऐसे पदों का पुनः प्रतिपादन किया जा सकता है, किन्तु अदार्शनिक भाषा के लिये नहीं। यह प्रतिपादन ऐसे पदों में किया जाना चाहिए जिनका कि वाक्य--रचना का रूप--वर्ण्य तथ्यों के लिये (अथवा तथोक्त वर्णन-विषय तथोक्त तथ्यों के लिये) उपयुक्त हों।

मैं अभिव्यक्ति (एक्स्प्रेशन) शब्द का प्रयोग अकेले शब्दों, वाक्यांशों और वाक्यों के लिए कर रहा हूँ । 'कथन' से मेरा तात्पर्य है एक ऐसे वाक्य से जो निर्देश करता हो। जब एक कथन सत्य होगा तो मैं कहूँगा कि यह एक तथ्य का या वस्तु-स्थिति का विवरण है। असत्य कथन कोई विवरण नहीं देता । किसी कथन की सत्यता जानने का तात्पर्य है यह जानना कि कुछ वस्तु-स्थिति है और यह कथन इसे सूचित करता है। जब मैं किसी कथन को समझता मात्र हूँ तो यह नहीं जानता कि यह एक तथ्य का विवरण देता है, और न ही मुझे उस तथ्य को जानने की आवश्यकता है जिसे यह विवरण देता है, यदि यह कोई विवरण देता है तो। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि यदि यह कथन किसी वस्तु-स्थिति का विवरण हुआ तो वह वस्तु-स्थिति क्या होगी।

प्रत्येक सार्थक कथन एक विवरणकल्प होता है क्योंकि इसमें विवरण होने के लिए उपयुक्त संरचना और घटक दोनों विद्यमान हैं । लेकिन इनको जानते हुए भी अभी तक यह नहीं जानते होते कि यह किसी तथ्य का विवरण है। असत्य कथन छद्म विवरण होते हैं और ये उसी प्रकार विवरण नही होते जिस प्रकार छद्म प्राचीन वस्तुएँ वस्तुतः प्राचीन वस्तुएँ नही होतीं। इसलिए यह प्रश्न कि असत्य कथन क्या वर्णन करते हैं, एक निरर्थक प्रश्न है, यदि 'वर्णन करने' का तात्पर्य विवरण होने से हो। और यदि इसका तात्पर्य यह हो कि यदि ये किसी स्थिति का अभिलेखन करते हैं तो वे क्या अभिलेखन करेंगे ? तो यह प्रश्न स्वयं ही अपना उत्तर रखता है।

जब एक अभिव्यक्ति की ऐसी वाक्य--रचना हो कि जो विवरण--बद्ध तथ्य के अनुपयुक्त हो, तो यह व्यवस्थित रूप से इस बात में भ्रामक होगी कि इससे कुछ व्यक्तियों को—यद्यपि साधारण व्यक्तियों को नहीं—ऐसा आभास होगा कि विवरण-बद्ध वस्तु स्थिति उस वस्तु-स्थिति से बिल्कुल भिन्न है जो कि तथ्यतः किंवा वास्तव में है।

अब मैं जिस बात पर पहुँचना चाहता हूँ उसे उदाहरणों द्वारा दिखाने का प्रयत्न करूँगा। मैं एक प्रकार की अभिव्यक्तियों के एक सम्पूर्ण वर्ग पर विचार से आरम्भ करूँगा जो कि साधारण भाषा में घटित होती हैं; और पूर्णतः संतोषजनक ढंग से घटित होती हैं लेकिन जो व्यवस्थित रूप से भ्रामक होती हैं, अर्थात् वे ऐसी वाक्य-रचना में रचित की गई होती हैं और वह बिल्कुल् भिन्न तार्किक प्रकार के तथ्यों के लिए उचित होती हैं न कि विवरण-बद्ध तथ्यों के लिए (सरलता के लिए मैं ऐसा मानूँगा मानों जितने भी कथन उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत किए गये हैं वे सत्य हैं। क्योंकि असत्य कथन रचना में सत्य कथनों से भिन्न नहीं होते। अन्यथा तो व्याकरण-शास्त्रज्ञ सर्वज्ञ हो गये होते। और जब मैं किसी कथन को 'व्यवस्थित रूप से भ्रामक' कहता हूँ तो मेरा मतलब यह नहीं है कि यह असत्य है, और निश्चित--तौर पर यह भी नहीं कि यह अर्थशून्य है। 'व्यवस्थित रूप से' कहने का मेरा तात्पर्य है कि उस व्याकरण की आकृतिवाली सभी अभिव्यक्तियाँ समान रूप से और उन्हीं हेतुओं के कारण भ्रामक होंगी)।

—

छद्म सत्ता–मीमांसात्मक कथन–वाक्य

काण्ट से लेकर अब तक हम में से अधिकांश ने इस सिद्धान्त को कि 'अस्तित्व कोई गुण नहीं है' कहने भर के लिए स्वीकार किया है, और इसलिए हमने इस सत्ता--मीमांसीय तर्क की छद्म अर्थापत्ति को अस्वीकार कर दिया है कि 'परमात्मा पूर्ण है, पूर्ण होने में यह अर्थापतित है कि वह अस्तित्ववान् है (अतः) परमात्मा अस्तित्ववान् है।' क्योंकि यदि अस्तित्व कोई गुण नहीं है तो यह ऐसी वस्तु नहीं हो सकती जो कि किसी गुण द्वारा अर्थापतित की जा सके।

लेकिन अभी हाल ही तक इस पर ध्यान नहीं दिया गया था कि यदि 'परमात्मा अस्तित्ववान् हैं' में 'अस्तित्ववान्' विधेय नहीं है (व्याकरण को छोड़ कर) तो उसी कथन में परमात्मा (व्याकरण को छोड कर) कथन का उद्देश्य भी नहीं हो सकता। इस बात का ज्ञान हमें ऐसे नकारात्मक अस्तित्वात्मक तर्कवाक्यों की परीक्षा करने से हुआ जैसे 'शैतान अस्तित्ववान् नहीं है' या 'एक सींग वाले घोड़े अनस्तित्ववान् हैं'। यदि कोई शैतान है ही नहीं तो यह कथन कि 'शैतान अस्तित्ववान् नहीं है' शैतान के बारे में उस प्रकार से नहीं हो सकता, जिस प्रकार से कि "मैं उनींदा हूँ' मेरे बारे में है। बावजूद प्रतीति के 'शैतान' शब्द विशेषणों के किसी विशेष्य का वाचक नहीं हो सकता।

दार्शनिकों ने अनेक ऐसे सिद्धान्तों से मन बहलाया है जो उन्हें निरन्तर यह कहने में सक्षम बनाये रक्खे कि 'शैतान अस्तित्ववान् नहीं है' वाक्य किसी न किसी भाँति शैतान के बारे में है, और कि 'अस्तित्ववान्' शब्द भी किसी न किसी प्रकार के विशेषण या लक्षण को व्यक्त करता है, यद्यपि यह गुण नहीं है।

इसलिए कुछ लोगों ने यह तर्क किया कि यह कथन किसी ऐसी वस्तु के बारे में है जिसका वर्णन 'शैतान का प्रत्यय' कह कर किया गया, और दूसरों ने कहा कि यह एक सत्तायुक्त (Subsistent) किन्तु अवास्तविक वस्तु के बारे में है जिसे शैतान कहा गया है। संक्षेप में, सभी सिद्धान्तों ने यह प्रदर्शित करना चाहा कि कुछ हो सकता है (चाहे वह 'केवल मानसिक' हो या कि वह सत्ताओं (Subsistent) के क्षेत्र का हो) लेकिन वह अस्तित्ववान् नहीं हो सकता। लेकिन जैसे कि हम कह सकते हैं कि 'गोल वर्गों का अस्तित्व नहीं होता' और कि 'वास्तविक अनस्तित्वों का अस्तित्व नहीं होता' तो नकारात्मक अस्तित्ववानों की इस प्रकार की व्याख्या या तो सत्ताओं (Subsistents) के क्षेत्र को या प्रत्ययों के क्षेत्र को चलने-फिरने वाले आत्म-व्याघातों से निश्चित ही भर देगी। इसलिए इन सिद्धान्तों को त्यागना पड़ा और अस्तित्ववाचकात्मक तर्क वाक्यों का नये सिरे से विश्लेषण करना पड़ा।

मानलें कि मैं सामान्य उद्देश्य पर माँसाहारी गायों के लिए कहता हूँ कि वे (स्पष्टतः) 'अस्तित्ववान् नहीं हैं' और मेरा कथन सत्य है, तो मैं वास्तव में माँसाहारी गायों के बारे में बात नहीं कर रहा होता, क्योंकि ऐसी गायें है ही नहीं। इससे यह अनुगमित होता है कि 'माँसाहारी गायें' पद वास्तव में उस वस्तु या वस्तुओं का निर्देश करने के लिए नहीं हो रहा है जिनके सम्बन्ध में कि विधेय पद का विधान किया जा रहा है, यद्यपि व्याकरण में

इसके विपरीत प्रतीत होता है। और इसी प्रकार चूँकि 'अस्तित्व है' क्रिया विधान किये गये लक्षण को व्यक्त नहीं करती है, यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से यह विधान करती है, अतः यथार्थ विधेय हमें अन्यत्र खोजना चाहिए।

इसीलिए व्याकरण का अनुसरण छोड़ना आवश्यक है क्योंकि उक्त विश्लेषण हमें यह सुझाता है कि 'माँसाहारी गायें अस्तित्ववान् नहीं हैं' का तात्पर्य वही है जो इस वाक्य का है कि 'कोई भी गाय माँसाहारी नहीं है' या कि 'कोई भी माँस भक्षी पशु गाय नहीं है', लेकिन एक अन्य सुधार आवश्यक प्रतीत होता है।

'एक सींग वाले अश्वों का अस्तित्व नहीं है' का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि 'कोई भी एक साथ ही चौपाया और शाकाहारी और एक सींग को धारण करने वाला न ीं है' (या और भी कोई लक्षण जो उस कल्पित घोड़े के हों) और इसका यह आशय प्रतीत नहीं होता कि कुछ चौपाये या शाकाहारी पशु हैं।

अतः 'माँसाहारी गायों का अस्तित्व नहीं है', इस प्रकार लिखा जाना चाहिये कि 'कोई भी एक साथ ही गाय और माँस भक्षी नहीं है' और इसका यह आशय नहीं है कि कोई भी दोनों में से एक है।

अब एक स्पष्टतः व्यक्तिवाचक उद्देश्य पद लें जैसे 'परमात्मा का अस्तित्व है' या 'शैतान का अस्तित्व नहीं है' में है। यदि उपरोक्त व्याख्या सही थी तो यहाँ भी 'परमात्मा' और 'शैतान', बावजूद व्याकरण की प्रतीतियों के, वस्तुतः विधेयात्मक पद होंगे। अर्थात् वे कथन के वे घटक होंगे जो यह व्यक्त करेंगे कि कोई वस्तु विशेष लक्षणों वाली है जो उद्देश्य के उस लक्षण को द्योतित करती है जिसके द्वारा वह लक्षित होता है। 'परमात्मा अस्तित्ववान् है' का वही तात्पर्य है जो इस कथन का है कि '(कुछ) और केवल एक ही वस्तु सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और असीम रूप से अच्छी है', (या अन्य कोई भी लक्षण हो जिन्हें उस परमात्मा के और केवल उसी परमात्मा के संयुक्त लक्षण में समाकलित किया गया हो) और 'शैतान का अस्तित्व नहीं है' का अर्थ होना चाहिए कि 'कुछ भी एक साथ ही पैशाचिक, और पैशाचिक होने में अकेला, नहीं है', या शायद 'कुछ भी एक साथ ही पैशाचिक और 'शैतान' नहीं है' या कि 'शैतान' किसी भी वस्तु की व्यक्ति-वाचक संज्ञा नहीं है। अतः स्थूल रूप से कहें, तो 'य का अस्तित्व है' और 'य का अस्तित्व नहीं है' में यह कथन अभिप्रेत नहीं है कि विशेषणों का कोई प्रदत्त-उद्देश्य (विशेष्य) य है जो कि अस्तित्व से भी विशेषित है, बल्कि ऐसे य-वत् भाव का, अथवा किसी ऐसे के य होने का निषेध करते हैं जिसका कि कथन में नामाभिधान नहीं किया गया है।

अब मैं अपना वास्तव में अभिप्राय कह सकता हूँ। मैं कहता हूँ कि ऐसे कथन, जैसे कि 'माँसाहारी गायों का अस्तित्व नहीं है' व्यवस्थित रूप से भ्रामक हैं और वे पद जिनसे हमने इनका वाक्य-विन्यास किया है वे भ्रामक नहीं हैं, या कम से कम उसी प्रकार या उसी हद तक व्यस्थित रूप से भ्रामक नहीं हैं। लेकिन वे न तो असत्य हैं और नहीं वे तात्पर्य विहीन हैं। वे सत्य हैं और वास्तव में उसी अर्थ को व्यक्त करते हैं (जो उनके व्यवस्थित रूप से कम

भ्रामक वाक्य-विन्यास व्यक्त करते है । और न ही (कुछ विशेष प्रकार की अवस्थाओं को छोड़ कर) इस प्रकार के पदों का अदार्शनिक प्रयोक्ता उन परिस्थितियों के स्वरूप के बारे में अनजान या संशय में है जिनका विवरण उसके पद देते है । वह बिल्कुल भी भटका हुआ नही है । तथापि उसकी अभिव्यक्ति की रचना में एक फन्दा है लेकिन यह ऐसा फन्दा है जो केवल उसी व्यक्ति के लिए भयावह है जिसने वस्तु-स्थितियों के प्रकारों या रूपों के बारे में सामान्यीकरण प्रारम्भ कर दिया हो और जो यह मानता हो कि प्रत्येक कथन अपनी वाक्य रचना के द्वारा उस तथ्य के तार्किक आकार का संकेत दे देता है जिसका यह वर्णन करता है । मै यहाँ केवल या मुख्य रूप से भी दार्शनिक की ओर इंगित नही करना चाहता वरन् उस किसी भी व्यक्ति की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ जो अमूर्त--चिन्तन में प्रवृत्त होता है ।

लेकिन इस विचार को आगे बढ़ाने से पूर्व मैं हमारे 'तथाकथित अस्तित्व वाचक कथनों' की परीक्षा के परिणामों का साधारणीकरण करना चाहता हूँ । और यह इसलिए भी अधिक आवश्यक हो जाता है कि जब कि अधिकांश दार्शनिकों को काण्ट की चेतावनी ने 'परमात्मा का अस्तित्व है' की व्यवस्थित भ्रामकता से अगाह कर दिया था, उनमें से शायद ही कोई यह देख सका कि दूसरी अनेकों अभिव्यक्तियाँ हैं जो उसी संक्रामक दोष से पीडित है ।

यदि 'परमात्मा का अस्तित्व है' का वही अर्थ है जो हमने कहा है, तो स्पष्टत: 'परमात्मा एक अस्तित्ववान् (वस्तु) है', 'परमात्मा एक सत्ता है', 'परमात्मा अस्तित्व रखता है', या 'अस्तित्व' पदों को उसी प्रकार के विश्लेषण की आवश्यकता होगी । अतएव '...... अस्तित्ववान् है', '......एक वस्तु है', केवल निरर्थक विधेय है, और (व्याकरण में) ये जिसके सम्बन्ध में विधान करते हैं, वह एक निरर्थक उद्देश्य--पद है । और ठीक वैसा ही निम्नलिखित तालिका के जोड़ों के तमाम पदों के लिए सत्य होगा :

वाल्डविन	पिकविक
एक सत्ता है ।]	[असत् है ।
वास्तव में है या वास्तविक है ।]	[अवास्तविक है या अवास्तविकता है या केवल आभास है ।
एक यथार्थ वस्तु है ।]	[मिथ्या वस्तु या वस्त्वाभास है ।
एक तत्व है ।]	[कोई तत्व नहीं है ।
एक वास्तविक वस्तु या सत्ता है ।]	[एक अवास्तविक वस्तु या सत्ता है ।
वस्तु निष्ठ है ।]	[अवस्तुनिष्ठ अथवा व्यक्तिनिष्ठ है ।
एक मूर्त वास्तविक है ।]	[परिकल्पना या मिथ्या रचना है ।
एक विषय है ।]	[काल्पनिक विषय है ।
	[नहीं है ।
	[केवल एक विचार मात्र है ।
	[अमूर्त प्रत्यय है ।
	[एक तार्किक संरचना है ।

इनमें से एक भी कथन वस्तुत: श्रीमान् पिकविक के बारे में नहीं है। क्योंकि यदि वे सत्य हों तो कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसके बारे में वे हों। और न ही उनमें से कोई बाल्डविन के बारे में है। क्योंकि यदि वे असत्य हों तो कोई ऐसा नहीं होगा जिसके बारे में वे हों। और न ही उनमें से किसी में व्याकरण का ऐसा विधेय है, अर्थात् कथन का वह अवयव जो कि उस लक्षण को कथन करता है जिससे कि कोई वस्तु लक्षित होती है या लक्षित नहीं होती है।

अब मैं निष्कर्ष को कुछ थोड़े अपटु ढंग से इस प्रकार से प्रस्तुत करूँगा। कथनों का एक वर्ग है जिसका व्याकरण सम्बन्धी विधेय किसी विशेष लक्षण युक्त होने का वाचक प्रतीत नहीं होता किन्तु किसी विशिष्ट प्रतिष्ठा से युक्त अथवा उससे रहित प्रतीत होता है। किन्तु ऐसे सभी कथनों में प्रतीति विशुद्ध व्याकरण सम्बन्धी होती है और कथन जो कुछ भी वस्तुत: वर्जित करते है, वह ऐसे कथनों में व्यक्त किया जा सकता है जो बिल्कुल भी ऐसे छद्म सत्ता–वाचक विधेयों से युक्त न हों।

और फिर ऐसे सभी छद्म सत्ता--वाचक कथनों में व्याकरण का उद्देश्य पद किसी ऐसी वस्तु को व्यक्त करता या इंगित करता प्रतीत होता है जिसको कि विधेय विधेयित किये जाते हैं; परन्तु प्रकट उद्देश्य पद वास्तव में प्रच्छन्न विधेयात्मक पद है, और वास्तव में इन कथनों में जो कुछ वर्णित किया जाता है उसका ऐसे कथनों द्वारा पुन: कथन किया जा सकता है कि जिनका कोई भी अंश ऐसे किसी भी उद्देश्य को इंगित करता प्रतीत नहीं होता।

एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि सभी छद्म सत्तात्मक कथन व्यवस्थित रूप से भ्रामक हैं। (यदि मेरी यह बात सही है तो इससे यह निष्कर्ष अनुगत होता है–जिसे मैं अंगीकार करता हूँ—कि वे तत्वमीमांसी दार्शनिक बहुत बड़े अपराधी है जिन्होंने 'सत्' या 'सत्ता' (वीइंग) को अपने तर्क वाक्यों का उद्देश्य पद बना लिया है, या सत्ता को विधेय बना लिया है, मानो जैसे वे कोई अत्यन्त महत्व की बात कह रहे हों। क्योंकि जो कुछ भी वे कहते हैं कम से कम वह व्यवस्थित रूप से भ्रामक तो है ही, और किसी भी दार्शनिक के तर्क वाक्यों को ऐसा होने का कोई हक नहीं है और इनके लिए यह भी कहा जा सकता है कि ये निरर्थक हैं।

मुझे पुन: चेतावनी दे देनी चाहिए कि ऐसे छद्म सत्ता--वाचक पदों का प्रयोग करने वाला अनाड़ी आदमी भी आवश्यक रूप से भ्रान्त नहीं होता, वैसी सम्भावना भी अधिक नहीं होती। वह जो कुछ कहना चाहता था उसने कह दिया है और कोई भी जो अंग्रेजी जानता हो यह समझ सकता है कि वह क्या कह रहा था। तिस पर भी मैं यह और कहना चाहूँगा कि उन अवस्थाओं में, जिनकी कि मैं तालिका दे चुका हूँ वे कथन न केवल महत्वपूर्ण हैं अपितु सत्य भी है। उनमें से प्रत्येक एक वास्तव वस्तुस्थिति को अंकित करता है। परन्तु उनसे दार्शनिक को भी भ्रमित नहीं होना चाहिए। उदाहरण के लिए, मुझे पूर्ण आशा है कि हम भ्रमित नहीं हैं। लेकिन बात यह है कि कोई भी व्यक्ति दार्शनिकों समेत--जो अमूर्तीकरण और सामान्यीकरण करता है और इस प्रकार यह विचार करने का प्रयत्न करता है कि एक ही

प्रकार के विभिन्न तथ्यों में, अर्थात् विभिन्न वस्तुओं के बारे में एक ही प्रकार के तथ्यों में ऐसा बचा है जो समान है, उसे बलात् उन तथ्यों विषयक कथनों के लिए व्याकरण के साधारण रूपों को व्यवहार में लाना होता है जिनके द्वारा कि वह तथ्यों के स्वयं के तार्किक स्वरूप की परीक्षा कर सके । क्योंकि (जैसा कि हम आगे देखेंगे) वह तरीका जिसके द्वारा वाक्यों में किसी तथ्य को आकलित किया जाना चाहिए उस तथ्य के स्वरूप को समझने के लिए संकेत होगा, इससे हम तुरन्त इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि वह तरीका जिसके द्वारा तथ्य का आकलन किया गया है, वास्तव में एक ऐसा ही संकेत है । परन्तु अक्सर यह संकेत भ्रामक होता है और यह तथ्य के जिस रूप के सही होने का आभास देता है वह वास्तव मे सही नहीं होता । "शैतान एक सत् (वस्तु) नही है" इसकी व्याकरण--परक रचना से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो यह उसी प्रकार के तथ्य का आकलन करता है जैसा कि 'कैपोन कोई दार्शनिक नही है' करता है, और इसीलिए उसी हद तक मानो किसी व्यक्ति विशेष के, जिसे 'कैपोन' कहा जाता है, एक लक्षण को नकारता है । लेकिन, परीक्षा से पता चलता है कि यह प्रतीति एक धोखा है : क्योंकि वही तथ्य उचित रूप से ही, इस कथन में आकलित किया जा सकता था कि "शैतान" व्यक्ति वाचक संज्ञा नही है या कोई भी 'शैतान' कहलाने वाला (अस्तित्व-वान्) नहीं है, या 'कोई भी एक साथ "शैतान" और अत्यन्त दुष्ट नही है', या शायद 'कुछ व्यक्ति विश्वास करते हैं कि कुछ ऐसा है जो एक साथ "शैतान" और अत्यन्त दुष्ट है, किन्तु उनका विश्वास मिथ्या है और इनमें से कोई भी कथन 'शैतान' के बारे में होने का दावा नही करता । इसके बजाय ये सभी कथन 'शैतान' रूप एक ध्वनि के बारे में हैं और केवल उसी के बारे में हैं, या फिर उन व्यक्तियों के बारे मे हैं जो इसका दुरुपयोग करते हैं ।

इसी प्रकार, जबकि यह कहना कि 'श्रीमान् पिकविक एक परिकल्पना है' सार्थक, सत्य एवं प्रत्यक्ष रूप से बुद्धिगम्य है, यह व्यवस्थित रूप से भ्रामक अभिव्यक्ति है (अर्थात् एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो एक आकार परक लक्षण के कारण जिसमें यह अन्य अभिव्यक्ति के साथ सहभागी है, या हो सकती है, भ्रामक है); क्योंकि यह वस्तुत: उस प्रकार के तथ्य का आकलन नही करती जैसाकि यह करती हुई प्रतीत होती है; ठीक उसी प्रकार से जैसे यह करती है कि 'श्रीमान् बाल्डविन एक राजनीतिज्ञ है'। विश्व मे परिकल्पनाएँ उस प्रकार विद्यमान नहीं होती है जिस प्रकार राजनीतिज्ञ विद्यमान होते है । ऐसा कोई विशेष्य नही है जिसके सम्बन्ध में हम कह सके 'एक कथा है' । अलबत्ता हम डिकेन्स के बारे में यह कह सकते है कि 'वह एक कहानी कहने वाला है' या पिकविक के निबन्धो के बारे में कह सकते है कि 'वह झूँठी बातों का एक पुलन्दा है'; या उपन्यास में एक वाक्य के सम्बन्ध में, जिसमें छद्म नाम 'श्रीमान् पिकविक' अथवा 'एक कथा है' हैं कुछ कहना सम्भव है । और जब हम इस प्रकार की बातें कहते हैं तो हम ठीक उसी बात को आकलित करते है जिसे कि हमने तब आकलित किया था जब हमने कहा था कि 'श्रीमान् पिकविक एक परिकल्पना है'; सिर्फ हमारी नयी अभिव्यक्तियाँ वह बात नही सुझातीं जो पुरानी अभिव्यक्तियाँ सुझाती थी, कि कुछ विशेष्यों के दो विशेषण है । एक तो उनका 'श्रीमान् पिकविक' होना और दूसरे उनका एक परिकल्पना होना वरन्

इसके विपरीत यह वताती हैं कि किसी विशेष्य के विशेषण उसका डिकेन्स कहलाना और छद्म प्रकथनों एवं छद्म व्यक्तिवाचक नामों का गढ़ने वाला होना; या दूसरी व्याख्यानुसार, पुस्तक या वाक्य का होना जो सत्य या असत्य हो सकता है केवल यदि कोई 'श्रीमान् पिकविक' नामक व्यक्ति हो। वास्तव में 'श्रीमान् पिकविक एक परिकल्पना है' प्रकटतः भिन्न होने पर भी, या तो डिकेन्स के वारे में है या पिकविक के निबन्धों के वारे में है। लेकिन यह तथ्य कि यह इस प्रकार का है उस अभिव्यक्ति के स्वरूप से, जिसमें कि यह पद घटित होता है, प्रकट नहीं होता, छुपा रहता है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जिस अर्थ में इस प्रकार के छद्म सत्तापरक कथन भ्रामक हैं वह यह नहीं है कि ये असत्य हैं, और यह भी नहीं है कि इनमें कोई भी शब्द अनेकार्थक या अस्पष्ट है, वरन् केवल यह है कि ये उन तथ्यों के तार्किक रूप के लिए अपनी रचना में ही अनुपयुक्त हैं जिनके आकलन के लिए उनका प्रयोग किया गया था, और वे विल-कुल दूसरे ही तथ्यों के तार्किक रूप के लिए उपयुक्त हैं। रचनात्मक उपयुक्तता या अनुपयुक्तता की अवधारणाओं की क्या अर्थापत्तियाँ हैं, यह हम वाद में देखेंगे।

[२] सामान्यों के वारे में प्रतीत होने वाले कथन, अथवा प्लेतोनी–कल्प प्रकथन

हम अक्सर अत्यन्त सुविधापूर्वक ऐसी अभिव्यक्तियों का जैसे 'समयानुसार नहीं चलना गर्हणीय है' और 'गुण स्वयं का पारितोषिक है' का प्रयोग करते हैं। और प्रथम दृष्टि में ये अभिव्यक्तियाँ इन वाक्यों के पूर्णतः समान प्रतीत होती हैं कि 'जोन्स धिक्कारने योग्य है' और स्मिथ ने स्वयं को पारितोषिक दे लिया है'। इसीलिए दार्शनिकों ने यह मानकर कि जो कुछ प्रथम वर्ग के कथनों का तात्पर्य है वह यथार्थतः दूसरे वर्ग के कथनों के समान ही है, इस परिणाम को स्वीकार कर लिया है कि संसार में कम से कम दो प्रकार की वस्तुएँ हैं : अर्थात् विशेष, जैसे जोन्स एवं स्मिथ, और 'सामान्य' जैसे 'अ--समयपालन' एवं 'नैतिक गुण'।

लेकिन तुरन्त ही विसंगतियाँ उठ खड़ी होती हैं। एक सामान्य के लिए यह कहना कि यह धिक्कारने--योग्य है, स्पष्टतः मूर्खता होगी। आप ठीक उसी भाँति 'सामान्य की प्रशंसा या उस पर दोषारोपण नहीं कर सकते जिस प्रकार कि आप विषुवद्वृत्त (ईक्वेटर) में सुराख नहीं वना सकते। अव जव कि हम यह कहते हैं कि 'अ--समयपालन धिक्कारने योग्य है' तो क्या हम वस्तुतः यह मानते हैं कि अ--समयपालन को स्वयं पर लज्जित होना चाहिए?

हमारा जो तात्पर्य है वही निम्न वाक्य का है कि 'जो कोई भी अ--समयपालक है वह अन्य लोगों के द्वारा निन्दा का पात्र है', और यह वाक्य हमारे मन्तव्य को अधिक उपयुक्त रूप में अभिव्यक्त करता है। क्योंकि अ--समयपालक व्यक्ति तो निन्दनीय हो सकते हैं, अ--समय-पालकता कैसे हो सकती है? क्योंकि व्यक्ति ही अभिकर्त्ता है, यह नहीं। अव इस नयी अभि-व्यक्ति में कि 'जो कोई भी अ--समयपालक है वह धिक्कारने योग्य है' 'अ--समयपालकता' शब्द '.......असमयपालक है' इस विधेय पद के पक्ष में लुप्त हो गया है। इस प्रकार जव कि

मूल अभिव्यक्ति में 'अ--समयपालकता' पद एक विशेष्य का वाचक प्रतीत होता था, जिसके लिए कि विशेषण का कथन किया जा रहा था, अब वह एक विशेषण--युक्त होने का वाचक हो जाता है, अर्थात् यह विशेष्य या उद्देश्य न रह कर मात्र विशेषण रह गया है। और हम वस्तुतः यही कह रहे हैं कि जो कोई भी इस विशेषण को धारण करेगा वह दूसरे विशेषण का भी धारक होगा।

पुनः यह शब्दशः सत्य नहीं है कि नैतिक गुण पारितोषक का प्राप्तकर्ता है। सत्य यह है कि जो कोई भी नैतिक-गुण-युक्त है वह उसके द्वारा लाभान्वित होता है। जो कोई भी अच्छा है वह अच्छे होने के कारण कुछ न कुछ प्राप्त करता है। अतः मूल कथन 'गुण के बारे में' नहीं था अपितु अच्छे (गुणवान्) व्यक्तियों के बारे में था, और व्याकरण के उद्देश्य पद का वही तात्पर्य था जो कि '......गुणवान् है' का है, और इसीलिए वास्तव में यह एक विधेय पद था, किन्तु यह विधेय नहीं होने का छद्म कर रहा था।

मुझे इतना विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। यह शब्दशः सत्य नहीं है कि 'ईमानदारी मुझे अमुक कहने को मजबूर करती है' क्योंकि ईमानदारी किसी बलात्कारी अभि-कर्त्ता (कोअर्सिव एजेंसी) का नाम नहीं है। जो सही है वह अधिक अच्छी तरह से यों कहा जा सकता है : 'क्योंकि मैं ईमानदार हूँ, या कि ईमानदार होना चाहता हूँ, इसलिए मुझे ऐसा--ऐसा ही कहना चाहिए [या मैं इस-इस तरह से कहने को बाध्य हूँ]'। 'रंग विस्तार का समावेश करता है' का तात्पर्य है कि 'जो कुछ भी रंग-युक्त है वह विस्तृत भी है', 'आशा यदि पूर्ण न हो तो मन खिन्न हो जाता है' का अर्थ यह है कि 'जो कोई भी अधिक समय तक अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त नहीं कर पाता है उसका दिल टूट जाता है।'

यह मेरा स्वयं का मत है कि सभी कथन जो 'सामान्यों के बारे में' होते हैं--एक ही तरह से विश्लेपित किए जा सकते है और परिणाम-स्वरूप सामान्यपद कभी भी वस्तुतः विशेषणों के उद्देश्य के नाम नही हो सकते। अतः 'सामान्य' उस रूप में वस्तुएँ नही है जिस प्रकार कि एवरेस्ट पर्वत एक वस्तु है, और इसीलिए यह प्राचीन प्रश्न कि वे किस प्रकार की वस्तुएँ हैं, एक निरर्थक प्रश्न रह जाता है। क्योंकि सामान्य संज्ञायें, विशेषण आदि व्यक्तिवाचक संज्ञायें नहीं होतीं, इसीलिए हम "समानता", "न्याय" और "प्रगति" जैसी वस्तुओं के बारे में कुछ कह नहीं सकते।

प्लेटोनी और प्लेटो-विरोधी कथन-वाक्य जैसे 'समानता एक यथार्थ सत्ता है' या, 'वह यथार्थ सत्ता नहीं है'--तदनुसार समान रूप से भ्रामक हैं और एक साथ ही दो तरह से भ्रामक हैं, क्योंकि वे साथ ही साथ छद्म सत्तापरक कथन भी हैं और प्लेटोनी-कल्प भी।

तथापि यहाँ इस सामान्य प्रतिपादन की रक्षा करने की मेरी कोई इच्छा नहीं है, वरन् मैं केवल यही प्रदर्शित करना चाहता हूँ कि कुछ अवस्थाओं में वे कथन, जो अपने व्याकरण स्वरूप के कारण यह कथन कर रहे प्रतीत होते हैं कि 'ईमानदारी ने ऐसा--ऐसा किया', या 'समानता इस--इस प्रकार की है', तब वास्तव में हम तर्कतः अनुचित रूप से (जो कि यद्यपि

तुरन्त समझ में आ जाता है और लाक्षणिक रूप से ठीक होता है) यह कह रहे होते हैं कि 'जो कुछ भी य के बराबर है वह अमुक है' या 'जो भी ईमानदार है वह अमुक प्रकार का होता है।' ये कथन उस बात को खुल्लम--खुल्ला कह देते हैं, जिसे अन्य प्रच्छन्न रूप से कहते हैं, कि यदि किसी में एक लक्षण विद्यमान है तो आवश्यक रूप से दूसरा लक्षण भी होगा।

निश्चय ही, वह साधारण मनुष्य जो इस प्रकार की प्लेटोनी अभिव्यक्तियों का इस्तेमाल करता है, कोई दार्शनिक भूल नहीं कर रहा है। वह बिल्कुल भी दार्शनिक क्रिया नहीं कर रहा है। वह ऐसे प्रकथनों के द्वारा न तो भ्रमित होता है और न ही उनमें निहित भ्रामक छद्म-कथनों पर ध्यान देता है कि वे 'ईमानदारी के बारे में' या 'प्रगति के बारे में' हैं। वह जानता है कि उसका क्या तात्पर्य है, और बहुत सम्भव है कि वह नये वाक्य में अपने अभिप्राय के अधिक प्रयुक्त प्रतिपादन को स्वीकार कर लेगा; लेकिन उसके पास अधिक उचित तर्क--रूप की अभिव्यक्ति की इच्छा करने के लिए कोई प्रेरक नहीं होगा, और न ही उसके पास यह बात मानने के लिए कोई कारण होगा कि यह अधिक उचित है। क्योंकि उसकी रुचि तथ्य के तर्क--रूप को उस विषयवस्तु से पृथक देखने में नहीं होती जिसके सम्बन्ध में कि वह तथ्य होता है। इस प्रकार से उसके लिए किसी चीज़ को व्यक्त करने का सर्वोत्तम ढङ्ग वह होता है जो सर्वाधिक लाघवपूर्ण, सर्वाधिक सुष्ठु, अथवा सर्वाधिक प्रगल्भ हो, जबकि वे लोग, जो दार्शनिकों के समान इस प्रकार के प्रसंगों के सम्बन्ध में साधारणीकरण करते हैं, उन साधारण व्याकरण रचनाओं को तथ्यों के तार्किक रूपों के संकेतक मान लेते हैं जिनमें कि ये तर्क-रूप आकलित होते हैं। और ये संकेतक अधिकांशतः भ्रामक होते हैं।

[३] वर्णनात्मक अभिव्यक्तियाँ और छद्म वर्णनात्मक पद

हम सभी निरन्तर 'अमुक--अमुक' प्रकार की पदावलियों का उपयोग करते हैं। जैसे कि 'ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का उपकुलपति' एवं 'विश्व का उच्चतम पर्वत' और इनके इस तरह के तर्क-वाक्यों में इस प्रकार से निर्देप-विषय होते हैं जैसे 'ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का उपकुलपति लम्बा आदमी है', एवं 'मैंने विश्व का उच्चतम पर्वत नहीं देखा है।'

(अंग्रेजी में) व्यक्तिवाचक वर्णनों (यूनीक डिस्क्रिप्शंस) में 'दि' पद के प्रयोग में कोई मौलिक भ्रामकता नहीं है, यद्यपि एक अर्थ में वे अत्यधिक सघन और संक्षिप्त होती हैं। और दार्शनिक लोग अपने विवरणों में जो वे इस तरह के विवरणात्मक पदों के तात्पर्य के बारे में देते हैं—भूल कर सकते हैं और करते हैं। जैसाकि हम देखेंगे भ्रामक ऐसे पद (अंग्रेजी के 'दि' पूर्वक पद) होते हैं जो व्याकरण की दृष्टि से इस प्रकार व्यवहार करते हैं मानों वे एक परक वर्णन थे जो व्यक्तियों की ओर निर्देश कर रहे थे, जबकि वे वस्तुतः बिल्कुल भी निर्देश करने वाले पद नहीं होते। लेकिन इस वर्ग के व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदों की परीक्षा तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि हम यह विचार न कर लें कि प्रामाणिक एक परक वर्णन किस प्रकार निर्देश करते हैं। वर्णनात्मक पद व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं होते, और ये जिस प्रकार से विशेषणों के उद्देश्य (विशेष्य) का निर्देश करते हैं वह इस कारण से निर्दिष्ट नहीं होता कि उसका 'विशिष्ट प्रकार का अमुक' (दि सो एण्ड सो) कह कर वर्णन किया जा रहा है, बल्कि

इसलिए क्योंकि यह अद्वितीय विशेपताओं का, जो कि इस वर्णनात्मक पद द्वारा व्यक्त होती हैं अद्वितीय धारक है। यदि टॉमी जोन्स का ज्येष्ठ पुत्र है, तो, 'जोन्स का ज्येष्ठ पुत्र' वाक्यांश टॉमी को व्यक्त करता है, इसलिए नही कि कोई (व्यक्ति) या अन्य (व्यक्ति) उसे 'जोन्स का पुत्र' पुकारते हैं वरन् इसलिए कि केवल वही जोन्स का पुत्र भी है और जोन्स के अन्य सभी पुत्रों में सबसे वड़ा है, और अन्य कोई ऐसा नहीं हो सकता। अर्थात् यह वर्णनात्मक पद व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं है वरन् एक विधेयात्मक पद है जो कि टॉमी के दोनों लक्षणों को निर्दिष्ट करता है, अर्थात् उसके जोन्स का पुत्र होने को और जोन्स के अन्य सभी पुत्रों में ज्येष्ठ होने को। यह टॉमी का केवल इस अर्थ में निर्देश करता है कि टॉमी और केवल टॉमी ही उन लक्षणों को धारण करता है।

इस पद का अर्थ किसी भी प्रकार से "टॉमी" नहीं है। जैसाकि हम देखेंगे, ऐसा मत पूर्णतः निरर्थक (अर्थहीन) होगा। इसका वही अर्थ है जो इस विधेयात्मक पद का है '....वह जोन्स का पुत्र भी है और उसके अन्य सभी पुत्रों से बड़ा भी है' और इस प्रकार यह स्वयं भी एक विधेयात्मक पद मात्र है। 'विधेयात्मक पदों से मेरा तात्पर्य कथन के उस अंश से है जिसकी वजह से किसी लक्षण या किन्हीं लक्षणों का उसमें होना व्यक्त किया जाता है। और किसी निश्चित लक्षणों को धारण करने वाला होने का अभिप्राय गुणों के विषयी होने से नहीं है वरन् यह है कि गुणों का कोई विपयी इसको धारण करता है और अन्यों में इसका अभाव रहता है। स्वयं के द्वारा न तो यह विषयी का नामकरण करता है जो लक्षण से युक्त होता है और न ही यह इस तथ्य को आकलित करता है कि कोई विषयी इससे युक्त होता है। वास्तव में यह अपने आप घटित भी नहीं हो सकता, वरन् केवल एक घटक के रूप में, अर्थात् एक सम्पूर्ण कथन में एक विधेयात्मक घटक की भाँति, घटित हो सकता है।

अतः इस सम्पूर्ण कथन का कि 'जोन्स के सबसे बड़े पुत्र का विवाह आज हुआ' यह तात्पर्य है कि 'कोई (अर्थात् टॉमी) १. जोन्स का पुत्र है, २. जोन्स के अन्य पुत्रों से बड़ा है (इसे और आगे भी उद्धरित किया जा सकता है), और ३. आज विवाहित हुआ है।

यह सम्पूर्ण कथन तब तक सत्य नहीं हो सकता जब तक कि तीन या अधिक घटक कथन सत्य न हों। लेकिन कोई ऐसा व्यक्ति है जिसके बारे में १ और २ दोनों सत्य है, यह केवल १ और २ के कथन मात्र से प्रमाणित नहीं हो जाता। (कोई भी कथन स्वयं की सत्यता का प्रमाण नहीं हो सकता) परिणामतः स्वरूप–निर्धारण करने वाले पद '........जोन्स का सबसे बड़ा पुत्र है' का तात्पर्य न तो टॉमी से इस अर्थ में है कि वह उसका व्यक्तिवाचक नाम है और न ही इस अर्थ में कि यह एक पद है जिसका बोध अपने में इस ज्ञान का समावेश करता है कि टॉमी में यह विलक्षण गुण है। यह टॉमी को केवल इसी अर्थ में निर्दिष्ट करता है कि जिससे उसे भलिभाँति जानने वाले श्रोता पहले से ही जान लेंगे कि टॉमी और केवल टॉमी में ही वास्तव में यह विलक्षण गुण है। लेकिन यह ज्ञान उस जानकारी का भाग नहीं है जो इस कथन को समझने के लिए अपेक्षित है कि 'जोन्स का ज्येष्ठ पुत्र आज विवाहित हुआ।' क्योंकि हम इसके तात्पर्य को विना यह जाने भी समझ सकते हैं कि टॉमी ही वह ज्येष्ठ पुत्र था या

वह आज विवाहित हुआ था। हमें जो कुछ जानना चाहिए वह इतना ही है कि कोई एक या अन्य का इस प्रकार से स्वरूप निर्धारित होना चाहिए ताकि सम्पूर्ण कथन सत्य हो सके।

एक कथन को समझने के लिए, या यह जानने के लिए कि किसी कथन का क्या तात्पर्य है यह जानना पर्याप्त नहीं है कि यह कथन इस तथ्य का आकलन करता है, वरन् यह जानना आवश्यक है कि, यदि यह कथन तथ्य का विवरण हो तब स्थिति क्या होगी। पृथक्कृत व्यक्ति-वाचक नाम अथवा पृथक्कृत एक-परक वर्णन का अर्थ कभी समझा नहीं जाता। क्योंकि या तो हम यह पहले से जानते हैं कि कोई व्यक्ति-विशेष किसी व्यक्ति द्वारा उस नाम से पुकारा जाता है, या यह कि वह उन विशिष्ट लक्षणों से युक्त है जो वर्णनात्मक पद द्वारा व्यक्त किए गये हैं, और इसकी यह अपेक्षा है कि हम नाम या विवरण और उस व्यक्ति--जिसका नाम लिया गया है या जिसका विवरण दिया गया है--दोनों से परिचित हैं। या फिर हम इन चीज़ों को नहीं जानते, और उस अवस्था में हम नहीं जानते कि क्या यह नाम कल्प-पद कोई नाम है, इसी प्रकार कि यह एक परक विवरण कल्प-पद किसी एक का वर्णन भी करता है? लेकिन हम उन कथनों को समझ सकते हैं जिनमें नाम कल्प-पद एक परक अनोखे विवरण कल्प-पद आते हैं: क्योंकि हम यह जान सकते हैं कि क्या अवस्था होगी यदि कोई इस प्रकार पुकारा जाय, या इस प्रकार वर्णित किया जाय, और कथन के विधेयों में व्यक्त लक्षणों से युक्त भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्णनात्मक पद संक्षिप्त विधेय पद होते हैं जिनका कार्य कथनों में वह घटक होना है या (अधिकांश में) उन घटकों में से एक होना है (जो कि सरल रूप से यह आकलित करते हैं कि कोई वस्तु किसी लक्षण या लक्षणों से युक्त है) जिनमें कि इस या उस लक्षण के होने को व्यक्त किया जाता है।

और यह सरलता से दूसरे दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है।

कोई भी ऐसे पद में जो एक परक (अंग्रेजी के 'दि' पद से आरम्भ होने वाला) है जो कि व्याकरण की दृष्टि से स्वभावतः वाक्य में उद्देश्य के रूप में घटित होता है, जैसे कि, 'ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का उपकुलपति'।

अब हम वर्णनात्मक वाक्यांशों को ज्यों का त्यों लेकर उन्हें निर्देश-रहित रूप में कथनों एवं अभिव्यक्तियों के व्याकरणीय-विधेयों के रूप में प्रयुक्त कर सकते हैं। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का वर्तमान उप-कुलपति कौन है'; 'अमुक श्रीमान् ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के वर्तमान उप-कुलपति हैं', 'जार्ज कारपेन्टर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के वर्तमान उप-कुलपति नहीं है', 'अमुक श्रीमान् या तो ऑक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय के उप-कुलपति हैं या वरिष्ठ प्रॉक्टर हैं', जो कोई भी ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का उप-कुलपति है उसे अधिक काम रहता है, आदि' तो अब यह पूरी तरह से स्पष्ट हो जाता है कि नकरात्मक, सोपाधिक एवं वैकल्पिक कथनों की अवस्थाओं में--जो इस सामान्य विधेया-त्मक पदों से युक्त हैं--यह सन्निहित नहीं है, या ध्वनित भी नहीं होता, कि कोई व्यक्ति है जो उप-कुलपति के पद को ग्रहण करता है अतएव यहाँ का अद्वितीयता--सूचक पद सर्वथा ही निर्देश शून्य है, बल्कि ऐसे निर्देश का आण्डम्बर भी इसमें नहीं है। यह एक अद्वितीयपरक लक्षण

को व्यक्त करता है, लेकिन इसकी यह विवक्षा नहीं है कि कोई इसे धारण करने वाला भी है। यह हमें पुनः अपने मूल निष्कर्ष पर पहुँचा देता है कि एक वर्णनात्मक पद का किसी भी अर्थ में न तो इस व्यक्ति से तात्पर्य है और न उस वस्तु से; या इसे दूसरे रूप में रखा जाय तो यह है कि हम उस कथन को समझ सकते है जिसमे कि वर्णनात्मक पद हों और फिर भी इस या उस गुणों के विषय को नहीं जान सकते है कि यह विवरण इसके लिए उचित है। (हाँ, इस स्थिति के लिए हमें शायद ही विवेचन की आवश्यकता हो। क्योंकि कोई भी–जिसमें बुद्धि के लिए थोड़ा भी आदर है–किसी व्यक्ति या वस्तु की ओर इंगित करके स्वप्न में भी यह कहना नहीं चाहेगा कि 'यह अमुक–अमुक पद का तात्पर्य है' या कि अमुक पद का तात्पर्य इन्फ्लूएन्जा से ग्रस्त है।' 'सुकरात एक तात्पर्य है' निरर्थक वाक्य है। पद निर्देश के बारे में यह सारा झगड़ा......इस धारणा से उत्पन्न होता प्रतीत होता है कि हम किसी वस्तु का वर्णन महत्वपूर्ण ढग से इस प्रकार कर सकते है जैसे 'य' पद का तात्पर्य' या 'जो कुछ भी 'य' पद का तात्पर्य है'। वास्तव में यह कहा जा सकता है कि एक वर्णनात्मक पद इस व्यक्ति या उस पहाड़ की ओर निर्देश करता है, या उन्हें अपने में अन्तर्भूत करता है, और इस मनुष्य या उस पर्वत का इस भाँति वर्णन किया जा सकता है कि जिसकी ओर "य" पद निर्देशित करे। लेकिन इसका मतलब केवल यही होगा कि यह मनुष्य या पर्वत उस लक्षण को धारण करने में अकेले ही हैं जिसका कि 'धारण करना इस विधेयात्मक वाक्याश में व्यक्त किया गया है '......' का अमुक–अमुक')।

यह सब हमें एक और व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदों के वर्ग की ओर ले जाता है। किन्तु वे एकपरक पद जिनका हम अध्ययन कर चुके है–चाहे व्याकरण मूलक उद्देश्य के रूप में आये हों या कथनों में विधेयों के रूप मे आकारतः भ्रामक नही थे। उन वाक्यों की व्याकरण रचना में कोई भी ऐसी बात नहीं थी जिसमें यह ध्वनित होता है कि आकलित तथ्य उस तार्किक रचना से भिन्न थे जिससे वे वास्तव में मुक्त थे।

पिछला तर्क कतिपय यथार्थ या सम्भाव्य दार्शनिक भ्रान्तियों की आलोचना के लिए अभिप्रेत था, किन्तु वे भ्रान्तियाँ वर्णनात्मक पदों के बारे में थीं न कि वर्णनात्मक पदों की स्वयं की भ्रामकता के कारण। स्थूल रूप से, वे भ्रान्तियाँ जिनको मैं दूर करने का प्रयत्न कर रहा हूँ ये मत है : १. कि वर्णनात्मक पद व्यक्तिवाचक संज्ञायें है, और २. कि वह वस्तु-जिसका कि एक वर्णन निरूपण करता है, वही है जो वर्णन द्वारा अभिप्रेत है। अब मैं दीर्घ अवान्तर चर्चा के बाद अपने प्रस्तुत विषय की ओर लौटूँगा और व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदों के एक अन्य वर्ग पर विचार करूँगा।

व्यवस्थित रूप से भ्रामक छद्म निर्देशात्मक एक–परक पद

१. साधारण भाषा–प्रयोग में बार–बार ऐसे पद मिलते है–जो यद्यपि प्रकटतः एक-परक होते है तथापि वे वास्तव में अद्वितीय निर्देशात्मक नहीं होते, हालाँकि उनकी व्याकरण रचना से ऐसा दिखाई पड़ता है मानों वे अद्वितीय विवरण हों। वह व्यक्ति–जिसका अमूर्ति-

करण या सामान्यीकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है–इनका प्रयोग बिना किसी दुविधा या भ्रान्ति के करता है और बिल्कुल ठीक तरह से जानता है कि उन वाक्यों का क्या तात्पर्य है जिनमें वे घटित होते हैं। लेकिन दार्शनिक को उनका पुनर्कथन बिल्कुल भिन्न एवं औपचारिक रूप से अधिक संयत शब्दों में करना पड़ता है यदि वह फँसना नहीं चाहता है तो।

जब एक वर्णनात्मक पद किसी वाक्य के व्याकरण परक उद्देश्य के रूप में औपचारिक रूप से अभ्रामक तरीके से प्रयुक्त होता है—जैसे 'राजा आज शिकार खेलने गया'—तो हम जानते हैं कि यदि यह पूरा का पूरा कथन ही सत्य (या असत्य भी) हो तो कम से कम विश्व में एक व्यक्ति होना चाहिए जिसकी ओर यह विवरण–'वह राजा'–निर्देश करता है या जिसके लिए प्रयुक्त होता है। और हम सार्थक रूप से यह पूछ सकते हैं कि 'राजा कौन है ?' और कि 'क्या वेल्स के राजकुमार का पिता एवं वह राजा एक ही व्यक्ति है ?

लेकिन हम देखेंगे कि साधारण बोल–चाल की भाषा में 'वह अमुक–अमुक' प्रकार के छद्म वर्णनात्मक पद जिनके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि विश्व में कोई भी और कुछ भी ऐसा नहीं होता जिसका उस रूप में वर्णन किया जा सके, जिसे वह निर्देशित करता है या जिसके लिए प्रयुक्त होता है, और इस तरह यह कि कुछ भी (वस्तु) या कोई भी (व्यक्ति) ऐसा नहीं है जिसके बारे में हम यह पूछ भी सकें कि 'क्या यह वह अमुक–अमुक है ?' या कि कि 'क्या वह और वह अमुक–अमुक एक ही व्यक्ति है ?'

यह अनेक प्रकार से हो सकता है। पहले यह कथन लीजिए, जो सत्य है और स्पष्टतः बुद्धिगम्य है, 'पाइनकैर फ्रान्स का राजा नहीं है'। प्रथम दृष्टि में यह कथन आकारतः इसके समान दिखाई देता है कि 'टॉमी जोन्स इंग्लैण्ड का राजा नहीं है (अर्थात् उससे अभिन्न नहीं है)।' परन्तु इन दोनों का भेद शीघ्र ही प्रकट हो जाता है। क्योंकि यदि उत्तरवर्ती कथन सत्य हो तो इसका विपर्यय 'इंग्लैण्ड का राजा टॉमी जोन्स नहीं है' सत्य होना चाहिए। यह कहना न तो सत्य है और न असत्य कि 'फ्रान्स का राजा पाइनकैर नहीं है' क्योंकि फ्रान्स का कोई भी राजा नहीं है। [अर्थात् वहाँ यह पद नहीं है] और 'फ्रान्स का राजा पद किसी के लिए भी उचित नहीं है'; और न ही उस साधारण व्यक्ति ने, जिसने यह कहा था कि 'पाइनकैर फ्रान्स का राजा नहीं है' इस विपर्यय पद को सोचा था। अतएव उक्त कथन में 'फ्रान्स का सम्राट' अन्य कथनों के 'इंग्लैण्ड का राजा' के सदृश नहीं है। इसे वस्तुतः किसी व्यक्ति विशेष के अद्वितीय परक वर्णन के लिए या, उसका निर्देश करने के लिए, बिल्कुल भी प्रयुक्त नहीं किया गया है।

अब हम तुलना किए गए वाक्यों की इस प्रकार पुनर्रचना कर सकते हैं जो कि उस अन्तर को उदघटित कर दे जिसे प्रथम तर्क वाक्यों ने आकलित तथ्यों के आकारों के बीच में छिपा दिया था।

'टॉमी जोन्स वही व्यक्ति नहीं है जो कि इंग्लैण्ड का राजा है' का वही तात्पर्य है जो इस कथन का है '१. कोई एक, जो अविशेषित है, और केवल एक ही टॉमी जोन्स कहलाता है; २. कोई व्यक्ति और केवल एक ही व्यक्ति, इंग्लैण्ड में राज्य–शक्ति संयुक्त है; और

३. कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो एक साथ ही टॉमी जोन्स भी हो और इंग्लैण्ड का सम्राट भी हो।' इस प्रकार मूल कथन तब तक सत्य नहीं हो सकता जब तक कि १. और २. सत्य न हों।

अब इसे लीजिए कि "पाइनकैर फ्रान्स का राजा नहीं है।" इसका वही तात्पर्य होगा जो इसका होगा कि '१. कोई एक व्यक्ति पाइनकैर कहलाता है और २. पाइनकैर को फ्रान्स के राजा का पद प्राप्त नही है।' और यह इसका कदापि समावेश नही करता कि किसी को भी यह पद प्राप्त है [और इससे यह भी व्यक्त नही होता कि किसी को भी यह पद प्राप्त है]।

कभी-कभी यह एक परक पदों का दुहरा प्रयोग-अर्थात् निर्देश नहीं करने वाला प्रयोग हमारे सामान्य भाषा-प्रयोग मात्र में असुविधाजनक हो जाता है। 'स्मिथ ही अकेला वह आदमी नहीं है जो कभी मान्ट ब्लैंक पर चढ़ा हो' का तात्पर्य किसी व्यक्ति द्वारा आसानी से यह लिया जा सकता है, जो इस वाक्य का अर्थ है कि 'एक व्यक्ति और केवल एक व्यक्ति ही मान्ट ब्लैक पर चढ़ पाया है, और वह स्मिथ नहीं है, और दूसरों द्वारा यह कि स्मिथ मान्ट ब्लैक पर चढ़ पाया है, किन्तु कम से कम एक और व्यक्ति भी ऐसा कर पाया है।' लेकिन मुझे ऐसे पदों की आकस्मिक सदिग्धता मे रुचि नही है वरन् इस तथ्य में है कि एक इस प्रकार का पद जिसका प्रयोग वस्तुतः निर्देश करने के लिए नही किया गया था, इस प्रकार से भी समझा जा सकता है मानों इसका प्रयोग अनिवार्यतः निर्देश करने के लिए ही किया जा सकता है या मानों कोई भी एक परक पद निर्देश करने के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है। दार्शनिक एवं वे अन्य लोग जिन्हें अमूर्तिकरण एव सामान्यीकरण करना पड़ता है, दो प्रकार के एक-परक पदों में शाब्दिक अनुरूपता के कारण पथभ्रष्ट हो जाया करते है क्योंकि उन्हें यह दिखाने के लिए कि प्रस्तुत एक-परक पद किसका निर्देश करता है, वस्तुओं को गढ़ना पड़ता है।

अब हम सबसे पहले ऐसे पदों पर विचार करेंगे जैसे 'उस पेड़ की चोटी' या 'उस झाड़ी का मध्यभाग' जो कि इस प्रकार के कथनों मे घटित होते है जैसे 'एक उल्लू उस झाड़ी के मध्य से होकर गुजर गया।' ये कथन बिल्कुल स्पष्ट (असंदिग्ध) है और उस बात को स्पष्टतया और सही ढंग से व्यक्त कर देते है जिसे इनके द्वारा व्यक्त करना अभिप्रेत है।

परन्तु चूँकि इनकी वाक्य रचना 'एक व्यक्ति उप-कुलपति के पास बैठा है' और 'मेरा तीर परदे में होकर गुजर गया' वाक्यों के अनुरूप है और पुनः चूँकि एक कितनी भी बड़ी सूची बनाई जा सकती है जिससे 'उस पेड़ की चोटी' और 'उस झाड़ी का केन्द्र', के समान एक-परक पद हों, इसलिए उन व्यक्तियों का इस बात को मानने के या विश्वास करने के प्रलो-भन से बचना बहुत कठिन हो जायगा कि ये एक परक पद ठीक उसी प्रकार वस्तुओं का निर्देश करते हैं। जिस प्रकार कि 'वह उप-कुलपति' और 'वह पर्दा' वस्तुओं का निर्देश करते है। और इसका अर्थ यह मानना या विश्वास करना हो जायगा कि 'उस पेड़ की चोटी' भी 'उस उप-कुलपति' की भाँति ही विशेषणों का उचित विशेष्य है।

परन्तु (उस अवस्था को छोड़ कर जहाँ कि पद का दुरुपयोग 'वह सबसे ऊँची शाखा'

या 'उस पेड़ की सबसे ऊँची पत्ती' पदों में किया गया हो) यह सहज ही मालूम पड़ जाता है कि 'उस पेड़ की चोटी' किसी भी वस्तु का निर्देश नहीं कर रहा है। विश्व में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसके लिए यह कह सकना सत्य (या असत्य ही) हो कि 'वह अमुक-अमुक पेड़ की चोटी है।' उदाहरण के लिए, यह पेड़ के किसी भाग का निर्देश नहीं करता, क्योंकि न तो इसे काटकर जलाया जा सकता था, या एक गुल-दस्ते में रक्खा जा सकता था। 'वह पेड़ की चोटी' पद किसी भी वस्तु को निर्दिष्ट नहीं करता अपितु यह एक विशेषण को व्यक्त करता है—अर्थात् एक सापेक्ष स्थिति रखने को—जब यह इस आकृति के कथनों में घटित होता है जैसे ''य' पेड़ की चोटी पर या उसके समीप या उसके ऊपर या उसके नीचे है।' इसे यदि अपरिष्कृत रूप में रखा जाय तो इसका अर्थ है कि यह किसी वस्तु को निर्दिष्ट नहीं करता अपितु किसी वस्तु के किसी विशेष स्थान पर होने को व्यक्त करता है, या फिर किसी वस्तु को व्यक्त नहीं करता अपितु किसी वस्तु के स्थान को व्यक्त करता है जैसे कि किसी शाखा या पत्ती के स्थान को, जो कि पेड़ की अन्य शाखाओं या पत्तियों से ऊँची है। परिणामतः यह कहना सार्थक है कि अब एक शाखा और अब दूसरी शाखा पेड़ पर सबसे ऊपर है। परन्तु 'पेड़ की चोटी पर' का तात्पर्य इससे अधिक नहीं है कि यह 'पेड़ के अन्य सभी हिस्सों से ऊँची' है और इस अन्तिम पद को कोई भी 'वह वर्तमान उप-कुलपति है' के समान निर्देश करने वाले पद के रूप में नहीं लेगा।

किसी वस्तु का स्थान या उसका विवरण वस्तु नहीं है वरन् इस तथ्य का अन्तिम छोर है कि कुछ वहाँ है। 'जहाँ मधुमक्खी मधुपान करती है वहीं मैं मधुपान करता हूँ' किन्तु यह तो रामपर्ण्य पुष्प है जो मधुमच है उसकी स्थिति विशेष्य नहीं। इन सबका यही मतलब है कि यद्यपि हम छद्म-वर्णनात्मक पदों का प्रयोग यह व्यक्त करने के लिए कि कोई वस्तु कहाँ है, कर सकते हैं तथापि हमें यह जान लेना चाहिए कि 'कोई वस्तु वहाँ है' यह उस वस्तु का सम्बन्ध मूलक लक्षण है न कि स्वयं में विशेष्य वस्तु।

मुझे लगता है कि बहुत सी देकार्तीय और शायद न्यूटन की भी, देश और काल सम्बन्धी घोर भूलें एक-परक पदों के व्यवस्थित रूप से भ्रामक लक्षण के कारण जिन्हें हम वस्तुओं के काल और स्थान निर्धारण के लिए प्रयुक्त करते हैं, जैसे 'य द्वारा अध्युषित स्थान' 'व द्वारा अनुसरित मार्ग', 'वह क्षण या समय जिस पर ज घटित हुआ है', उत्पन्न होते हैं। यह नहीं समझा गया कि ये तो पीछे लटके हुए विधेय पद हैं और साधारण तौर पर भी इन्हें ऐसे वर्णनात्मक पद नहीं माना है जिनका प्रयोग निर्देश करने के लिए किया जाता है, ठीक उसी प्रकार कि 'पाइनकैर फ्रान्स का राजा नहीं है' में 'फ्रान्स का राजा' को साधारणतया ऐसे समझा जाता है मानों यह निर्देश करने के लिए प्रयुक्त एक-परक पद हो।

एक और उदाहरण लें। 'अस्पताल जाने के विचार से जोन्स को घृणा है' 'अभी-अभी मुझे विचार आया कि छुट्टी मनानी चाहिए।' इन छद्म-वर्णनात्मक पदों से ध्वनित होता है कि विश्व में एक वस्तु है जो वही है जो कि 'अस्पताल जाने के विचार' पद से निर्दिष्ट होती है और एक दूसरी है जो 'छुट्टी होने का विचार' से निर्दिष्ट होती है। और इस भाँति किसी

हद तक इस तरह के पद की प्रकट व्याकरण-रचना के कारण दार्शनिकों ने ठीक श्रद्धाभाव से 'प्रत्ययों', 'धारणाओं', एवं 'विचारों' अथवा 'निर्णयों' में विश्वास कर लिया जिस प्रकार उनके पूर्वजों ने (समान कारणों से) आकारों की ठोस सत्ता में कर लिया था, या जैसे बच्चे समान कारणों से विषुवद्वृत्त, आकाश और उत्तरी ध्रुव में विश्वास करते हैं।

लेकिन यदि हम इन्हें दूसरे शब्दों में कहें तो इन पदों का कुछ भी साक्ष्य लॉक की राक्षसी विद्या के पक्ष में नहीं होगा। क्योंकि 'अस्पताल जाने के विचार से जोन्स को घृणा है' का केवल वही तात्पर्य है जो इसका है कि 'जोन्स को दुःख अनुभव होता है जब वह यह सोचता है कि अस्पताल जाने पर उस पर क्या बीतेगी।' अब यहाँ वाक्यांश '........का विचार' 'जब कभी भी वह (उसके बारे में) विचारता है तो......' में रूपान्तरित हो जाता है जो कि जोन्स और शायद अस्पताल के अतिरिक्त किसी भी अन्य सत्ता का निर्देश रखता हुआ प्रतीत भी नहीं होता। और इसकी सत्यता के लिए विश्व में एक जोन्स होना चाहिए जो कभी विचार कर रहा हो और कभी सो रहा हो; परन्तु इसके लिए 'जोन्स' और 'अमुक-अमुक का विचार या प्रत्यय' दोनों को रखना उसी प्रकार आवश्यक नहीं है जिस प्रकार यह कि इसमें कोई 'जोन्स' कहलाने वाला और कुछ वह जिसे निद्रा कहा जाता है, दोनों विद्यमान हों।

इसी प्रकार यह कथन कि 'छुट्टी लेने का विचार मुझे अभी आया है' व्याकरण की दृष्टि से इस कथन के सदृश दिखाई देता है कि 'उस कुत्ते ने मुझे अभी काटा है।' और क्योंकि यदि बाद का कथन सत्य है तो विश्व में मैं और कुत्ता दोनों विद्यमान होने चाहिएँ, इसलिए यह दिखाई देता है कि यदि पहला कथन सत्य है तो विश्व में मैं और 'छुट्टी लेने का विचार' दोनों भी विद्यमान होने चाहिए। लेकिन यह प्रतीति भ्रममात्र है क्योंकि जब मैं कुत्ते के विरुद्ध अपनी शिकायत किसी भी ऐसे वाक्य द्वारा दूसरे शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता जिसमें कि कोई ऐसा वर्णनात्मक पद न हो जो कुत्ते को निर्दिष्ट करता हो, मैं 'छुट्टी लेने के विचार' के बारे में कथन को आसानी से ऐसे वाक्यों में व्यक्त कर सकता हूँ जिसमें एतद्विषयक वर्णनपद घटित न हो, उदाहरण के लिए, इस कथन में कि 'मैं अभी सोच ही रहा हूँ कि मैं एक छुट्टी ले सकता हूँ।'

स्वयं तर्क-शास्त्र और ज्ञान-मीमांसा में इसी प्रकार की बहुत सारी त्रुटियाँ छद्म-वर्णनात्मक पद '"ब" पद के अर्थ' के विवेचन में भूल के कारण हुई है। मुझे सन्देह है कि कल्पनाओं, प्रत्ययों, पदों, निर्णयों, वस्तुनिष्ठ-तर्कवाक्यों, अंशों, उद्देश्यों आदि के गलत सिद्धान्त इस प्रकार की भ्रान्ति से उत्पन्न होते हैं, अर्थात् [इससे कि] कुछ वस्तु अवश्य होनी चाहिए जो ऐसे पदों द्वारा निर्दिष्ट होती है, जैसे '"य" शब्द पद का अर्थ', और यह वस्तु उस सिपाही के सर्वाङ्ग सम होनी चाहिए जो कि इस कथन में कि 'हमारे गाँव का सिपाही फुटबॉल का शौकीन है'—तद्विषयक वर्णनात्मक पद द्वारा निर्दिष्ट होता है। और इस भ्रान्ति से निकलने का उपाय यह देखने में है कि कतिपय एकपरक वाक्यांश निर्देश करने वाले वर्णनात्मक वाक्यांशों के अनुरूप व्याकरण की दृष्टि से तो होते है किन्तु क्रिया (व्यापार) में नहीं। उदाहरणार्थ, उस अवस्था में जिसका हम अध्ययन कर रहे हैं '"य" का अर्थ' 'पाइनकैर फ्रान्स का

राजा नहीं है' वाक्य में–'फ्रान्स का राजा' पद के समान है, जो कि एक वर्णनात्मक पद है जिसका उपयोग निर्देश करने के लिए नहीं किया गया है।

और, निश्चय ही साधारण मनुष्य जब ऐसे कथन वाक्यों का प्रयोग करता है जिनमें कि ऐसे पद होते हैं जैसे '"य" का अर्थ' तब इस भ्रम में नहीं होता कि कोई ऐसी विचित्र वस्तु है जिसका कि इस वाक्य में निर्देश किया जा रहा है : यह उसके मस्तिष्क में नहीं आता कि उसके पद को निर्देश करने वाले वर्णनात्मक पद के रूप में समझ लिया जायेगा। अतः वह दार्शनिक त्रुटि या भ्रम का दोषी नहीं होता। फिर भी उसके शब्दों का रूप व्यवस्थित रूप से भ्रामक है। क्योंकि एक तार्किक आकार का महत्वपूर्ण भेद व्याकरण की दृष्टि से–'गाँव का सिपाही विश्वसनीय है' और '"य" का अर्थ सन्देहास्पद है'—इन दोनों की अनुरूपता के कारण छुप जाता है, या पुनः इन दोनों में कि 'मैं अभी–अभी गाँव के सिपाही से मिला हूँ' और कि 'मैं अभी–अभी "य" का अर्थ समझा हूँ।'

परिणामतः—क्योंकि ऐसी कोई वर्ण्य वस्तु नहीं है जो 'य का अर्थ' पद से निर्देशित की जाती हो इसलिए इस प्रकार की वस्तुओं के अस्तित्व के स्वरूप के बारे में प्रश्न निरर्थक हैं। यह विवेचन करना कि शब्दों (अर्थात् 'संकल्पनाओं या 'सामान्यों') के अर्थ आत्मनिष्ठ हैं या वस्तुनिष्ठ, या वाक्यों अर्थात् 'निर्णयों' या 'उद्देश्यों' के अर्थ आत्मनिष्ठ हैं या वस्तुनिष्ठ, उतना ही व्यर्थ होगा जितना कि यह विवेचन करना कि विषुवद्वृत्त या आकाश आत्मनिष्ठ हैं या वस्तुनिष्ठ; क्योंकि ये प्रश्न स्वयं ही किसी भी वस्तु के बारे में नहीं हैं।

किन्तु यह सब हमें उन वाक्यों का बुद्धिमत्तापूर्वक और बोधगम्य रूप से प्रयोग करने से नहीं रोकता जिनमें कि '"य" का अर्थ' जैसे पद हों और जहाँ कि इनकी इस प्रकार पुनः रचना की जा सके जैसे '"य" से क्या तात्पर्य है ?' क्योंकि यहाँ एकपरक विधेयात्मक रूप से प्रयुक्त हुआ है, एक अद्वितीयपरक की भाँति नहीं। '"य" का अर्थ "व" के अर्थ के समान है' इस कथन के बराबर है कि '"य" से वही अभिप्रेत है जो "व" से है और इसे सत्ताओं को बढ़ाने के प्रलोभन बिना समझा जा सकता है।

किन्तु अन्ततः यह तर्क विशिष्ट प्रकार के छद्म वर्णनों के बारे में है।

२. एकपरक पदों के प्रयोग का एक और वर्ग भी है जो दार्शनिक रूप से अशुद्ध रचनाओं को उत्पन्न कर सकने में समर्थ है, हालाँकि मैं निश्चित नहीं हूँ कि मैं किन्हीं भी ऐसी वास्तविक त्रुटियों के अच्छे उदाहरणों को याद कर सकता हूँ जो इस स्रोत से उद्भूत हुए हों।

मानलो मैं कहता हूँ कि 'मजदूर दल की हार ने मुझे आश्चर्यान्वित किया है', तो इस कथन की पुनः रचना इस वाक्य द्वारा की जा सकती है कि 'यह तथ्य कि मजदूर दल हरा दिया गया है, और मैं आश्चर्यान्वित हूँ कि यह हार गया है।' यहाँ एकपरक पद किसी वस्तु की ओर निर्देश नहीं करता अपितु किसी के किसी प्रकार का होने का संक्षिप्त कथन करता है। और यह प्रचलित एवं सुविधाजनक मुहावरा है। हम हमेशा यह कहने की बजाय कि 'चूँकि अ ब है, अतः स द है' यह कह सकते हैं कि 'स का द पन, अ के ब पन के कारण है।'

'सर्दी की अधिकता गोभी के ऊँचे भाव के लिए जिम्मेदार है' का वही तात्पर्य है जो इसका है कि 'गोभी बहुत मँहगी है क्योंकि सर्दी कड़ाके की थी।'

लेकिन यदि मैं कहूँ कि 'मजदूर दल की हार १६३१ में हुई' तो मेरा एकपरक पद एक घटना का वर्णन करने के लिए निर्देश करने वाले पद की तरह प्रयुक्त हुआ है, किसी तथ्य के संक्षिप्त आकलन के रूप में नहीं। क्योंकि घटनाएँ समय विशेष पर घटित होती हैं, तथ्य समय विशेष में घटित होते, इसलिए व्याकरण की दृष्टि से समान दीखने वाले कथनों-'मजदूर दल की हार ने मुझे आश्चर्यान्वित किया' एवं 'मज़दूर दल की हार १६३१ में हुई'—में जो तथ्य आकलित किए गए हैं वे तार्किक आकार में बिल्कुल भिन्न हैं। और ये दोनों प्रकार के ही तथ्य स्वभाव में इस तीसरे तथ्य से बिल्कुल भिन्न हैं जो इस वाक्य में आकलित किया गया है कि 'मज़दूर दल की जीत ने मुझे आश्चर्यान्वित किया होता।' क्योंकि यह न तो किसी घटना को निर्दिष्ट करता है, और न ही इस तथ्य का आकलन करता है कि मजदूर दल जीता था, वरन् कहता है कि 'यदि मजदूर दल जीत गया होता तो मुझे आश्चर्य हुआ होता।' अतएव यहाँ एकपरक पद भूमिकात्मक......है। और एक बार फिर, ये एकपरक पदों के तीनों ही प्रयोगों के अर्थ प्रकारतः इससे भिन्न हैं कि आगे के चुनाव में 'अनुदार दल की हार हो सकती है', या 'सम्भव' या असम्भव है। क्योंकि इनका तात्पर्य है कि 'प्राप्त सम्बद्ध आँकड़े इसके पक्ष में हैं' या 'इससे असङ्गत नहीं हैं' या 'इससे असंगत हैं' कि अनुदार दल की हार अगले चुनावों में हो सकती है।

इस प्रकार से कम से कम ये चार प्रकार के तथ्य हैं जिन्हें साधारण भाषा-प्रयोग में आसानी से और उपयुक्त रूप से कथनों में आकलित किया जा सकता है जिनमें व्याकरण की दृष्टि से भेद रहित एकपरक पद हों। परन्तु उन्हें इस प्रकार के शब्दों द्वारा दोहराया जा सकता है जो अपनी स्वयं की विशेष व्याकरण सम्बन्धी रचना द्वारा विभिन्न प्रकार के आकलित तथ्यों की अनेक तार्किक संरचनाओं को प्रदर्शित नहीं करते हैं।

३. अन्त में मुझे व्यवस्थित रूप से भ्रामक एकपरक पद के एक और वर्ग का केवल मात्र वर्णन करना चाहिए। हम कह सकते हैं कि 'ह्वेल एक मछली नहीं है—अपितु स्तनपायी है' और 'सच्चा अंग्रेज दूषित खेल को नापसन्द करता है' तथ्यों का अकालन करते हैं। लेकिन ये कथन 'इस ह्वेल' का या 'उस अंग्रेज' के बारे में नहीं है, और वे तब भी सत्य हो सकते हैं यदि कोई भी ह्वेल नहीं होती या सच्चे अंग्रेज नहीं होते। शायद, ये छद्मवेषी प्राक्कल्पनात्मक कथन हैं। परन्तु मैं जो बताना चाहता हूँ वह यह है कि कथन स्पष्टतः छद्म-वेषी है।

मैंने इन तीन मुख्य प्रकार के व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदों का चयन इसलिए किया है क्योंकि ये सभी समान रूप से किसी न किसी दिशा में भ्रामक हैं। ये सभी नये प्रकार की वस्तुओं के अस्तित्व को सुझाते हैं, या यदि इसे दूसरी तरह से कहा जाय तो यह कहा जायगा कि ये सभी हमें 'सत्ताओं को बढ़ाने' का प्रलोभन देते हैं। प्रत्येक में—छद्म सत्तात्मक, छद्म प्लेतोनीक और छद्म वर्णनात्मक पदों में—एक पद का अशुद्ध अर्थ किसी वस्तु को व्यक्त करने

के लिए कर लिया जाता है जब कि वास्तव में वह पद किसी वस्तु को व्यक्त नहीं करता, लेकिन केवल व्याकरण की दृष्टि से उन पदों के जैसा प्रतीत होता है जिन्हें किसी वस्तु को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है । अतः मेरे मत में ओकम का नुस्खा यह था कि 'उन सभी पदों को, जो व्याकरण की दृष्टि से व्यक्तिवाचक संज्ञायें, या निर्देश करने वाले एकपरक पदों जैसे हैं ऐसे मत प्रयुक्त करें मानों वे इसीलिए वास्तव में व्यक्तिवाचक संज्ञायें या निर्देश करने वाले एकपरक पद हैं ।

लेकिन कुछ अन्य प्रकार के भी व्यवस्थित रूप से भ्रामक पद हैं जिनमें से मैं कुछ एक का जो मुझे याद आ रहे हैं, केवल नाम मात्र ही यहाँ लूँगा । 'जोन्स एक कथित खूनी है', या 'एक खूनी है', 'स्मिथ एक सम्भाव्य लॉर्ड मेअर है', 'रोबिन्सन एक प्रकट, या प्रतीत होने वाला, या कृत्रिम या छद्म या मिथ्या नायक है', 'ब्राउन या तो भविष्य में होने वाला या अतीत में रहने वाला पार्लियामैण्ट का सदस्य है', आदि-आदि । इन कथनों से जो ध्वनित होता है वह वस्तुतः उनका तात्पर्य नहीं है, अर्थात् उद्देश्य पद किसी विशिष्ट प्रकार के खूनी, या लॉर्ड मेअर, या नायक या पार्लियामैंट के सस्दय के नाम थे । लेकिन एक कथित खूनी होना खूनी होने को अर्थापतित नहीं करता, और न ही एक सम्भाव्य लॉर्ड मेअर उसके लॉर्ड मेअर होने को अर्थापतित करता है ।

'जोन्स प्रसिद्ध है' से ध्वनित होता है कि प्रसिद्ध होना बुद्धिमान होने के जैसा है, जो कि एक गुण है; लेकिन वास्तव में यह एक सम्बन्ध मूलक लक्षण है, और एक ऐसा लक्षण है जो सीधे जोन्स को विशेषित नहीं करता, अपितु उन लोगों को करता है जो जोन्स को चाहते हैं । और इसलिए 'जोन्स प्रसिद्ध है' का तात्पर्य वही है जो इस वाक्य का है कि 'बहुत से लोग जोन्स को चाहते हैं और ऐसे लोगों की संख्या उन लोगों की संख्या से अधिक है जो या तो उसे नहीं चाहते या उसके प्रति उदासीन हैं ।'

लेकिन मैं सोचता हूँ कि मैं यह दिखाने के लिए काफी उदाहरण दे चुका हूँ कि पद किस प्रकार अपने वास्तविक अर्थ से बिल्कुल भिन्न अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होते हैं जो कि वास्तव में उनका अर्थ होता है और परिमाणतः मैं दिखा चुका हूँ कि किस प्रकार कुछ पद व्यवस्थित रूप से भ्रामक होते हैं ।

अतः अब मैं यह मान कर चल सकता हूँ कि निम्न निष्कर्ष सिद्ध किये जा चुके हैं : (१) कि जो कुछ भी एक पद में व्यक्त किया जाता है वही बहुधा व्याकरण की दृष्टि से बिल्कुल भिन्न प्रकार के पदों द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है, और (२) कि दो पदों में से—जिनमें प्रत्येक का वही अर्थ है जो दूसरे का है—जो व्याकरण की दृष्टि से अलग-अलग तरह के होते हैं, एक दूसरे की अपेक्षा बहुधा व्यवस्थित रूप से अधिक भ्रामक होता है ।

और इसका अर्थ यह है कि जब कि एक तथ्य या परिस्थिति का व्याकरण की दृष्टि से असंख्य प्रकार के कथनों द्वारा आकलन किया जा सकता है, तो यह किसी एक में दूसरों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से व्यक्त किया जाता है । आदर्श, जो कि चाहे कभी भी प्राप्त न किया जा सके, यही है कि इसे पूर्णतः अ-भ्रामक शब्दों में व्यक्त किया जाना चाहिए । अब,

जब हम एक प्रकार की अभिव्यक्ति को दूसरी की अपेक्षा अच्छा कहते हैं तब हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि यह अधिक सुरचित संक्षिप्त या परिचित या साधारण सुननेवालों के लिए सुबोध गम्य है, अपितु यह है कि यह अपनी व्याकरण परक रचना के द्वारा उस तथ्य या परिस्थिति के तार्किक रूप को, जिसका आकलन किया जा चुका है, एक ऐसे अङ्ग से प्रदर्शित करती है जिसमें कि अन्य वाक्य असफल रहते हैं।

किन्तु तथ्यों के तार्किक रूप को अधिकाधिक उपयुक्त ढ़ंग से प्रदर्शित करने में प्रत्येक व्यक्ति की अभिरुचि नहीं है, अपितु केवल दार्शनिक की है।

अब मैं कुछ उपर्युक्त विमर्श के परिणाम स्वरूप उत्पन्न समस्याओं को उठाना चाहूँगा, यद्यपि उनके हल का प्रयत्न नहीं करूँगा।

१. मानलें कि एक प्रकार की व्याकरण--रचना के वाक्य किसी एक प्रकार के तार्किक-रूपवाले तथ्यों, और केवल उन्हीं तथ्यों, के लिए उचित (या किसी भी तरह लगभग उचित) है तो क्या व्याकरण के रूपों का तार्किक-रूपों से यह औचित्य का सम्बन्ध प्राकृतिक है या पारम्परिक ?

मैं इस सिद्धान्त में—जो विट्गैन्सटाइन और उसके अनुयायी तार्किक-व्याकरण-शास्त्रियों का प्रतीत होता है—विश्वास नहीं करता कि जो एक पद को एक तथ्य के लिए अधिकारिक रूप से उचित बनाता है वह वाक्य और तथ्य की संरचना के बीच का कोई वास्तविक और अपारम्परिक चित्रण सम्बन्ध है।

क्योंकि मैं यह नहीं देख पाता कि कैसे कुछ विशिष्ट रूप से चुनी गयी अवस्थाओं के छोटे वर्ग को छोड़ कर—एक तथ्य या परिस्थिति को संरचना में एक वाक्य, इंगित या चित्र के समान या असमान माना जा सकता है। क्योंकि एक तथ्य अंशों का समूह—क्रमबद्ध किया हुआ समूह भी--उस रूप में नहीं है जिसमें कि एक वाक्य शब्दों का एक व्यवस्थापित समूह है। एक तथ्य कोई वस्तु नही है और इसीलिए एक व्यवस्थित वस्तु भी नही है। निश्चित रूप से एक मानचित्र एक देश के समान या रेल की लाइनों की व्यवस्था के समान हो सकता है, और इसकी भी अपेक्षा अधिक साधारणीकृत और शिथिल अर्थ में एक वाक्य, ध्वनियों की एक व्यवस्थित शृंखला के रूप में, यातायात के प्रवाह में गाड़ियों की पंक्ति के समान, अथवा सप्ताह में दिनों की शृंखला के समान हो सकता है।

परन्तु सुकरात के गुस्से में होने या इस तथ्य में कि या तो सुकरात समझदार था या प्लेटो बेईमान था, में अंशों की कोई शृंखला नहीं देख पाता जिससे कि वाक्य के अवयवों की शृंखला को इसके समान सामान्य संरचनात्मक योजना का माना जा सके। लेकिन हो सकता है कि यह कठिनाई मेरी नासमझी के कारण हो।

दूसरी ओर, इस विकल्प को स्वीकार करना भी इतना आसान नहीं दिखाई देता कि केवल मात्र परम्परा के कारण ही एक प्रदत्त व्याकरण मूलक रचना एक प्रकार के तार्किक आकार के तथ्यों के लिए विशेष रूप से समर्पित है। क्योंकि, वस्तुतः प्रचलित प्रयोग तो व्यवस्थित

रूप से भ्रामक पदों की ओर पूर्ण रूपेण सहिष्णु हैं। और फिर यह स्पष्ट करना कठिन है कि भाषा की उत्पत्ति में किस प्रकार हमारे अदार्शनिक पूर्वजों ने यह निर्धारित किया होगा कि एक विशिष्ट व्याकरण रचना विशिष्ट तथ्यों की संरचना के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि सम्भवतः अमूर्त तार्किक रचनाओं का अध्ययन वाक्य रचना के सामान्य प्रयोगों की अपेक्षा पीछे की उपज है।

फिर भी मेरा वर्तमान मत यह है कि व्याकरण-मूलक रचना की तार्किक रचना से अनुरूपता अधिकांश में प्राकृतिक की अपेक्षा पारम्परिक अधिक है : हालांकि मैं न तो इसे एक मनमानी का या एक 'सुचिन्तित' योजना का प्रभाव मानता हूँ।

२. अब अगला प्रश्न यह है कि : हम विशेष अवस्थाओं में यह कैसे पता लगायें कि एक पद व्यवस्थित रूप से भ्रामक है या नहीं ? मैं सोचता हूँ कि इसका उत्तर इस प्रकार होगा : हम 'श्रीमान् पिकविक एक कल्पित व्यक्ति हैं' और 'विषुवद्वृत्त भूमण्डल के चारों ओर है' के समान वाक्य रचनाओं को देखते है, समझते हैं और उनकी उपयुक्तता में विश्वास भी करते हैं। और हम जानते हैं कि यदि ये रचनाएँ वही कह रही हों जो ये कहती हुई प्रतीत होती है तो इनसे कुछ अन्य तर्क वाक्य अनुगमित होंगे। लेकिन मालूम यह हुआ है कि 'श्रीमान् पिकविक अमुक-अमुक साल में पैदा हुए थे' और 'विषुवद्वृत्त-अमुक मोटाई का है' जैसे तर्क वाक्य न केवल असत्य हैं अपितु व्याख्या करने पर प्रतीत होता है कि ये किसी बात में इनके विपरीत भी हैं जिनके कि ये तार्किक परिणाम हैं। अतः इसका हल यही रह जाता है कि यह समझ लिया जाये कि एक काल्पनिक व्यक्ति का होना किसी विशेष प्रकार के व्यक्ति का होना नहीं है, और उस अर्थ का जिसमें कि विषुवद्वृत्त पृथ्वी की मेखला है यह तात्पर्य नहीं है कि यह कोई वास्तविक अंगूठी या पट्टिका नहीं है जो पृथ्वी को चारों ओर से घेरे हुए है। और इसका मतलब यह समझ लेना है कि मूल तर्क वाक्य वह बात नहीं कह रहे थे जो वे प्रथम व्याख्या में कहते हुए प्रतीत हो रहे थे। तर्काभास इस बात के प्रमाण हैं कि एक पद व्यवस्थित रूप से भ्रामक है।

तो भी व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदों में उस रूप में कोई वदतो व्याघात नहीं होता जिस रूप में वे अभिप्रेत होते हैं और समझे जाते हैं। वास्तव में लोग तब तक दार्शनिक रूप से निरर्थक बात नहीं करते जब तक कि वे दार्शनिक कार्य नहीं कर रहे हों या, जो एक बिल-कुल भिन्न चीज है, जब तक कि वे अर्थ बहुल नहीं हो रहे हों। वे यह करते हैं कि वे ऐसे पदों का प्रयोग करते हैं जो किसी भी कारण—जो कि अधिकांश में शब्द लाघव, संक्षिप्त और सरलता की इच्छा ही होती है—आकलित तथ्यों की संरचना को प्रदर्शित करने की अपेक्षा उन्हें छिपा देते हैं। और हम इन संरचनाओं को प्रकट करने के लिए ही अमूर्तिकरण और सामान्यीकरण करते हैं। ये अमूर्तिकरण और सामान्यीकरण की विधा में दार्शनिक व्याख्या के प्रारम्भ होने से पहले घटित होते है। हाँ, यह अवश्य दिखाई पड़ता है कि उनके परिणाम दर्शन की विषय वस्तु हैं। दार्शनिकीकरण से पहले का अमूर्त चिन्त तो सर्वदा व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदों द्वारा पथ भ्रष्ट कर ही दिया जाता है, किन्तु दार्शनिक अमूर्ततः चिन्तन भी, जिसका

कि मुख्य कार्य इस बीमारी का उपचार करना है, वास्तव में इसकी ही बलि चढ़ जाता है।

३. व्यवस्थित रूप से भ्रामक पदों के सम्भाव्य प्रकारों के वर्गीकरण का, या उनकी एक सर्वतः पूर्ण सूची दे देने का, कोई ढंग मुझे मालूम नहीं है। फिर भी मैं कल्पना करता हूँ कि उनकी संख्या सिद्धान्ततः अनन्त है, लेकिन प्रचलित एवं आग्रह-ग्रस्त प्रकारों की संख्या थोड़ी ही है।

४. मुझे यह सिद्ध करने का कोई ढंग ज्ञात नही है कि कोई पद व्यवस्थित रूप से बिल्कुल भ्रामक नहीं है। अभी तक विप्रतिषेधों (antinomies) का न उठना यह सिद्ध नही करता कि वे कभी भी नहीं उठेंगे। हम यह जान सकते है कि दो पद 'य' और 'व' में से—जो कि एक ही तथ्य का आकलन करते हैं—'य' 'व' की अपेक्षा कम भ्रामक है, किन्तु यह नहीं कि स्वयं 'य' में सुधार सम्भव नहीं है।

५. अतः दर्शन के लिए यह आवश्यक है कि यह व्यस्थित पुनः रचनाएँ करे। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह भाषा-विज्ञान या साहित्यिक आलोचना का एक विभाग है।

दार्शनिक पुनारचना एक संज्ञा के स्थान पर दूसरी संज्ञा या क्रिया का प्रतिस्थापन नहीं है। उसमें तो कोषकार एवं अनुवादक अधिक उत्कृष्ट प्रमाणित होते है। इसकी पुनारचनाएँ वाक्य रचना के रूपान्तरण होते हैं और वाक्य रचना के ऐसे रूपान्तरण होते हैं जो कि लालित्य या शैली के सही होने की इच्छा से नियन्त्रित नहीं होते अपितु उन तथ्यों के रूपों को प्रकट करने की इच्छा से नियन्त्रित होते है जिनको जानने का दर्शन प्रयत्न करता है।

तो अब मैं निष्कर्षरूप में कहना चाहता हूँ कि आखिरकार एक अर्थ में हम भली-भाँति अन्वेषण कर सकते हैं और यह भी कह सकते है कि 'अमुक कहने का वस्तुतः क्या अर्थ है।' क्योंकि हम पूछ सकते हैं कि आकलित तथ्य का वास्तविक आकार क्या है जबकि यह छिपा हुआ हो या छद्मवेष में हो और प्रस्तुत पद द्वारा सम्यक् रूप से प्रदर्शित न किया गया हो। और हम इस तथ्य को बहुधा नये शब्दों के रूप में वर्णन करने में सफल हो जाते हैं जो उसे प्रदर्शित कर देता है जिसे कि पूर्व शब्दरूप प्रदर्शित करने में असफल रह गया था।। और इस समय मैं यह विश्वास करना चाहता हूँ कि यही दार्शनिक व्याख्या है और यही दर्शन का एक मात्र कार्य है। लेकिन मैं अब इस समस्या का विवेचन नहीं करना चाहता।

लेकिन चूँकि आत्म-स्वीकृति आत्मा के लिए उपकारक है, अतः मुझे मानना चाहिए कि मैं स्वयं उन निष्कर्षो से सन्तुष्ट नहीं हूँ जिनकी ओर मेरे उक्त निष्कर्ष संकेत करते हैं। मै दर्शन को पद प्रयोगों के स्रोत खोजने की अपेक्षा, जो कि बार-बार घटित होने वाली भ्रामक रचनाओं और मूर्खतापूर्ण सिद्धान्तों के जनक हैं, उत्कृष्टतर कार्य सौंपना चाहूँगा। किन्तु मुझे इस बात में बिल्कुल सन्देह नही है कि दर्शन का कम से कम यह कार्य तो है ही।

तत्त्वमीमांसा क्या है ?

मार्टिन हाइडेग्गर

"तत्त्वमीमांसा क्या है ?" इस प्रश्न से यह आशा होती है कि तत्त्वमीमांसा के विषय में विमर्श होगा। परन्तु यह हमारा उद्देश्य नहीं है। इसके स्थान पर हम एक निश्चित तत्त्वमीमांसात्मक प्रश्न पर विचार करेंगे। इस प्रकार, जैसा आगे प्रतीत होगा, हम सीधे तत्त्वमीमांसा की भूमि पर उतरेंगे। केवल इसी रूप में हम वास्तव में इस सम्भावना को उत्पन्न कर सकेंगे कि तत्त्वमीमांसा स्वयं अपने लिए बोल सके।

हमारा कार्य एक तत्त्वमीमांसात्मक प्रश्न के प्रस्तुतीकरण से प्रारम्भ होता है, फिर इस प्रश्न के विकास की ओर अग्रसर होता है, तथा उसके उत्तर के साथ समाप्त हो जाता है।

एक तत्त्वमीमांसात्मक प्रश्न का प्रस्तुतीकरण स्वस्थ सामान्य बुद्धि के दृष्टिकोण से, दर्शन, हेगेल के अनुसार, "अपने सिर के बल खड़ा हुआ संसार है"। अतः हमारे कार्य की विशिष्ट प्रकृति किसी प्रारम्भिक परिभाषा की अपेक्षा रखती है। यह अपेक्षा तत्त्वमीमांसात्मक जिज्ञासा की दोहरी प्रकृति का परिणाम है।

प्रथम, प्रत्येक तत्त्वमीमांसात्मक प्रश्न, सदैव तत्त्वमीमांसात्मक समस्याओं की पूरी शृंखला को समाहित कर लेता है। प्रत्येक दशा में वह स्वयं एक पूर्ण है। द्वितीय, प्रत्येक तत्त्वमीमांसात्मक प्रश्न केवल इस प्रकार ही प्रस्तुत किया जा सकता है कि प्रश्नकर्ता स्वयं प्रश्न करने की प्रक्रिया मात्र में स्वतः अन्तर्ग्रस्त हो जाता है।

इससे हम निम्न संकेत प्राप्त करते हैं: तत्त्वमीमांसात्मक प्रश्न को समग्र के रूप में ही प्रस्तुत करना होगा तथा उसको सदा उस अस्तित्व की तात्त्विक स्थिति पर आधारित करना होगा, जो उसे प्रस्तुत करता है। यहाँ और इस समय हम प्रश्न करते हैं, अपने ही कारण। हमारा अस्तित्त्व—वैज्ञानिक, शिक्षक तथा विद्यार्थियों का समाज—विज्ञान से शासित है। अब, जबकि विज्ञान हमारी अभीप्सा बन गया है, हमारे अस्तित्व के आधारों में, हमारे साथ किस प्रकार की तात्त्विक बातें घट रही हैं ?

विज्ञानों के क्षेत्र एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। उनकी पद्धतियाँ मूलतः भिन्न हैं। शास्त्रों की विछिन्न विविधता आज केवल विश्वविद्यालयों तथा उनके संकायों के तकनीकी संगठन के द्वारा ही परस्पर गठित हैं, और उन संकायों के व्यावहारिक लक्ष्यों के द्वारा अर्थ की एक इकाई के रूप में रक्षित हैं। परन्तु इसके विपरीत विज्ञानों का मूल, उनके तात्त्विक आधार में, कृशकृत हो गया है।

और फिर भी—जहाँ तक हम उनके अत्यन्त विशिष्ट लक्ष्यों को समझते हैं—सभी विज्ञानों में हम जो–है से सम्बन्धित हैं। सुनिश्चिततः विज्ञानों के दृष्टिकोण से कोई क्षेत्र किसी अन्य क्षेत्र की अपेक्षा प्रधानता प्राप्त नहीं करता और न ही प्रकृति इतिहास पर अथवा इतिहास प्रकृति पर प्रधानता प्राप्त करता है। कोई एक पद्धति किसी अन्य पद्धति से श्रेष्ठ नहीं है। भाषा–वैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक ज्ञान की तुलना में गणित का ज्ञान अधिक संनियमित नहीं होता। उसकी विशेषता केवल "सुनिश्चितता" है, जिसे संनियमितता से अभिन्न नहीं समझना चाहिए। इतिहास से सुनिश्चितता की अपेक्षा रखना, मानवीय विज्ञानों से सम्बन्धित संनियमितता के प्रकार की धारणा का अतिक्रमण होगा। सभी विज्ञानों में तत्सम्बन्धी जो सांसारिक-सम्बन्ध व्याप्त है, वह विज्ञानों को जो–है के निजत्व को खोजने के लिए, इस दृष्टि से बाध्य करता है, कि वह उसे, उसकी किमता [Wasgehalt] तथा उसकी अवस्था [Seinart] के अनुरूप अनुसन्धान का और आधारभूत परिभाषा का विषय बनाये। यदि आदर्श रूप में कहें, तो विज्ञानों की जो भी उपलब्धि है, वह सभी वस्तुओं की तात्त्विक प्रकृति के अनुरूप होना है।

जो--है के निजत्व के प्रति यह सुस्पष्ट सांसारिक--सम्बन्ध, हमारे मानवीय अस्तित्व के द्वारा स्वतन्त्र रूप में चुनी गई दृष्टि से रक्षित तथा निर्दिष्ट है। यह सत्य है कि मनुष्य की वे क्रियाएँ जो विज्ञान से पूर्व की है जो विज्ञान के अतिरिक्त हैं, वे भी जो--है से सम्बद्ध हैं। किन्तु विज्ञान की विशिष्टता इस तथ्य में निहित है कि, एक नितान्त विशिष्ट रूप में, केवल वह तथा वही, व्यक्त रूप में स्वयं विषय को प्रथम तथा अन्तिम शब्द कहने की अनुज्ञा देता है। प्रमाण, परिभाषा तथा जिज्ञासा की इस वस्तुनिष्ठता में, जो-है के प्रति, एक प्रकार की सीमित अधीनता है, जिस से जो--है स्वयं को प्रकट करे। विज्ञान द्वारा अपनाई गई यह अधीन दृष्टि एक ऐसी सम्भावना का आधार बन जाती है, जिसमें विज्ञान स्वतः, यद्यपि सीमित रूप में, नेतृत्व प्राप्त कर लेता है। विज्ञान का सांसारिक–सम्बन्ध और उसके लिए उत्तरदायी मनुष्य की दृष्टि, स्पष्टतः, केवल तभी पूर्णतया समझी जा सकती है, जब हम यह देख लेते और समझ लेते हैं कि इस प्रकार स्वीकृत सांसारिक--सम्बन्ध में क्या घट रहा है। मनुष्य–जो विभिन्न सत्ताओं में से एक सत्ता [Sciendes] है—विज्ञान का "अनुशीलन करता है।" इस "अनुशीलन" में जो कुछ घटित हो रहा है वह उस विशिष्ट सत्ता, जिसे "मनुष्य" कहते हैं, के जो--है की समग्रता में, उद्भेदन से कम नहीं है। यह उद्भेदन इस प्रकार से होता है कि इसमें तथा इसके द्वारा जो--है, वह स्वयं को वह जो है और जैसा वह है, के रूप में अभिव्यक्त करता है। यह उद्घाटक उद्भेदन जिस प्रकार से होता है, वह ऐसी प्रमुख स्थिति है जो जो--है के जो वह है, बनने में सहायक होती है।

सांसारिक--सम्बन्ध, दृष्टिकोण तथा उद्भेदन की यह त्रिमुखी प्रकिया–जो एक मौलिक इकाई है—वैज्ञानिक सत्ता में अस्तित्व की कुछ प्रेरणादायक सरलता और तीव्रता को ले आती है। अब यदि हम व्यक्त रूप में वैज्ञानिक अस्तित्व [Dasein] को, उस रूप में अधिकार में ले लें, जिस में हमने उसे स्पष्ट किया है तो हम अत्यावश्यक रूप में कहेंगे :

सांसारिक--सम्बन्ध जिसकी ओर संकेत करता है, वह जो--है है—और उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं।

जिसके द्वारा प्रत्येक दृष्टि स्थापित है वह जो-है है और उस से अधिक कुछ नहीं।

जिसके द्वारा वैज्ञानिक स्पष्टीकरण अथवा "उद्भेदन" करता है, वह जो-है है—और उसके परे, कुछ नहीं। किन्तु क्या यह उल्लेखनीय नहीं है कि ठीक उसी बिन्दु पर जहां वैज्ञानिक मनुष्य अपनी सर्वाधिक निश्चित सम्पत्ति को निश्चित करता है, वहीं किसी अन्य के विषय में बोलना अपेक्षित हो जाता है? जिसका अनुसन्धान करना है, वह जो-है है-और अन्य कुछ नहीं; केवल जो-है—तथा उससे अधिक कुछ नहीं; केवल तथा मात्र-है—और उसके परे, कुछ नहीं।

किन्तु यह क्या है? क्या यह केवल एक आकस्मिक बात है कि हम नितान्त स्वाभाविक रूप में उस प्रकार कह जाते हैं? क्या यह केवल बोलने की रीति मात्र है, उससे अधिक कुछ नहीं?

किन्तु इस कुछ-नहीं को लेकर चिन्ता क्यों की जाय? विज्ञान द्वारा "कुछ-नहीं" पूर्णतया अस्वीकृत एवं निस्सार शून्य [das Nichtige], के रूप में छोड़ दिया गया है। परन्तु, यदि इस प्रकार हम कुछ-नहीं को छोड़ देते हैं, तो क्या अपने इस कार्य में ही, हम उसे वास्तव में स्वीकार नहीं कर लेते? क्या जब हम कुछ-नहीं को स्वीकार करते हैं, तो उसकी स्वीकृति की बात कह सकते हैं? परन्तु शायद इस प्रकार की विक्षिप्त-वार्ता पहले ही, शब्दों को लेकर एक रिक्त बहस रूप में विकृत हो गई है।

दूसरी ओर, विज्ञान को अपनी गरिमा तथा गम्भीरता पर पुनः आग्रह करना पड़ता है तथा यह घोषणा करनी पड़ती है कि वह केवल जो-है से सम्बन्धित है। कुछ-नहीं—यह विज्ञान के लिए आतंक तथा भूत के अतिरिक्त कुछ और कैसे हो सकता है? यदि विज्ञान का आग्रह सही है तो एक बात निश्चित है : विज्ञान कुछ-नहीं के विषय में कुछ जानना नहीं चाहता। अन्ततः यह कुछ-नहीं के प्रति संनियमित वैज्ञानिक दृष्टि है। कुछ-नहीं के विषय में हमारा कुछ नहीं जानने की इच्छा करना ही, उसका ज्ञान प्राप्त करना है।

विज्ञान कुछ-नहीं के विषय में कुछ नहीं जानना चाहता। फिर भी यह एक तथ्य है कि ठीक उसी बिन्दु पर जहाँ विज्ञान अपने तत्त्व को शब्दों में रखने का प्रयास करता है वहाँ वह 'कुछ-नहीं' की सहायता के लिये अभ्यर्थना करता है। जिस बात को वह अस्वीकार करता है, उसी का उसे आश्रय लेना पड़ता है। यह किस प्रकार का खण्डित-व्यक्तित्त्व है?

विज्ञान द्वारा शासित अपने क्षणिक अस्तित्व पर, विचार करने से हम एक बहस के बीच आ पड़े हैं। इस बहस की अवधि में एक प्रश्न पहले ही प्रस्तुत हो गया है। प्रश्न को केवल विशिष्ट रूप में रखना अपेक्षित है। यह कुछ-नहीं क्या है?

प्रश्न का विकास

कुछ-नहीं में हमारे अनुसन्धान का विकास अनिवार्यतः हमें उस स्थिति में ले आयेगा, जहाँ यह सिद्ध हो जायगा कि या तो उत्तर सम्भव है अथवा वह असम्भव है। कुछ-नहीं को स्वीकार किया गया है। एक उच्च उदासीनता की दृष्टि को अपनाते हुए, विज्ञान उसे जो "नहीं है" के रूप में छोड़ देता है।

फिर भी हम कुछ–नहीं में अनुसन्धान करने का प्रयास करेंगे । कुछ–नहीं क्या है ? इस प्रश्न के प्रति आरम्भिक दृष्टि भी हमें कुछ असाधारण दिखाती है । इस प्रकार प्रश्न करते हुए, हम कुछ–नहीं को, उस विषय के रूप में, जो किसी न किसी रूप में "है" एक सत्ता (Seindes) के रूप में, स्थापित करते हैं । किन्तु ऐसा कुछ नहीं है । कुछ–नहीं क्या है तथा क्योंकर है, इस सम्बन्ध में किया गया प्रश्न अपने विषय को उसके विरोधी में परिवर्तित कर देता है । प्रश्न स्वतः अपने को अपने विषय से वञ्चित कर लेता है ।

अतः इस प्रश्न का प्रत्येक उत्तर आरम्भ से असम्भव है । कारण कि वह अनिवार्यतः इस रूप में आरम्भ होता है कि कुछ–नहीं यह, वह, अथवा अन्य है । जहाँ तक कुछ–नहीं का सम्बन्ध है प्रश्न तथा उत्तर दोनों ही समान रूप में निरर्थक हैं ।

अतः विज्ञान द्वारा अस्वीकृति भी अनावश्यक है । समस्त चिन्तन का सामान्य तथा उद्धृत आधारभूत नियम–यह उक्ति कि विरोधाभास से बचना चाहिए–तथा "तर्क शास्त्र" इस प्रश्न का निराकरण कर देते है । कारण कि चिन्तन, जो तत्वतः सदैव किसी के विषय में चिन्तन होता है, कुछ–नहीं का चिन्तन करने में, अपनी प्रकृति के विरुद्ध सक्रिय होने के लिए बाध्य होगा ।

क्योंकि जैसे ही हम कुछ–नहीं को विषय में परिवर्तित करने का प्रयत्न करते हैं, हमें निरन्तर असफलता प्राप्त होती है । कुछ–नहीं में हमारा अनुसन्धान पहले ही समाप्ति के निकट आ जाता है—स्पष्टतः यह सदैव मान लिया जाता है कि इस अनुसन्धान में "तर्क शास्त्र" ही अपील के लिए सर्वोच्च न्यायालय है, बुद्धि साधन है, तथा चिन्तन कुछ–नहीं के मौलिक ग्रहण और उसके सम्भव प्रकाशन का मार्ग है ।

किन्तु यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या "तर्क शास्त्र" के नियम का अतिक्रमण किया जा सकता है ? क्या कुछ–नहीं के इस अनुसन्धान में बुद्धि का वस्तुतः कोई प्रभुत्व नहीं है ? वस्तुतः बुद्धि की सहायता से ही हम, प्रथमतः कुछ–नहीं को परिभाषित कर सकते हैं तथा उसे एक समस्या, यद्यपि एक ऐसी समस्या जो केवल अपना ही भक्षण करती है, के रूप में रख सकते हैं । कारण कि कुछ–नहीं जो–है का समग्रता का निषेध [verneinung] है : वह जो नितान्त नहीं है । किन्तु इस स्थल पर हम कुछ–नहीं को निषेधक [Nichthaftes] की, तथा इसलिए जो निषिद्ध है कि उच्चतर कोटि में ले आते हैं ।

किन्तु "तर्क शास्त्र" के अभिभूत करने वाले एवं अनाक्रम्य नियमों के अनुसार निषेध बुद्धि का एक विशिष्ट कार्य है । कुछ–नहीं में अपने अनुसन्धान में, तथा इस प्रकार के अनुसन्धान की सम्भावना मात्र में, फिर हम कैसे बुद्धि का निराकरण कर सकते है ? किन्तु जिसे हम मान रहे हैं क्या वह इतना निश्चित है ? क्या नहीं [das Nicht] निषिद्ध किए जाने की स्थिति [die Verneint heit] और इसलिए स्वयं निषेध [verneinung], वास्तव में उस उच्चतर कोटि का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके अन्तर्गत कुछ–नहीं एक ऐसी विशिष्ट वस्तु के रूप में जिसका निषेध हुआ है, स्थान ग्रहण करता है । क्या कुछ–नहीं केवल इसी

लिए "विद्यमान है" कि नहीं अर्थात् निषेध विद्यमान है ? या स्थिति इसके विपरीत है ? क्या निषेध तथा नहीं केवल इसीलिए विद्यमान है कि कुछ-नहीं विद्यमान है ? इस बात का निश्चय नही हो पाया—वस्तुतः यह बात व्यक्त रूप में पूछी भी नहीं गई। हम निश्चयपूर्वक कहते हैं, "कुछ नहीं", नहीं तथा निषेध की तुलना में अधिक मौलिक है।

यदि यह प्रस्थापना सही है, तब बुद्धि के कृत्य के रूप में निषेध की सम्भावना मात्र ही, तथा परिणाम स्वरूप बुद्धि स्वयं, किसी प्रकार से कुछ-नहीं पर निर्भर है। इस दशा में, बुद्धि किस प्रकार इस समस्या के हल का प्रयत्न कर सकती है ? जहाँ तक कुछ-नहीं का सम्बन्ध है, क्या प्रश्न तथा उत्तर की यह प्रतीयमान निरर्थकता, कदाचित् भटकती बुद्धि के अंध-हठ पर ही निर्भर नहीं है ?

किन्तु, यदि हम कुछ-नहीं में अनुसन्धान की रूपात्मक असम्भावना के द्वारा भ्रमित होने से इन्कार कर दें, तथा उसके रहते भी अपना अनुसन्धान जारी रखें, हमें कम से कम उस आधारभूत प्रथम आवश्यकता को, जो किसी भी सम्भव अनुसन्धान की शर्त है, पूरा करना होगा। यदि कुछ-नहीं के यथावत् रूप में, अभी भी कोई अनुसन्धान करना है, तो यह परिणाम निकलता है कि वह पहले से ही "प्रदत्त" होना चाहिए। हमारा उसका सामना होना चाहिए।

कुछ-नहीं को हम कहाँ खोजें ? हमें कुछ नहीं की प्राप्ति कहाँ होगी ? यदि हम किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहें तो क्या यह पूर्व ज्ञान अपेक्षित नहीं है कि वह है ? वास्तव में हमें यह ज्ञान होना चाहिए। सर्व प्रथम हम तभी खोज सकते हैं, जब हम उस वस्तु की उपस्थिति को पहले से ही स्वीकार करलें, जिसकी हम खोज करना चाहते हैं। किन्तु यहाँ जिस वस्तु की हम खोज कर रहे हैं वह कुछ-नहीं है। क्या अन्ततः बिना पूर्व-मान्यता के कोई भी खोज होती है ? ऐसी खोज, केवल प्राप्ति ही जिसका पूरक हो ?

इस सम्बन्ध में स्थिति चाहे कैसी भी क्यों न हो हम "कुछ-नही" को जानते हैं, चाहे केवल एक ऐसे पद के रूप में ही जिसका हम प्रति-दिन मन चाहा उपयोग करते हैं। यह सामान्य तथा पिष्टपेषित 'कुछ-नही' जिसे इतने पूर्ण रूप में बिना शंका के स्वीकार कर लिया गया है और जो हमारी जिह्वा पर यूं जब तब आता रहता है—हम इसकी एक तात्कालिक परिभाषा तक दे सकते हैं।

कुछ-नहीं जो-है की समग्रता का पूर्ण निषेध है।

अन्ततः कुछ-नहीं की यह विशेषता क्या उस दिशा की ओर इंगित नही करती, केवल जहाँ वह हमसे मिल सकता है ?

जो-है की समग्रता पहले ही प्रदत्त होनी चाहिए, जिससे वह निषेध के सम्मुख झुक जाय जिससे तब निश्चय ही कुछ नहीं का आविर्भाव होगा।

किन्तु निषेध तथा कुछ-नही के इस संशयात्मक सम्बन्ध के अतिरिक्त भी, सीमित सत्ताओं के रूप में, जो-है के पूर्ण को उसकी समग्रता में उसके निजत्व में हम किस प्रकार

गम्य बना सकते हैं ? हमारे लिए वह गम्य है यह प्रश्न तो छोड़ ही दें। आवश्यकता पड़ने पर हम जो–है के पूर्ण को एक प्रत्यय के रूप में धारण कर सकते है फिर जो कुछ हमने अपने विचारों में इस प्रकार कल्पित किया है उसका निषेध कर सकते है और यह "सोच सकते हैं" कि उसका निषेध हो गया। इस प्रकार हम एक काल्पनिक 'कुछ–नहीं' की रूपात्मक धारणा को प्राप्त कर लेते हैं किन्तु स्वयं कुछ-नहीं को कभी नही। किन्तु 'कुछ–नहीं' कुछ नहीं है, और काल्पनिक तथा वास्तविक [eigentlich] 'कुछ–नही' में कोई भेद नहीं हो सकता यदि 'कुछ-नहीं' विभेद की स्थिति के पूर्ण, अभाव का सूचक हो। किन्तु "वास्तविक" 'कुछ–नही' क्या यह पुन: उसी 'कुछ–नही' का निहित और निरर्थक प्रत्यय नही है जो "है" ? एक बार पुन: तथा अन्तिम बार बौद्धिक आक्षेपों ने हमारी खोज मे बाधा पहुँचाई है, जिसकी वैधता कुछ नही के अन्वेषणात्मक अनुभव के द्वारा ही प्रमाणित की जा सकती है।

जितना निश्चय इस बात का है कि हम कभी भी जो-है की समग्रता को निरपेक्ष रूप मे ग्रहण नही कर पायेंगे, उतनी ही यह बात भी निश्चित है कि हम स्वय को जो-है के मध्य स्थित पाते हैं, तथा यह किसी प्रकार समग्रता में प्रकट हो जाता है। अन्ततोगत्वा, जो–है की समग्रता को ग्रहण करने तथा समग्रता-में-जो-है के मध्य अपने को स्थित पाने में तात्त्विक अन्तर है। प्रथम नितान्तत: असम्भव है। द्वितीय सदैव होती रहती है।

स्वभावत: ऐसा प्रतीत होता है मानो अपनी दैनिक क्रियाओं में, हम इस अथवा उस वस्तु [Seiendes] को पकड़े रहते हो, मानो हम जो–है के इस अथवा उस क्षेत्र में खोये हुए हों। दैनिक चर्या कितनी भी आंशिक क्यों न प्रतीत हो, वह फिर भी जो-है को, कितने ही सन्दिग्ध रूप में, "पूर्ण" की इकाई के भीतर बनाए रखती है। उस समय भी, अथवा यूं कहें, ठीक उस समय जब हम वस्तुओं में अथवा स्वयं अपने में लीन नही होते, यह "पूर्णता" हम पर छा जाती है—उदाहरणार्थ, वास्तविक विरक्ति की स्थिति में। जिस समय कोई पुस्तक विशेष, अथवा कोई खेल, यह कार्य अथवा वह निष्क्रियता की अवधि हमें केवल उकता डालती है उस समय भी वास्तविक विरक्ति हम से दूर होती है। वास्तविक विरक्ति तब होती है, जब "कोई उकता जाता है" । यह गहन विरक्ति अस्तित्व की गहराइयों मे यत्र तत्र मूक कोहरे की भांति आती जाती रहती है, सभी वस्तुओं को, सभी मनुष्यों को तथा उनके साथ स्वयं को, एक प्रकार की उदासीनता में एकत्र कर लेती है । यह उकताहट समग्रता में जो-है को प्रकाशित करती है।

इस प्रकार के प्रकाशन की एक और सम्भावना है, और यह सम्भावना किसी के, जिसे हम प्यार करते हैं—जो केवल व्यक्ति मात्र नहीं है—के सत् की उपस्थिति में अनुभूत हर्ष में होती है।

इन मनोदशाओं के कारण, जिन मे, जैसा हम कहते है कि, हम यह अथवा वह "है" (अर्थात् उकताए हुए, प्रसन्न आदि) हम अपने को समग्रता–में–जो–है के मध्य पाते हैं और उससे पूर्णतया परिव्याप्त रहते है। यह रागात्मक दशा, जिस में हम स्वय को पाते हैं, हमारी मनोदशा के अनुकूल केवल समग्रता में जो-है का प्रकाशन ही नहीं करती, अपितु साथ ही,

यह उद्घाटन केवल एक आकस्मिक घटना होने से बहुत दूर की बात है और हमारे अस्तित्व [Da-sein] की आधार--प्रतीति है।

हमारी "अनुभूतियां" जैसा हम उन्हें कहते हैं, हमारे मानसिक तथा ऐच्छिक व्यवहार की अस्थायी सहगामिनी ही नहीं हैं, न ही वे इस प्रकार के व्यवहार का मात्र अवसर अथवा कारण हैं, न ही वे वह स्थिति हैं जो कि केवल "वहाँ" है, तथा जिसमें हम अपने प्रति एक प्रकार की अनुकूलता प्राप्त कर लेते हैं।

तथापि ठीक उसी क्षण, जब हमारी मनोदशाएं हमें इस प्रकार समग्रता--में--जो--है के सम्मुख ले आती हैं, वे उस 'कुछ-नहीं' को छिपा लेती हैं जिसे हम खोज रहे हैं। इस बात को हम अब और भी कम मानने लगते हैं कि हमारी इन मनोदशाओं के द्वारा प्रकाशित समग्रता-में-जो-है का निषेध मात्र वस्तुतः हमें 'कुछ-नहीं' की ओर ले जा सकता है। सर्व प्रथम, यह केवल ऐसी मनोदशा में सम्भव होता है जो अपने आशय में इतने विशिष्ट रूप में प्रकाशशील हो कि स्वयं 'कुछ-नहीं' को प्रकट करे।

क्या मानवीय अस्तित्व में कभी कोई इस प्रकार की मनोदशा आती है, जिसके द्वारा हम स्वयं 'कुछ-नहीं' के समक्ष ले आये जायँ ?

यह सम्भव है तथा आंगस्ट[1] की महत्वपूर्ण मनोदशा में वस्तुतः होती भी है यद्यपि कभी-कभी ही, और केवल कुछ क्षणों के लिए ही। 'आंगस्ट' से हमारा तात्पर्य 'चिन्ता' [Angstlichkeit] से नहीं है जो अत्यन्त सामान्य है तथा सम्भ्रम [Furchtsamkeit]–एक ऐसी मनोदशा जो हम पर बड़ी सरलता से छा जाती है–की सजातीय है। आंगस्ट भय [furcht] से नितान्त भिन्न है। हम सदैव इस अथवा उस वस्तु से भयभीत रहते है, जो हमें इस अथवा उस विशिष्ट रूप में धमकाती रहती है। किसी वस्तु "का भय" सामान्यतया किसी वस्तु के "प्रति भय" होता है। क्योंकि भय की यह विशिष्ट सीमा है—किसी "का" तथा किसी के "प्रति", जो व्यक्ति भयभीत होता है अर्थात् सम्भ्रान्त व्यक्ति, उस वस्तु से सदैव, जिससे वह भयभीत रहता है, अथवा उस स्थिति से जिस में वह स्वयं को पाता है, बंधा रहता है। इस कुछ [वस्तु अथवा स्थिति] से, अपनी रक्षा करने के प्रयास में वह दूसरी वस्तुओं के सम्बन्ध में अनिश्चित हो जाता है। वास्तव में, सामान्यतया, वह अपनी स्थिति के विषय में किंकर्त्तव्यविमूढ़ सा हो जाता है।

आंगस्ट में इस प्रकार भ्रान्ति नहीं हो सकती ऐसा कहना अधिक सत्य होगा कि

---

१. जर्मन 'आंगस्ट' के कई अर्थ हैं : 'पीड़ा' 'चिन्ता' तथा 'भय'। हाईडेग्गर के प्रयोग में, किसी न किसी रूप में इनमें से प्रत्येक का पुट है। इसके अतिरिक्त हाईडैगर जर्मन में भी 'आंगस्ट' का विशिष्ट प्रयोग करता है जो इस व्याख्यान में उसके स्पष्टीकरण से स्पष्ट है। हिन्दी में 'सन्ताप' 'सन्त्रास' आदि शब्दों का प्रयोग 'आंगस्ट' के लिए किया जाता है, पर उससे अर्थ का अनर्थ होने की अधिक सम्भावना है, अतः यहां 'आंगस्ट' को मूल रूप में ही रहने दिया गया है।

आंग्स्ट एक विशेष प्रकार की शान्ति से परिव्याप्त रहती है और यद्यपि आंग्स्ट सदैव [किसी] "की आंग्स्ट" होती है, वह किसी विशिष्ट वस्तु की नहीं होती । [किसी] "की आंग्स्ट" सदैव ही [किसी] "के प्रति" आशंकात्मक अनुभूति होती है परन्तु वह किसी विशिष्ट से सम्बद्ध नहीं । उसकी निश्चितता जिस के प्रति आंग्स्ट है केवल किसी निश्चितता का अभाव नहीं है : वह "उसकी" परिभाषा देने की तात्त्विक असम्भावना की सूचक है । यह अनिश्चितता एक ऐसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट हो जाती है जो प्रत्येक के लिए सुपरिचित है ।

जैसा कि हम कहते है, आंग्स्ट में "किसी को [einem] कुछ [es] रहस्यात्मक अनुभूति होती है" । उपर्युक्त "कुछ" तथा "किसी को" किस के सूचक हैं ? हम यह कहने में असमर्थ है कि "किसी को" यह रहस्यात्मक अनुभूति किस से होती है । "किसी को" समग्रतः [in Ganzen] यह अनुभूति होती है सभी वस्तुएँ तथा उनके साथ हम, एक प्रकार की उदासीनता मे डूब जाते है । किन्तु इस अर्थ में नहीं कि प्रत्येक वस्तु केवल लुप्त हो हो जाती है; अपितु हम से दूर जाने की क्रिया में ही प्रत्येक वस्तु हमारी ओर उन्मुख हो जाती है । समग्रता--में--जो--है का यह विनिवर्तन तब आंग्स्ट में हमारे चारों ओर घिर आता है, यही वह है जो हमें अभिभूत कर देता है । कुछ भी ऐसा नहीं रहता जिसका आश्रय लिया जा सके। जिस समय जो--है अन्तर्धान हो जाता है, उस समय एक मात्र वस्तु जो शेष रहती है तथा हमे आच्छादित कर लेती है, वही यह 'कुछ-नही' है ।

आंग्स्ट 'कुछ–नहीं' को प्रकट करती है।

आंग्स्ट में हम "अनिश्चय" में रहते हैं अथवा अधिक सुनिश्चित रूप में कहें आंग्स्ट हमें अनिश्चय में रखती है क्योंकि वह समग्रता–में–जो–है को हमारे समक्ष अन्तर्धान कर देती हैं । अतः इसके साथ ही हम स्वयं भी जो-है के मध्य स्थित सत्ताओं के रूप में स्वयं अपने समक्ष अन्तर्धान हो जाते है । इसी कारण यह 'मैं' या "आप" नहीं है जिसे रहस्यात्मक अनुभूति होती है अपितु "कोई" [einem] होता है । इस अनिश्चय के त्रास में, जहाँ कुछ भी ऐसा नही जिसका सहारा लिया जा सके, अस्तित्व (Da-sein) मात्र ही अवशिष्ट रहता है ।

आंग्स्ट हमें मूक बना देती है । कारण कि समग्रता-में-जो-है वह अन्तर्धान हो जाता है तथा इस प्रकार 'कुछ-नही' को सामने ठेलता है, समस्त अस्ति-कथन (Ist Sagen) इसके समक्ष व्यर्थ हो जाते है । यह तथ्य केवल 'कुछ-नही' की उपस्थिति को सिद्ध करता है कि जब हम आंग्स्ट की रहस्यात्मकता में पकड़े जाते हैं, हम बहुधा, रिक्त मौन को स्वतः—निःसृत शब्दों द्वारा तोड़ने का प्रयास करते हैं । हम स्वतः इसका अनुमोदन करते है कि आंग्स्ट 'कुछ-नहीं' को प्रकट करती है—जब हम आंग्स्ट पर विजय प्राप्त कर लेते है । उस सुस्पष्ट दर्शन में जो उस समय अकस्मात् अभिव्यक्त होता है, जब हमारी स्मृति में अनुभव ताजा होता है, हमें यह कहना चाहिए कि हम जिसमे त्रस्त थे, वह "वास्तव में" [eigentlich] 'कुछ-नही' है । और वस्तुतः स्वयं 'कुछ-नही' । 'कुछ-नहीं' स्वतः वहाँ था ।

अतः आंग्स्ट की इस महत्वपूर्ण मनोदशा के साथ हम अपने अस्तित्व में उस घटना पर

पहुँच गए हैं जो 'कुछ-नहीं' को प्रकट करती है तथा जो इसलिए हमारी खोज का आरम्भिक विन्दु होना चाहिए :

तो यह 'कुछ-नहीं' क्या है ?

प्रश्न का उत्तर

यदि हम इस बात का ध्यान रखें कि हम वास्तव में 'कुछ-नहीं' की समस्या तक सीमित हैं, तो वह उत्तर, एक मात्र जो हमारे उद्देश्य के लिए महत्वपूर्ण है, हमें पहले ही प्राप्त हो चुका है। यह मनुष्य के उसके अस्तित्व (Da-sein) में परिवर्तित होने को आवश्यक बना देता है, ऐसा परिवर्तन जो हम में सदैव आंग्स्ट से उत्पन्न होता है—जिस से हम 'कुछ नहीं' को उस रूप में तथा उसी प्रकार ग्रहण कर सकें जिस रूप में तथा जिस प्रकार वह आंग्स्ट में प्रकट होता है। साथ ही हमें अन्तिम रूप से 'कुछ-नहीं' की उन विशेषताओं को छोड़ देना होगा जो हमारी खोज के फलस्वरूप प्रकट नहीं हुई।

'कुछ-नहीं' आंग्स्ट में प्रकट होता है किन्तु किसी ऐसी-वस्तु के रूप में नहीं जो "है"। न ही उसे किसी विषय के रूप में लिया जा सकता है। आंग्स्ट 'कुछ-नहीं' का ग्रहण नहीं है। फिर भी, कुछ नहीं आंग्स्ट में तथा उसके द्वारा प्रकट होता है, तथापि इस अर्थ में नहीं कि जब हमें वह "रहस्यात्मक" अनुभूति होती है तब 'कुछ-नहीं' समग्रता-में-जो-है से अलग तथा असम्बद्ध है, अपितु हम यह कहेंगे : आंग्स्ट में 'कुछ-नहीं' इस प्रकार सक्रिय होता है मानो वह समग्रता–में–जो–है से अभिन्न हो। "अभिन्न" होने से हम क्या अर्थ लेते हैं ?

आंग्स्ट में समग्रता-में-जो-है वह अग्राह्य [hinfalling] हो जाता है। कैसे ? जो-है का आंग्स्ट के द्वारा नाश नहीं होता जिस से 'कुछ-नहीं' रह जाता हो। यह देखते हुए कि आंग्स्ट स्वयं को समग्रता-में-जो-है के सम्मुख पूर्णतया अशक्त पाती है, यह कैसे सम्भव था ! वास्तव में होता यह है कि 'कुछ-नहीं' तत्त्वतः जो-है, जब उसका समग्रता में अन्तर्धान हो रहा होता है, से सम्बन्धित रूप में स्वयं को प्रकट करता है।

आंग्स्ट में जो-है के निजत्व की समग्रता नष्ट नहीं होती; किन्तु साथ ही 'कुछ-नहीं' तक पहुँचने के लिए, हम समग्रता-में-जो-है का निषेध नहीं कर सकते। इस तथ्य के अतिरिक्त कि निषेधात्मक कथन की व्यक्तता, आंग्स्ट मात्र की प्रकृति से असम्बद्ध है, हम कभी भी 'कुछ नहीं' को सिद्ध करने के विचार से ऐसे किसी भी निषेध के साथ समय पर नहीं पहुँच पायेंगे कारण कि कुछ नहीं इसका पूर्ववर्ती है। जैसा हमने कहा, 'कुछ-नहीं' जो-है से उस समय अभिन्न होता है, जब वह समग्रता में अन्तर्धान हो जाता है।

आंग्स्ट में किसी से पीछे हटना होता है, यद्यपि वह इतना पलायन नहीं है जितना की आश्चर्यमय [gebannt] शांति है। इस [किसी] से पीछे हटने का स्रोत 'कुछ-नहीं' में है। 'कुछ-नहीं' आकर्षित नहीं करता : उसकी प्रकृति तो विकर्षण है। यह "अपने से विकर्षित करना" तत्त्वतः "किसी में बहिष्कृत" करना है : तिरोभावी समग्रता-में-जो-है में चेतन क्रमिक परित्याग। तथा तिरोभावी समग्रता-में-जो-है में यह पूर्ण परित्याग—यह वह स्थित है जिसमें

'कुछ-नहीं' आंग्स्ट में हमारे चहुँ ओर घिरा रहता है—'कुछ-नहीं' अर्थात् शून्यीकरण, का तत्त्व है। शून्यीकरण न तो जो-है का नाश [Vernichtung] है, और न वह निषेध [Verneinung] से उत्पन्न होता है। शून्यीकरण नाश अथवा निषेध के शब्दों में बिल्कुल नहीं आंका जा सकता। 'कुछ-नहीं' स्वतः से "शून्यीकरण" [nichlet] करता है। शून्यीकरण कोई आकस्मिक घटना नहीं है; किन्तु जब उसे तिरोभावी समग्रता-में-जो-है में परित्याग के रूप में ग्रहण किया जाता है, वह अनुवर्ती को, उसके अभी तक अनुद्घाटित पूर्ण अपरिचय में—'कुछ-नहीं' की तुलना में—केवल "अन्य" के रूप में प्रकट करता है।

केवल आंग्स्ट की 'कुछ-नहीं' की निरभ्र रात्रि में, जो-है यथावत् अपने पूर्ण मौलिक खुलेपन में प्रकट होता है : कि वह "है" और 'कुछ-नहीं' नहीं है। किन्तु यह शाब्दिक परिशिष्ट "और 'कुछ-नहीं' नहीं" कोई अनुभवानुवर्ती व्याख्या नहीं है, अपितु वह अनुभव-पूर्व जो स्वयं जो-है, का कोई भी प्रकाशन सम्भव करती है। मौलिक शून्यीकरण के रूप में 'कुछ-नहीं' का तत्त्व इस में है : कि केवल वही अस्तित्व को जो-है यथावत् के समक्ष लाती है।

'कुछ नही' की मौलिक अभिव्यक्ति के आधार पर ही हमारा मानवीय अस्तित्व जो-है की ओर अग्रसर होता है तथा उस में प्रविष्ट होता है। किन्तु जिस सीमा तक, अस्तित्व स्वभावतः जो-है से सम्बन्धित है, उस रूप में जो यह नहीं है, तथा जो यह स्वयं है, अस्तित्व अस्तित्व के रूप में, व्यक्त रूप में [स्थित] 'कुछ-नहीं' से सदैव निःसृत होता है।

अस्तित्व का अर्थ है 'कुछ-नही' में प्रक्षिप्त होना। [Hineingehaltenheit in das Nichts]

कुछ नहीं में प्रक्षिप्त होते हुए, अस्तित्व पहले ही समग्रता-में-जो-है से परे है। जो-है से इस "परे होने" [Hinausein] को हम सर्वातिरिक्तता कहते हैं। यदि अस्तित्व अपने तात्त्विक आधार में सर्वातिरिक्त नहीं होता अर्थात् यदि वह आरम्भ से ही 'कुछ-नहीं' में प्रक्षिप्त नहीं होता, वह कभी भी जो-है से सम्बद्ध नहीं हो सकता, अतः उसका कोई स्व-सम्बन्ध सम्भव नहीं हो पाता।

'कुछ-नहीं' की मौलिक व्यक्त विशेषता के बिना, कोई आत्मत्व तथा कोई स्वतन्त्रता हीं।

यहाँ हमें, 'कुछ-नहीं' के विषय में जो हमारा प्रश्न है, उसका उत्तर प्राप्त होता है। 'कुछ-नहीं' न ही कोई विषय है और न ही कोई ऐसी वस्तु है जो ज़रा भी "है"। 'कुछ-नहीं' न तो अपने, और न ही जो-है से "हटकर" किसी अनुलग्न के रूप में घटता है। 'कुछ-नहीं' वह है जो जो-है यथावत् का प्रकाशन हमारे मानवीय अस्तित्व के लिए सम्भव बनाता है। 'कुछ-नहीं' केवल जो-है का प्रत्ययात्मक विरोधी ही नहीं है अपितु वह तत्त्व [wesen] का मौलिक अंश भी है।

जो-है के सत् [Sein] में ही 'कुछ-नहीं' का शून्यीकरण होता है [das Nichten des Nichts]।

किन्तु अब हमें उस शंका को व्यक्त करना पड़ेगा जिसे बहुत पहले से ही रोके रखा गया ।

यदि हमारे अस्तित्व को जो–है से सम्बन्धित होना, अथवा उसका होना मात्र, केवल "कुछ–नही में प्रक्षिप्त" होने के द्वारा ही सम्भव है, और कुछ नहीं मूलतः केवल आंग्स्ट में व्यक्त होता है, तो क्या हमें अस्तित्व बनाये रखने मात्र के लिए, आंग्स्ट के नैरन्तरिक अनिश्चय में नहीं रहना होगा ? किन्तु, क्या हमने स्वयं इस बात को स्वीकार नहीं किया है, कि यह मौलिक आंग्स्ट दुर्लभ वस्तु है ? किन्तु इन सब पर भी बिना इस आंग्स्ट के हम सभी का अस्तित्व है तथा हम उन वास्तविकताओं से सम्बन्धित हैं जो हम स्वयं नहीं हैं तथा जो हम स्वयं हैं–अतः क्या यह आंग्स्ट यादृच्छिक आविष्कार नहीं है और यह 'कुछ–नहीं जो उस से सम्बन्धित समझा जाता है, अतिशयोक्ति नहीं है ?

तथापि इस बात का क्या अर्थ होता है जब हम यह कहते हैं कि यह मौलिक आंग्स्ट दुर्लभ क्षणों में ही होती है ? इसके अतिरिक्त कुछ नहीं : कि जिस सीमा तक हमारा सम्बन्ध है और, वास्तव में यदि सामान्य रूप में कहें तो, 'कुछ–नहीं' को सदैव अपनी मौलिक स्थिति से विकृत कर दिया जाता है । किस के द्वारा ? इस तथ्य के द्वारा कि किसी न किसी प्रकार, हम अपने को पूर्णतया जो–है में खो देते हैं ? हम अपने व्यवहार में जो–है और जितने अधिक आकर्षित होते हैं, हम उसे उतना ही कम लुप्त होने देते हैं, तथा उतने ही अधिक हम 'कुछ-नही' से विमुख होते हैं । किन्तु और भी निश्चित रूप में हम स्वयं को अस्तित्व के खुले धरातल पर ठेल देते हैं

और तब भी 'कुछ–नही' से यह सतत परन्तु द्वयर्थक विमुखता किन्हीं सीमाओं में, 'कुछ–नही' के तात्त्विक अर्थ से अनुकूलता रखती है । यह–शून्यीकरण के अर्थ में 'कुछ–नहीं'–हमें जो–है में छोड़ देता है । हमारे वास्तव में यह जाने बिना-कम से कम हमारे दैनिक ज्ञान के बिना कि क्या हो रहा है, 'कुछ–नहीं' अविरल रूप में "शून्यीकरण करता है ।"

हमारे अस्तित्व में 'कुछ–नहीं' के सतत, दूर तक प्रभाव डालने वाले तथा फिर भी सदैव आच्छन्न खुलेपन का इससे प्रभावशाली प्रमाण निषेध के अतिरिक्त और क्या हो सकता है । मानवीय चिन्तन की प्रकृति मात्र से यह सम्बन्धित है, ऐसा समझा जाता है । किन्तु निषेध, कल्पना की किसी भी उड़ान के द्वारा 'नहीं' को अपने से उत्पन्न नहीं कर सकता, उस साधन के रूप में जो दी हुई वस्तुओं में, मानो इस 'नही' को उनके मध्य ठूंसते हुए, भेद दिखाता है, तथा एक दूसरे की तुलना करता है । वास्तव में निषेध किस प्रकार स्वयं से नहीं को उत्पन्न कर सकता है, यह जानते हुए कि यह तभी निषेध कर सकता है जब निषिद्ध किए जाने के लिए कुछ हो ? परन्तु किस प्रकार किसी वस्तु को, जो या तो निषिद्ध है या जिसका निषेध होना चाहिए, किसी निषेधात्मक [nichthaft] वस्तु के रूप में देखा जा सकता है, जब तक कि समस्त चिन्तन केवल नही की खोज में न हो ? किन्तु नहीं तभी स्वयं को व्यक्त कर सकता है जब इसका स्रोत—'कुछ–नहीं' का शून्यीकरण तथा इसलिए 'कुछ–नहीं' स्वयं–

गोपनीयता से निकाल लिया जाय। नहीं, निषेध के द्वारा सत्तामान नहीं होता, अपितु निषेध नहीं पर आधारित है, जो 'कुछ-नहीं' के शून्यीकरण से प्राप्त होता है। न ही निषेध, शून्यीकरण करने वाले व्यवहार, अर्थात् उस व्यवहार जो ,कुछ-नहीं' के शून्यीकरण पर अनुभव पूर्व आधारित है, की अवस्था मात्र है।

इसके साथ हमने उपर्युक्त प्रस्थापना को उसके अंगों के साथ प्रमाणित कर दिया है: 'कुछ-नहीं' निषेध का स्रोत है, न कि इसके विपरीत। यदि 'कुछ-नहीं' तथा सत् के अन्वीक्षण के क्षेत्र बुद्धि की सम्प्रभुता का इससे हनन होता है, तब दर्शन में "तर्कशास्त्र" के नियम की नियति भी निश्चित हो गई। 'तर्कशास्त्र' का प्रत्यय मात्र अधिक मौलिक जिज्ञासा के भंवर विघटित हो जाता है।

कितनी ही बार तथा कितने ही रूप में निषेध—चाहे व्यक्त रूप में अथवा अन्यथा—समस्त चिन्तन में परिव्याप्त रहता है, वह स्वयं अपने से अस्तित्व के तात्त्विक अश के रूप में, 'कुछ-नहीं' की अभिव्यक्ति का पूर्णतया वैध साक्षी नहीं हो सकता। कारण कि निषेध को शून्यीकरण, जिस से 'कुछ-नहीं' के शून्यीकरण के कारण अस्तित्व सिक्त है, के एक मात्र अथवा प्रमुख प्रकार के रूप में उधृत नहीं किया जा सकता। विरोध की क्रूरता तथा जुगुप्सा-जन्य हिंसा, बौद्धिक निषेध की मात्र उपयुक्तता से अधिक अथाह है। अस्वीकृति की पीड़ा तथा निरसन की निर्दयता उतनी ही दायित्वपूर्ण; त्याग की कटुता उतनी ही दबावपूर्ण।

हमारे सत् के, संसार में परित्यक्त होने की स्थिति पर कोई वश न रख पाने पर भी हमारा यह अस्तित्व शून्यीकरण करने वाले व्यवहार के इन सम्भव रूपों के द्वारा बना रहता है, जो केवल निषेध के प्रकार नहीं है। इस से निषेध में तथा उसके द्वारा उनकी अपनी अभिव्यक्ति में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता। वस्तुतः तभी निषेध का रिक्त विस्तार वास्तव में प्रकट होता है। व्यवहार के शून्यीकरण करने वाले प्रकारों के द्वारा अस्तित्व की परिव्याप्ति 'कुछ-नहीं', जिसे केवल आंग्स्ट ही अपनी पूर्ण मौलिकता में प्रकट करती है, की शाश्वत, सदैव आच्छन्न अभिव्यक्ति का संकेत देती है। स्पष्ट है कि यहाँ हमें यह कारण मिल जाता है कि मूल आंग्स्ट अस्तित्व में क्यों दब जाती है। आंग्स्ट वहाँ है, परन्तु सुप्त अवस्था में। समस्त अस्तित्व उसके प्रश्वसन से कम्पित रहता है: जो लोग भीरु है उनमें हृद्गति न्यूनतम होती है, तथा जो व्यस्त लोग हैं उनकी "हां, हां" तथा "नहीं, नहीं" में अगोचर; जो एकान्त-प्रिय हैं उनमें सर्वाधिक तत्पर तथा साहसी [लोगों] में वह सर्वाधिक निश्चित रूप में होती है। किन्तु यह अन्तिम हृदगति केवल उसी के लिए होती है जिसके लिए वह अपना व्यय करती है, जिस से अस्तित्व के परम महत्व की रक्षा हो सके।

साहसी के द्वारा अनुभूत आंग्स्ट की तुलना शान्तिमय जीवन के आनन्द, यहाँ तक कि सुखकर भोग से भी नहीं की जा सकती।

ऐसी सभी तुलनाओं के समीपतर, वह सृजनात्मक अभिलाषा की कोमलता और प्रशान्ति के साथ गुप्त एकता रखती है।

मूल आंग्स्ट में कभी भी जागृत की जा सकती है। उसे जागृत करने के लिए किसी

असाधारण घटना की अपेक्षा नहीं है । उसका कार्य गहनता में, उसके सम्भव कारण के उथलेपन के अनुरूप होता है । यह सदैव ही किनारे पर होती है, परन्तु शायद ही कभी वह कोई छलांग लगाती है तथा हमें अपने साथ अनिश्चय की स्थिति में घसीट लेती है ।

क्योंकि हमारा अस्तित्त्व प्रच्छन्न आंग्स्ट के इस आधार पर कुछ नहीं में प्रक्षेपित होता है, मनुष्य 'कुछ-नहीं' का अधिकरण [Plat zhalter] बन जाता है । हम इतने में सीमित हैं कि हम स्वतः अपने ही संकल्प तथा अपनी इच्छा से, स्वयं को 'कुछ-नहीं' के समक्ष नहीं ला सकते ।

अन्तियता [verendlicbung] अस्तित्व में इतने अगाध रूप में प्रविष्ट है कि हमारी स्वतन्त्रता की विशिष्ट तथा गहनतम आत्यन्तिकता असफल हो जाती है ।

प्रच्छन्न आंग्स्ट के आधार पर कुछ-नहीं' में यह प्रक्षेक्षण समग्रता-में-जो है पर सर्वातिरिक्तता प्राप्त करना है ।

हम ने यह कहा था कि कुछ नहीं में हमारी खोज हमें सीधे तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में ले आयेगी । तत्त्वमीमांसा संज्ञा यूनानी टा मैटा टा फ़िजिका [Ta Meta Ta' PUOIKa'] से आयी है । बाद में इस विचित्र शीर्षक व्याख्या उस प्रकार के अन्वीक्षण की विशेषता के रूप में दी गई जो मैटा]METa']-परे चली जाती है, अर्थात् जो-है यथावत् के परे ।

तत्त्वमीमांसा जो-है के अतिरिक्त की खोज है जिसका लक्ष्य उसको निज तथा समग्र रूप में हमारी बुद्धि के लिए पुनः प्राप्त करना है ।

'कुछ-नहीं' के लिए हमारे अन्वीक्षण में, ठीक इसी प्रकार से जो-है, जिसे समग्रता-में-जो-है के रूप में ग्रहण किया जाता है, के परे जाने की बात अन्तर्हित है । अतः यह एक "तत्त्वमीमांसात्मक" प्रश्न बन जाता है । हमने यह आरम्भ में कहा था कि इस जिज्ञासा की दोहरी विशेषताएँ हैं । प्रत्येक तत्त्वमीमांसात्मक प्रश्न समस्त तत्त्वमीमांसा को अंगीकार करता है, तथा प्रत्येक प्रश्न में जो सत् [Da-sein] प्रश्न करता है वह स्वयं उस प्रश्न में ग्रस्त होता है ।

किस सीमा तक 'कुछ-नहीं' के विषय में किया गया प्रश्न, समस्त तत्त्वमीमांसा में विस्तृत तथा व्याप्त है ?

प्राचीन काल से तत्त्वमीमांसा ने 'कुछ-नहीं' के विषय पर स्वयं को अत्यन्त क्लिष्ट उक्ति में व्यक्त किया है : exnihilo nihil fit- कुछ नहीं से कुछ नहीं की उत्पत्ति होती है । यद्यपि इस उक्ति ने अपने यौक्तिक रूप में भी स्वयं 'कुछ-नहीं' को कभी भी वास्तविक समस्या नहीं बनाया तथापि इस ने बड़े स्पष्ट रूप में, 'कुछ-नहीं' के विषय में प्रचलित धारणाओं से, जो-है की प्रभावपूर्ण आधारभूत धारणा को व्यक्त किया ।

क्लासीकी तत्त्वमीमांसा में कुछ नहीं को असत् [Nichtseiendes] के अर्थ में ग्रहण किया गया है, अर्थात् उस अरूप जड़ पदार्थ के रूप में जो स्वयं अपने को "सत्" में परिणित करने में अशक्त है तथा इसलिए वह प्रतीति [Eisos] के रूप में उपस्थित नहीं हो सकता ।

जिसका "सत्" है वह स्वतः सर्जक सृष्टि [Gebilde] है जो स्वयं के निजत्व को एक प्रतिमा [Bild] के रूप में प्रस्तुत करता है, अर्थात् ऐसी वस्तु जिसे देखा गया हो [Anblick] इस सत् मीमांसात्मक धारणा का मूल उसका विधान तथा उसकी सीमाएं उतनी ही कम विचाराधीन रही हैं जितना 'कुछ-नहीं'।

दूसरी ओर ईसाई सिद्धान्त ex nihilo nihil fit उक्ति के सत्य को अस्वीकार करता है, तथा कुछ नहीं के अर्थ को ऐसे वक्र रूप में परिवर्तित कर देता है कि अब उसका अर्थ हो जाता है, ईश्वर के अतिरिक्त समस्त "सत्" का नितान्त अभाव : ex nihilo fit-ens creatum : सृष्ट सत् 'कुछ-नहीं' से निर्मित है। 'कुछ-नहीं' अब उसका प्रत्ययात्मक विरोधी है जो सत्यतः तथा वास्तव में [eigentlich] 'है"; वह अब summum ens [सर्वोत्कृष्ट सत्], ens increatum [रचियता] के रूप मे ईश्वर हो जाता है। यहाँ भी, 'कुछ-नहीं' की व्याख्या जो-है की आधारभूत धारणा का सकेत देती है। फिर भी जो-है का तत्त्वमीमांसात्मक विवेचन उसी स्तर पर चलता है जिस पर 'कुछ-नहीं' के विषय में खोज। दोनों ही दशाओं में सत् [sein[तथा 'कुछ-नहीं' मात्र से सम्बन्धित प्रश्न अनपूछे रह जाते हैं। अतः हमें उस कठिनाई से चिन्तित होने की आवश्यकता नही है कि यदि ईश्वर "कुछ नहीं से" सृष्टि करता है तो सर्व प्रथम उसमें तथा 'कुछ-नहीं' मे कोई सम्बन्ध होना चाहिए। किन्तु यदि ईश्वर ईश्वर है तो ऐसा मानने पर कि "परम" में किसी भी प्रकार शून्यत्व [Nichtigkeit] के लिए स्थान नहीं है वह 'कुछ-नहीं' को नहीं जान सकता।

यह स्थूल ऐतिहासिक अनुस्मारक 'कुछ-नहीं' को जो सत्यतः तथा वास्तविक रूप में "है", के प्रत्ययात्मक विरोधी के रूप में, अर्थात् उसके निषेध के रूप में प्रकट करता है। किन्तु एक बार 'कुछ-नहीं' के समस्या का रूप धारण कर लेने पर, यह वैषम्य न केवल अधिक स्पष्टतया परिभाषित होता जाता है, अपितु उस सत्य तथा वास्तविक तत्त्वमीमांसात्मक प्रश्न को भी उठाता है जो जो-है के सत् से सम्बन्धित है। 'कुछ-नहीं' अब जो-है का अस्पष्ट विरोधी नही रहता : वह अब स्वयं को जो-है के सत् से अविकल रूप में प्रकट करता है।

"शुद्ध सत् तथा शुद्ध असत्, इस प्रकार एक तथा वही है।" हेगेल की यह उक्ति ("द सायंस ऑव लॉजिक", १ वर्क्स ३, पृ० ७४) सही है। सत् तथा असत् साथ साथ रहते है किन्तु इसलिए नही कि ये दोनों हेगेल के विचार की धारणा की दृष्टि से—अपनी अनिश्चितता तथा अपरोक्षता में एक है, अपितु इसलिए कि सत् स्वयं तत्त्व में सीमित है तथा वह केवल अस्तित्व की सर्वातिरिक्तता में 'कुछ-नहीं' में प्रक्षेपित रूप में प्रकट होता है।

यदि सत् यथावत् मात्र का प्रश्न वास्तव में ऐसा प्रश्न है जो समस्त तत्त्वमीमांसा को अंगीकार करता है, तो 'कुछ-नहीं' का प्रश्न तत्त्वमीमांसा के समस्त क्षेत्र में विस्तृत सिद्ध होता है। किन्तु साथ ही, 'कुछ-नहीं' का प्रश्न समस्त तत्त्वमीमांसा में केवल इसलिए व्याप्त है कि वह हमे निषेध के मूल की समस्या का सामना करने के लिए बाध्य करता है अर्थात् वह हमें, तत्त्वमीमांसा में "तर्कशास्त्र" के नियम की वैधता के विषय में निर्णय लेने के लिए बाध्य करता है।

तब उस स्थिति में यह पुरानी उक्ति ex nihilo nihil fit एक भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेती है, तथा ऐसा अर्थ जो सत् स्वयं की समस्या के अधिक उपयुक्त है तथा जो इस प्रकार है : ex nihilo omne ens qud ens fit : प्रत्येक सत्, जिस सीमा तक वह सत् है, कुछ नहीं से उत्पन्न है। केवल अस्तित्व की शून्यता में, अपनी विशिष्ट सम्भावनाओं के अनुकूल अर्थात् एक सीमित रूप में समग्रता–में–जो–है, अपने को प्राप्त कर पाता है। तब किस सीमा तक, 'कुछ–नहीं' में अन्वीक्षण, यदि यह वास्तव में तत्त्वमीमांसात्मक हो, हमारे अपने अन्वेपक अस्तित्व को अन्तर्भूत करता है।

हमारे अस्तित्व का ऐहिक अनुभूत रूप, जैसा हम कह चुके हैं, विज्ञान से शासित है। यदि हमारा अस्तित्व, जो इस प्रकार नियमित है, 'कुछ–नहीं' से सम्बन्धित इस प्रश्न में रखा जाय, तो यह परिणाम निकलता है कि यह इस प्रश्न के द्वारा स्वयं प्रश्न का विषय बनाया गया है।

वैज्ञानिक अस्तित्व की सरलता तथा तीव्रता इस बात में है कि वह जो–है से एक विशिष्ट रूप में तथा केवल उसी से सम्बन्धित है। विज्ञान बड़प्पन की मुद्रा में 'कुछ–नहीं' को छोड़ना चाहेगा। किन्तु अब इस 'कुछ–नहीं' के प्रश्न में यह स्पष्ट हो जाता है कि वैज्ञानिक अस्तित्व तभी सम्भव है जब उसे आरम्भ में ही 'कुछ–नहीं' में प्रक्षेपित किया जाय। विज्ञान अपने साथ तभी समझौता कर सकता है जब वह 'कुछ–नहीं' को नहीं छोड़े। विज्ञान की तथाकथित गम्भीरता तथा उच्चता हास्यास्पद हो जाती है, यदि यह 'कुछ–नहीं' को गम्भीर रूप में नहीं ले पाता। केवल इसलिए कि 'कुछ–नहीं' स्पष्ट है, विज्ञान जो–है को अन्वीक्षण के विषय के रूप में ग्रहण कर सकता है। केवल तभी, जब विज्ञान तत्त्वमीमांसा से अग्रसर होता है, वह अपने तात्त्विक कार्य को सदैव ही जीत सकता है, जो ज्ञान को एकत्रित करने तथा उसके वर्गीकरण करने का नहीं है, अपितु सत्य के समस्त क्षेत्र के सतत् उद्घाटन का है, चाहे प्रकृति में, चाहे इतिहास में।

केवल इसलिए कि 'कुछ–नहीं' हमारे अस्तित्व के आधार में ही प्रकट होता है, जो–है के नितान्त अपरिचय का हम पर प्रकट होना संभव है। जब जो–है का अपरिचय स्वयं हम पर प्रकट होता है, केवल तभी यह हमारे आश्चर्य को जागृत तथा निमन्त्रित करता है। केवल आश्चर्य अर्थात् 'कुछ–नहीं' के प्रकाश के कारण हमारे ओष्ठों पर "क्यों ?" उपस्थित होता है। केवल इसलिए कि यह "क्यों ?" इस प्रकार संभव है, हम एक निश्चित रूप में युक्तियों तथा प्रमाणों को खोज सकते हैं। केवल इसी कारण कि हम प्रश्न कर सकते हैं तथा प्रमाणित कर सकते हैं, हमारी नियति इस जीवन में अन्वीक्षक की हो जाती है।

कुछ-नहीं का अन्वीक्षण हमें अर्थात् अन्वीक्षकों को ही प्रश्न का विषय बना देता है। यह तत्त्वमीमांसात्मक प्रश्न है।

मनुष्य का अस्तित्व जो-है से केवल कुछ-नहीं में प्रक्षेपण के द्वारा ही सम्बन्धित हो सकता है। जो-है के परे जाना अस्तित्व का तत्त्व है। किन्तु यह "परे जाना" स्वयं तत्त्वमीमांसा है। इसीलिए तत्त्वमीमांसा मनुष्य की प्रकृति का अंग है। वह न ही स्कूलवादियों के दर्शन का

विभाग है और न ही आकस्मिक प्रत्ययों का क्षेत्र। तत्वमीमांसा अस्तित्व की आधार-प्रतीति है। वह स्वयं अस्तित्व है। क्योंकि तत्वमीमांसा का सत्य इतना अगाध है, गहनतम भूल का प्रच्छन्न भय सदैव बना रहता है। अतः कोई भी वैज्ञानिक अध्ययन, तत्वमीमांसा की गम्भीरता की समानता करने की आशा नहीं कर सकता। दर्शन कभी भी विज्ञान की धारणा के प्रतिमान से नहीं आँका जा सकता।

कुछ-नहीं की प्रकृति के सम्बन्ध में हमारे द्वारा विकसित यह प्रश्न यदि एक बार हमारे ही द्वारा तथा हमारे ही मध्य में वस्तुतः पूछा जाय तो हम तत्वमीमांसा को कहीं बाहर से नहीं लाते हैं। न ही हम स्वयं को उसमे "ले जाते" है। यह हमारी शक्ति के नितान्त परे है कि हम स्वयं को तत्वमीमांसा में ले जायें क्योंकि जिस सीमा तक हमारा अस्तित्व है, हम पहले ही उसमें हैं। ΦvoEl γap, ω ΦiλE₁, EVEOT'L TIS Θiλοοο Φin Tn TOU avδPos δiavoia (प्लेटो : फीडरस २७९१)। जब तक मनुष्य का अस्तित्व है, किसी न किसी प्रकार की दार्शनिक प्रक्रिया भी चलेगी। दर्शन, जैसा हम मानते हैं, तत्वमीमांसा को गति देना है, तथा तत्वमीमांसा में दर्शन अपनी वास्तविक स्थिति ग्रहण करता है तथा अपने व्यक्त कार्यों को करना आरम्भ करता है। पूर्ण के रूप में सत् की आधार-सम्भावनाओं में पूर्ण एकाग्रता से दर्शन का उत्प्लवन ही, जो केवल उसी के लिए संभव है, उसकी गति का एक मात्र कारण है। इस उत्प्लवन के लिए निम्न बातें निर्णायक महत्त्व की है : प्रथम, समग्रता-में-जो-है के लिए स्थान छोड़ना; द्वितीय, अपने को कुछ-नहीं में जाने देना, अर्थात् उन मूर्तियों से मुक्त करना जो हम सभी की है तथा जिनसे दबे रहने की हमारी प्रवृत्ति है; अन्ततः इस "अनिश्चय" को स्वेच्छित दिशा लेने देना जिससे वह निरन्तर, तत्वमीमांसा के आधार प्रश्न की ओर पुनः लौटे, जिसे स्वयं कुछ-नहीं से निस्सृत किया गया है :

सत् ही क्यों है—केवल कुछ-नहीं ही क्यों नही ?

अनुलेख

तत्वमीमांसा ऐसा शब्द है जिससे, चाहे वह कितना ही अमूर्त तथा चिन्तन के निकट क्यों न हो, हम में से अधिकांश इस प्रकार भागते हैं जिस प्रकार किसी ताड़न पीड़ित से। हेगेल (१७७०-१८३१) वर्क्स सत्रह, पृ. ४००।

यह प्रश्न "तत्वमीमांसा क्या हैं ?" प्रश्न ही रह जाता है। जो इस प्रश्न में लगे रहते है, उनके लिए निम्न अनुलेख एक प्राक्कथन की भांति है। यह प्रश्न कि "तत्वमीमांसा क्या है ?" एक ऐसे प्रश्न को उठाता है जो तत्वमीमांसा के परे की बात है। यह चिन्तन के उस ढंग का परिणाम है जो पहले ही तत्वमीमांसा को अंकुश में लाने के प्रयास में प्रविष्ट हुआ है। यह इस प्रकार की संक्रान्तियों का तत्त्व है कि किन्हीं निश्चित सीमाओं में, वे उसकी भाषा को बोलने के लिए बाध्य है जिसे वह जीतना चाहती हैं। हमें उन विशिष्ट परिस्थितियों के द्वारा जिनमें तत्वमीमांसा की प्रकृति से सम्बन्धित हमारी खोज हुई है, इस भ्रांत मत की ओर नहीं जाना चाहिए कि यह प्रश्न विज्ञानों को आरम्भिक बिन्दु बनायेगा। आधुनिक विज्ञान, जो-है को स्थापित करने तथा उसकी धारणा बनाने के नितान्त भिन्न रास्तों के साथ, सत्य की उस

आधारभूत विशेषता में प्रविष्ट हो गया है, जिसके अनुसार प्रत्येक वह वस्तु जो "है" संकल्प के प्रति संकल्प की विशेषता से युक्त है, जिस-"शक्ति के संकल्प"-के प्रारम्भ में समस्त गोचर आरम्भ हुआ। जो-है की "अस्ति-ता" [Seiendheit] की आधारभूत विशेषता के रूप में गृहीत, "संकल्प", यथार्थ तथा जो-है का समीकरण है, इस रूप में कि यथार्थ की यथार्थता ऐसी सम्प्रभुत्व शक्ति से विभूषित हो जाती है जिससे सामान्य वस्तुकरण किया जा सकता है। आधुनिक विज्ञान न ही उस उद्देश्य की पूर्ति करता है जो उसे मूल रूप में सौंपा गया, न ही वह सत्य के निजत्व को खोजता है। जो-है के वस्तुकरण की विधि के रूप में, परिकलन के द्वारा, यह एक ऐसी अवस्था है, जो सकल्प के द्वारा संकल्प के प्रति लागू की जाती है, जिसके द्वारा संकल्प के प्रति संकल्प अपनी सम्प्रभुता प्राप्त करता है। किन्तु क्योंकि जो-है का समस्त वस्तुकरण, जो-है की स्थापना तथा सुरक्षा में समाप्त होता है, तथा इस प्रकार अपने लिए आगे बढ़ने की संभावना की व्यवस्था करता है, यह वस्तुकरण जो-है में अटक कर रह जाता है तथा इसे ही सत् से कम नहीं मानता। जो-है के प्रति प्रत्येक सम्बन्ध, इस प्रकार सत् के ज्ञान का साक्षी है, किन्तु साथ ही इस ज्ञान के सत्य को प्रामाणिकता देने में स्वयं अपनी असमर्थता का भी। यह सत्य केवल जो-है के विषय में सत्य है। तत्त्वमीमांसा इस सत्य का इतिहास है। यह हमें, जो-है की "अस्ति-ता" के प्रत्ययीकरण के द्वारा, यह बताती है कि जो-है क्या है। जो-है की "अस्ति-ता" में तत्त्व-मीमांसा सत् की धारणा के विषय में विचार करती है किन्तु विचार की अपनी विशिष्ट पद्धति से युक्त सत् के सत्य पर विचार की सामर्थ्य के बिना। तत्त्वमीमांसा सत् के सत्य के क्षेत्र में सर्वत्र विचरण करती है, वह सत्य जो अज्ञात तथा अगाध भूमि बना रहता है। किन्तु यह मानते हुए कि न केवल जो-है सत् से निष्पन्न होता है, किन्तु उस रूप में, जो और भी मौलिक है, सत् स्वयं अपने सत्य में सुस्थिर है, तथा सत् का सत्य, सत्य के सत् का कार्य है, हमें यह अनिवार्यतया पूछना चाहिए कि तत्त्वमीमांसा स्वयं अपने आधार में क्या है। इस प्रश्न को तत्त्वमीमांसात्मक रूप में विचार करना चाहिए तथा साथ ही, तत्त्वमीमांसा के आधार के रूप में सोचना चाहिए, अर्थात् अब तत्त्वमीमांसात्मक रूप में नहीं। ये सारे प्रश्न एक तात्त्विक अर्थ में सन्दिग्ध रहते हैं।

अतः पूर्वोक्त व्याख्यान के विचार प्रवाह को ग्रहण करने के लिए प्रत्येक प्रयत्न अनिवार्यतया बाधाओं से पूर्ण होगा। यह अच्छा ही है। इससे हमारी जिज्ञासा अधिक वास्तविक होगी। वे सभी प्रश्न जो विषय के साथ न्याय करते हैं, स्वयं अपने उत्तरों के लिए सेतु हैं। तात्त्विक उत्तर सदैव हमारी जिज्ञासा में केवल अन्तिम चरण हैं। किन्तु अन्तिम चरण, प्रथम तथा बाद के चरणों की लम्बी शृंखला के बिना उठाना संभव नहीं है। तात्त्विक उत्तर अपनी प्रेरक शक्ति को, प्रश्न करने की प्रत्युत्पन्नता से प्राप्त करता है, तथा उस दायित्व का केवल आरम्भ है जहां प्रश्न करने की बात नवीकृत मौलिकता से उठती है। अतः अत्यन्त वास्तविक प्रश्न भी प्राप्त उत्तर से शान्त नहीं होता।

व्याख्यान के विचार को समझने में दो प्रकार की बाधाएं हैं। प्रथम तो, उन पहेलियों से उत्पन्न होती हैं जो विचार के इस क्षेत्र में छिपी हैं। दूसरी बाधाएं विचारने की असमर्थता तथा बहुधा अनिच्छा से उत्पन्न होती हैं। दिमागी खोज के क्षेत्र में क्षणिक संकेत भी कभी कभी

सहायक हो सकते हैं। यद्यपि वास्तविक सहायता उन्हीं से प्राप्त होती है जिन्हें ध्यानपूर्वक सोचा गया हो। भारी भूलें भी, जो अध वादविवाद की ऊष्णता में क्षिप्त होती हैं, फलदायी हो सकती है। केवल, चिन्तन को प्रत्येक वस्तु को, धैर्यपूर्ण मनन की शान्त अवस्था में, वापस ले लेना चाहिए।

जो प्रमुख भ्रांत धारणाए अथवा शंकाएं इस व्याख्यान से उत्पन्न हुई हैं, तीन शीर्षकों के अन्तर्गत रखी जा सकती है :

१. व्याख्यान में "कुछ-नहीं" को तत्त्वमीमांसा का एक मात्र विषय मान लिया गया है। क्योंकि कुछ-नहीं केवल शून्यात्मक है [Das Nichtige]। इस प्रकार का चिन्तन इस परिणाम को उत्पन्न करता है कि प्रत्येक वस्तु निस्सार है, जिससे न तो जीने का ही कोई मूल्य है और न ही मरने का। "कुछ नहीं का दर्शन" "शून्यवाद" पर अन्तिम शब्द है।

(२) व्याख्यान में एकांगी तथा इससे भी अधिक एक रुग्ण अवस्था, अर्थात् आंग्स्ट को केन्द्रीय मनोवृत्ति के स्तर पर रख दिया गया है। क्योंकि आंग्स्ट सम्भ्रांत तथा कायर लोगों की मन:स्थिति है, इस प्रकार का चिन्तन, साहसी लोगों की दृढ़ दृष्टि का अवमूल्यन करता है। "आंग्स्ट का दर्शन" कर्म के संकल्प को बेकार कर देता है।

(३) व्याख्यान "तर्कशास्त्र" का विरोध करता है। किन्तु क्योंकि बुद्धि में समस्त परिकलन तथा वर्गीकरण के प्रतिमान हैं, इस प्रकार का चिन्तन सत्य से सम्बन्धित सभी निर्णयों को, क्षणिक मनोवृत्ति पर छोड देता है। "मात्र अनुभूति का दर्शन" कार्य की निश्चयात्मकता को तथा "सुनिश्चित" चिन्तन को खतरे में डालता है।

इन उक्तियों के प्रति सही दृष्टि व्याख्यान पर पुन: विचार करने से उभरेगी। उससे यह स्पष्ट हो सकता है कि कुछ-नहीं, जो आंग्स्ट की समस्त प्रकृति को निश्चित करता है, जो-है के रिक्त निषेध द्वारा परिशेष किया जा सकता है, अथवा क्या वह जो कभी भी तथा कहीं भी नहीं "है" अपने को उस रूप में प्रकट करता है जो, जो भी कुछ "है" अर्थात् जिसे हम "सत्" कहते हैं, से भिन्न है। विज्ञान चाहे कहीं भी तथा कितनी ही गहनता से जो-है का अन्वीक्षण करे, वह सत् को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। सदा, जो उसके सम्मुख आता है, वह केवल जो-है है, क्योंकि उसका व्याख्यात्मक उद्देश्य उसे जो-है पर आरम्भ से ही बल देने के लिए बाध्य करता है। किन्तु सत् जो-है का विद्यमान गुण नहीं, न ही, जो-है से असदृश रूप में सत् को वस्तुनिष्ठ रूप में सोचा एव स्थापित किया जा सकता है। यह प्रत्येक वस्तु जो "है" से शुद्ध "अन्य", वह-जो-नहीं-है [Das Nicht-Seiende] है। फिर भी यह "कुछ-नहीं" सत् के रूप में कार्यशील है। इस बिन्दु पर चिन्तन बन्द कर देना तथा, यह सरल व्याख्या मान लेना कि कुछ-नहीं केवल नाशमान है तथा उसे तत्त्वहीन [Das Wesenlose] से समीकृत करना, अपरिपक्व होगा। इस प्रकार की खतरनाक तथा रिक्त चतुराई के वश में आने, तथा अपने अर्थों की समस्त रहस्यात्मक विविधता से युक्त कुछ-नहीं को छोड़ने के स्थान पर, हमें केवल एक बात के लिए स्वयं को तत्पर बनाना तथा तैयार करना चाहिए : कुछ-नहीं में उसकी अपारता का अनुभव करने के लिए जो प्रत्येक वस्तु को अस्तित्व का अधिकार देती है। वह स्वय सत् है।

सत् के बिना, जिसका अथाह तथा अव्यक्त तत्त्व तात्त्विक आंग्स्ट में कुछ-नहीं के द्वारा हमारे लिए स्वीकृत है, प्रत्येक वस्तु जो "है" सत्हीनता [Sein-Losigkeit] में रह जायगी। किन्तु यह भी अपनी बारी में निस्सार कुछ-नहीं नहीं है, यह मानते हुए कि यह सत् का सत्य है, कि सत् जो-है के बिना भी, हो सकता है, परन्तु जो-है बिना सत् के कभी नहीं हो सकता

प्रत्येक वस्तु जो "है" उससे "अन्य" के रूप में सत् का अनुभव हमें आंग्स्ट में होता है, यदि हम आंग्स्ट के आतंक से अर्थात् भीरुता मात्र में उस ध्वनिहीन आवाज़ के प्रति अपने कान बंद न कर लें जो हमें अतल के आतंक से समस्वर बनाती है। स्वाभाविक है कि यदि, तात्त्विक आंग्स्ट के इस मामले में हम व्याख्यान के विचार-प्रवाह से इच्छानुसार अलग हट जाय; यदि हम उस आवाज़ से उत्पन्न मनोदशा के रूप में विचारित आंग्स्ट को कुछ-नहीं के सम्बन्ध से पृथक् कर लें तब आंग्स्ट एक एकान्तिक "अनुभूति" रह जाती है जिसका हम विश्लेषण करते हैं तथा जिसकी हम दूसरी उन अनुभूतियों से. जो भली भांति ज्ञात मनोवैज्ञानिक प्रकारों की सूची में आती है. वैषम्य दिखा सकते है। "उच्च" तथा "निम्न" के साधारण भेद से संकेत लेकर हम विभिन्न मनोवृत्तियों को वर्गों में विभक्त कर सकते हैं : वे जो उत्थानकारी हैं, तथा वे जो पतनकारी हैं। किन्तु "अनुभूतियों" के "प्रकारों", तथा "प्रति-प्रकारों", इन प्रकारों के "भेदों तथा उपभेदों का यह सोत्साह अन्वेषण हमें कभी किसी परिणाम पर नहीं पहुंचाएगा। मनुष्य के नृशास्त्रीय अध्ययन के लिए व्याख्यान की विचार दिशा को समझना सदैव असंभव होगा, क्योंकि व्याख्यान यद्यपि वह सत् की आवाज पर ध्यान देता है, तथापि उसके परे इस आवाज के द्वारा उत्पन्न समस्वरता में विचार करता है, उस समस्वरता में जो तात्त्विक मनुष्य पर इस प्रकार छा जाती है कि वह कुछ-नहीं में सत् का अनुभव करे।

आंग्स्ट के लिए तत्परता, वस्तुओं की आन्तरिकता के प्रति "हां!" कहना है उस सर्वोच्च मांग को पूरा करना है, केवल जो ही मनुष्य के मर्म का स्पर्श करती है। सभी प्राणियों में केवल मनुष्य ही, जब वह सत् की आवाज़ के द्वारा सम्बोधित होता है, समस्त आशयों के आश्चर्य : कि जो-है है, का अनुभव करता है। अतः वह सत् जो अपने तत्त्व मात्र में सत् के सत्य के प्रति आहूत होता है, एक तात्त्विक अर्थ में सदैव समस्वर होता है। तात्त्विक आंग्स्ट के लिए निर्भीक साहस, सभी संभावनाओं में से सर्वाधिक रहस्यात्मक अर्थात् सत् के अनुभव को सुनिश्चित बना देता है। कारण कि, तात्त्विक आंग्स्ट के निकट, अतल के त्रास में, आश्चर्यान्वितभय [Sheu] का निवास है। आश्चर्यान्वितभय मानवीय सत् के उस क्षेत्र को जिसके मध्य मनुष्य, घर के समान. सहते रहने में सहता है, अंगीकार करता है तथा उसे स्पष्ट बनाता है।

दूसरी ओर आंग्स्ट की आंग्स्ट, उतनी दूर जा सकती है कि आंग्स्ट के तत्त्व में उपलब्ध होने वाले उन साधारण सम्बन्धों को ग्रहण करने में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। समग्र साहस को भी क्या मिलेगा यदि यह तात्त्विक आंग्स्ट के अनुभव का नैरन्तरिक आश्रय न ले? जिस सीमा तक हम इस तात्त्विक आंग्स्ट को तथा उसमें सत् के प्रति मनुष्य के लिए स्पष्ट किये गये सम्बन्ध को अविकृत करते हैं, हम साहस के तत्त्व को हल्का बनाते हैं। साहस कुछ-नहीं को सह सकता है : अतल के त्रास में, सत् के समस्त किंतु अपरिचित क्षेत्र में यह उस "स्पष्टी-

करण" से परिचित है, जहाँ से प्रत्येक वस्तु जो "है" जो वह है, में लौटती है तथा . . ।म न होने में समर्थ होती है । हमारे व्याख्यान में न ही कोई "ग्रांग्स्ट का दर्शन" प्रस्तुत किया गया है, और न ही वह एक "वीरोचित" दर्शन होने का भ्रम उत्पन्न करता है । उसका ुक्रमा विचार वह वस्तु है, जो पाश्चात्य चिन्तन में एक चिन्तनीय वस्तु अर्थात् सत् के रूप में अ ८ में उदित हुई है । किन्तु सत् चिन्तन से उत्पन्न नहीं है । अधिक सम्भव यह है कि तात्त्विक चन्तन सत् के घटने का एक रूप है ।

इस कारणवश अब हम पर मुश्किल से संविन्यस्त यह प्रश्न प्रकट होता है, कि क्या इस प्रकार का चिन्तन अपने सत्य के विधान के अनुरूप है, जबकि वह केवल उस चिन्तन का अनुसरण करता है जिसके रूप तथा नियम "तर्कशास्त्र" का निर्माण करते है ? हम इस शब्द को इनवर्टेड कोमों [" "] में क्यों रखते हैं ? यह संकेत देने के निमित्त कि "तर्कशास्त्र" केवल चिन्तन की प्रकृति की एक अभिव्यक्ति है तथा एक ऐसी अभिव्यक्ति, जैसा कि इसके नाम से व्यक्त है, जो यूनानी विचार में प्राप्त सत् के अनुभव पर आधारित है। "तर्कशास्त्र" जिसकी तार्किक अधोगति "तर्कशास्त्रीय अध्ययन" [Logistics] में देखी जा सकती है, के विरुद्ध प्रेरक प्रवृत्ति उस चिन्तन के ज्ञान से उत्पन्न होती है, जिसका स्रोत जो-है की वस्तुनिष्ठता के निरीक्षण में न होकर, सत् के सत्य के अनुभव में है । "सुनिश्चित" चिन्तन कभी भी सर्वाधिक सनियमित चिन्तन नहीं होता, यदि सनियमितता का तत्त्व उस उद्योगशीलता में है जिससे ज्ञान जो-है की तात्त्विक विशेषताओं से सम्पर्क रखता है। "सुनिश्चित" चिन्तन स्वयं को केवल जो-है के परिकलन से आबद्ध रखता है तथा केवल उसी के विषय में सक्रिय होता है ।

समग्र परिकलन परिकलनीय को योग में "निष्पन्न करता है" जिससे इस योग का अगली गणना के लिए उपयोग किया जा सके । जिसका परिकलन सम्भव है उसके अतिरिक्त परिकलन के लिए किसी की भी महत्ता नहीं है । कोई भी विशिष्ट वस्तु क्या है इसका बोध केवल इस बात से होता है कि "योग मे" उसका स्थान क्या है, तथा कोई भी योग गणना में आगे की प्रगति को सुनिश्चित बनाता है । इस प्रक्रिया में संख्याओं का निरन्तर उपयोग होता है तथा यह प्रक्रिया स्वयं एक सतत आत्म-उपभोग है । जो-है की सहायता से परिकलन की "निष्पत्ति" जो-है के सत् की व्याख्या का स्थान रखती है । प्रत्येक वस्तु जो "है" उसे परिकलन पहले से ही संगणन की इकाइयों के रूप में प्रयुक्त करता है, तथा सगणन में, अपनी इकाइयों के भंडार का उपयोग करता है । जो-है का यह उपभोग परिकलन की उपभोगात्मक प्रकृति को प्रकट करता है । संख्या का अपरिमित रूप मे गुणन किया जा सकता है-बिना इस बात का ध्यान किये हुए कि यह अधिक की दिशा में जा रहा है या न्यून की—केवल इसीलिए परिकलन की उपभोगात्मक प्रकृति के लिए अपने गुणन "फलों" के पीछे छिपना, तथा परिकलनात्मक चिन्तन को "फलोत्पादकता" का आभास देना संभव है—जब कि केवल अपने परिणाम में ही नहीं अपितु ऐसी वस्तुमात्र के रूप में जिसका उपभोग अथवा जिसकी व्यवस्था की जा सके, जो-है को स्वीकृत करने की बात परिकलन के प्रमुख तत्त्व की है । परिकलनात्मक चिन्तन अपनी प्रक्रिया के तार्किक पदों में प्रत्येक वस्तु पर काबू करने के लिए स्वयं को बाध्य करता है । उसे इस तथ्य का कोई ज्ञान

सत् के बिना, जिसका अथाह तथा अव्यक्त तत्त्व तात्त्विक आंग्स्ट में कुछ-नहीं के द्वारा हमारे लिए स्वीकृत है, प्रत्येक वस्तु जो "है" सत्हीनता [Sein-Losigkeit] में रह जायगी। किन्तु यह भी अपनी बारी में निस्सार कुछ-नहीं नहीं है, यह मानते हुए कि यह सत् का सत्य है, कि सत् जो-है के बिना भी, हो सकता है, परन्तु जो-है बिना सत् के कभी नहीं हो सकता

प्रत्येक वस्तु जो "है" उससे "अन्य" के रूप में सत् का अनुभव हमें आंग्स्ट में होता है, यदि हम आंग्स्ट के आतंक से अर्थात् भीरुता मात्र में उस ध्वनिहीन आवाज के प्रति अपने कान बंद न कर लें जो हमें अतल के आतंक से समस्वर बनाती है। स्वाभाविक है कि यदि, तात्त्विक आंग्स्ट के इस मामले में हम व्याख्यान के विचार-प्रवाह से इच्छानुसार अलग हट जाय; यदि हम उस आवाज़ से उत्पन्न मनोदशा के रूप में विचारित आंग्स्ट को कुछ-नहीं के सम्बन्ध से पृथक् कर लें तब आंग्स्ट एक एकान्तिक "अनुभूति" रह जाती है जिसका हम विश्लेषण करते हैं तथा जिसकी हम दूसरी उन अनुभूतियों से, जो भली भांति ज्ञात मनोवैज्ञानिक प्रकारों की सूची में आती हैं, वैषम्य दिखा सकते है। "उच्च" तथा "निम्न" के साधारण भेद से संकेत लेकर हम विभिन्न मनोवृत्तियों को वर्गों में विभक्त कर सकते हैं : वे जो उत्थानकारी हैं, तथा वे जो पतनकारी हैं। किन्तु "अनुभूतियों" के "प्रकारों", तथा "प्रति-प्रकारों", इन प्रकारों के "भेदों तथा उपभेदों का यह सोत्साह अन्वेषण हमें कभी किसी परिणाम पर नहीं पहुंचाएगा। मनुष्य के नृशास्त्रीय अध्ययन के लिए व्याख्यान की विचार दिशा को समझना सदैव असंभव होगा, क्योंकि व्याख्यान यद्यपि वह सत् की आवाज पर ध्यान देता है, तथापि उसके परे इस आवाज के द्वारा उत्पन्न समस्वरता में विचार करता है, उस समस्वरता में जो तात्त्विक मनुष्य पर इस प्रकार छा जाती है कि वह कुछ-नहीं में सत् का अनुभव करे।

आंग्स्ट के लिए तत्परता, वस्तुओं की आन्तरिकता के प्रति "हां !" कहना है उस सर्वोच्च मांग को पूरा करना है, केवल जो ही मनुष्य के मर्म का स्पर्श करती है। सभी प्राणियों में केवल मनुष्य ही, जब वह सत् की आवाज़ के द्वारा सम्बोधित होता है, समस्त आशयों के आश्चर्य : कि जो-है है, का अनुभव करता है। अतः वह सत् जो अपने तत्त्व मात्र में सत् के सत्य के प्रति आहूत होता है, एक तात्त्विक अर्थ में सदैव समस्वर होता है। तात्त्विक आंग्स्ट के लिए निर्भीक साहस, सभी संभावनाओं में से सर्वाधिक रहस्यात्मक अर्थात् सत् के अनुभव को सुनिश्चित बना देता है। कारण कि, तात्त्विक आंग्स्ट के निकट, अतल के त्रास में, आश्चर्यान्वितभय [Sheu] का निवास है। आश्चर्यान्वितभय मानवीय सत् के उस क्षेत्र को जिसके मध्य मनुष्य, घर के समान, रहते रहने में रहता है, अंगीकार करता है तथा उसे स्पष्ट बनाता है।

दूसरी ओर आंग्स्ट की आंग्स्ट, उतनी दूर जा सकती है कि आंग्स्ट के तत्त्व में उपलब्ध होने वाले उन साधारण सम्बन्धों को ग्रहण करने में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। समग्र साहस को भी क्या मिलेगा यदि यह तात्त्विक आंग्स्ट के अनुभव का नैरन्तरिक आश्रय न ले ? जिस सीमा तक हम इस तात्त्विक आंग्स्ट को तथा उसमें सत् के प्रति मनुष्य के लिए स्पष्ट किये गये सम्बन्ध को अधिकृत करते हैं, हम साहस के तत्त्व को हल्का बनाते हैं। साहस कुछ-नहीं को सह सकता है : अतल के त्रास में, सत् के समस्त किंतु अपरिचित क्षेत्र में यह उस "स्पष्टी-

पन्ना" से परिचित है, जहां से प्रत्येक वस्तु जो "है" जो वह है, में लौटती है तथा सत्तामान् होने में समर्थ होती है। हमारे व्याख्यान में न ही कोई "ग्रांस्ट का दर्शन" प्रस्तुत किया गया है, और न ही वह एक "वीगोचित" दर्शन होने का भ्रम उत्पन्न करता है। उसका एकमात्र विचार वह वस्तु है, जो पाश्चात्य चिन्तन में एक चिन्तनीय वस्तु अर्थात् सत् के रूप में आरम्भ से उदित हुई है। किन्तु सत् चिन्तन से उत्पन्न नहीं है। अधिक सम्भव यह है कि तात्त्विक चिन्तन सत् के घटने का एक रूप है।

इस कारणवश अब हम पर मुश्किल से संविन्यस्त यह प्रश्न प्रकट होता है, कि क्या इस प्रकार का चिन्तन अपने सत्य के विधान के अनुरूप है, जबकि वह केवल उस चिन्तन का अनुसरण करता है जिसके रूप तथा नियम "तर्कशास्त्र" का निर्माण करते हैं ? हम इस शब्द को इनवर्टेड कोमों [" "] में क्यों रखते हैं ? यह संकेत देने के निमित्त कि "तर्कशास्त्र" केवल चिन्तन की प्रकृति की एक अभिव्यक्ति है तथा एक ऐसी अभिव्यक्ति, जैसा कि इसके नाम से व्यक्त है, जो यूनानी विचार में प्राप्त सत् के अनुभव पर आधारित है। "तर्कशास्त्र" जिसकी तार्किक अधोगति "तर्कशास्त्रीय अध्ययन" [Logistics] में देखी जा सकती है, के विरुद्ध प्रेरक प्रवृत्ति उस चिन्तन के ज्ञान से उत्पन्न होती है, जिसका स्रोत जो-है की वस्तुनिष्ठता के निरीक्षण में न होकर, सत् के सत्य के अनुभव में है। "सुनिश्चित" चिन्तन कभी भी सर्वाधिक सुनियमित चिन्तन नहीं होता, यदि सनियमितता का तत्त्व उस उद्योगशीलता में है जिससे ज्ञान जो-है की तात्त्विक विशेषताओं से सम्पर्क रखता है। "सुनिश्चित" चिन्तन स्वयं को केवल जो-है के परिकलन से आबद्ध रखता है तथा केवल उसी के विषय में सक्रिय होता है।

समग्र परिकलन परिकलनीय को योग में "निष्पन्न करता है" जिससे इस योग का अगली गणना के लिए उपयोग किया जा सके। जिसका परिकलन सम्भव है उसके अतिरिक्त परिकलन के लिए किसी की भी महत्ता नहीं है। कोई भी विशिष्ट वस्तु क्या है इसका बोध केवल इस बात से होता है कि "योग में" उसका स्थान क्या है, तथा कोई भी योग गणना में आगे की प्रगति को सुनिश्चित बनाता है। इस प्रक्रिया में संख्याओं का निरन्तर उपयोग होता है तथा यह प्रक्रिया स्वयं एक सतत आत्म-उपभोग है। जो-है की सहायता से परिकलन की "निष्पत्ति" जो-है के सत् की व्याख्या का स्थान रखती है। प्रत्येक वस्तु जो "है" उसे परिकलन पहले से ही सगणन की इकाइयों के रूप में प्रयुक्त करता है, तथा सगणन में, अपनी इकाइयों के भंडार का उपभोग करता है। जो-है का यह उपभोग परिकलन की उपभोगात्मक प्रकृति को प्रकट करता है। संख्या का अपरिमित रूप में गुणन किया जा सकता है-बिना इस बात का ध्यान किये हुए कि यह अधिक की दिशा में जा रहा है या न्यून की—केवल इसीलिए परिकलन की उपभोगात्मक प्रकृति के लिए अपने गुणन "फलों" के पीछे छिपना, तथा परिकलनात्मक चिन्तन को "फलोत्पादकता" का आभास देना संभव है—जब कि केवल अपने परिणाम में ही नहीं अपितु ऐसी वस्तुमात्र के रूप में जिसका उपभोग अथवा जिसकी व्यवस्था की जा सके, जो-है को स्वीकृत करने की बात परिकलन के प्रमुख तत्त्व की है। परिकलनात्मक चिन्तन अपनी प्रक्रिया के तार्किक पदों में प्रत्येक वस्तु पर काबू करने के लिए स्वयं को बाध्य करता है। उसे इस तथ्य का कोई ज्ञान

नहीं है कि उसके योगों एवं गुणनफलों को निकालना आरम्भ करने के पूर्व ही परिगणन में जो कुछ भी परिकलनीय है वह पहले ही एक पूर्ण है, एक ऐसा पूर्ण जिसका एकत्व स्वभावतया अपरिकलनीय से सम्बन्धित है, जो अपने रहस्य के द्वारा सदैव परिकलन की पकड़ से बचता रहा है, किन्तु वह जो सदैव तथा सर्वत्र आरम्भ से ही परिकलन की मांगों के लिए अनुपलब्ध है तथा उसके बावजू. भी किसी भी वस्तु जो "है", किसी भी वस्तु जिसको वह नियोजित तथा व्यवस्थित कर सकता है, की अपेक्षा रहस्यात्मक अज्ञेयता में मनुष्य के सदैव निकटतर है। यह कभी कभी तात्त्विक मनुष्य को उस चिन्तन के सम्पर्क में ले आता है, जिसके सत्य को कोई "तर्कशास्त्र" ग्रहण नहीं कर सकता। वह चिन्तन जिसके विचार न केवल परिकलन ही नहीं करते, अपितु पूर्णतया जो-है से जो "अन्य" है के द्वारा निर्धारित होते है, तात्त्विक चिन्तन कहा जा सकता है। जो-है के साथ जो-है को जोड़ने के स्थान पर सत् के सत्य के लिए यह सत् में अपना व्यय करता है। यह चिन्तन सत् की मांगों की पूर्ति इस प्रकार करता है, कि मनुष्य अपनी ऐतिहासिक सत्ता उस सरल तथा एकमात्र अनिवार्यता को समर्पित कर देते हैं जिसके दबाव उस आवश्यकता को उतना उत्पन्न नहीं करते जितना कि अभाव [Not] को, जो उत्सर्ग की स्वतन्त्रता में पूर्णता को प्राप्त होता है। आवश्यकता यह है : सत् के सत्य की रक्षा हो, चाहे मनुष्य तथा प्रत्येक वस्तु जो 'है" को कुछ भी क्यों न हो। स्वतन्त्रता के अतल से उत्पन्न होने के कारण सभी दबावों से स्वतन्त्र यह उत्सर्ग जो-है के सम्बन्ध में सत् के सत्य के संरक्षण के लिए हमारी मानवीय सत्ता का व्यय है। उत्सर्ग में वह प्रच्छन्न कृतज्ञता अभिव्यक्त होती है, केवल जो उस श्री को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती है जिससे सत् ने मनुष्य की प्रकृति को विभूषित किया है इसलिए कि सत् के प्रति अपने सम्बन्ध में वह सत् की अभिभावकता को ग्रहण कर सके। मौलिक कृतज्ञता सत् के उपकार की गूज है जिसमें वह अपने लिए स्थान बनाती है तथा एक विलक्षण घटना को घटाती है : कि जो-है है। सत् की ध्वनिहीन आवाज़ के प्रति, यह गून्ज मनुष्य का उत्तर है। उत्सर्ग के द्वारा उसका कृतज्ञतापूर्ण निर्वाक् उत्तर मानवीय शब्द का स्रोत है, जो शब्दों में शब्द की अभिव्यक्ति के रूप में भाषा का प्रथम कारण है। यदि ऐतिहासिक मनुष्य के हृदय में कभी कभी कृतज्ञता न हो, वह कभी भी उस चिन्तन-यह मानते हुए कि समस्त संशय [Bedenken] तथा स्मृति [Andenken] में चिन्तन [Denken] सन्निहित है-को प्राप्त नहीं कर पाता, मूलतः सत् का विचार जिसका चिन्त्य है। किन्तु इसके अतिरिक्त मानवता किस प्रकार मौलिक कृतज्ञता को प्राप्त करती, यदि मनुष्य के लिए सत् का उपकार, उस भव्य दारिद्रय के रूप में जिसमें उत्सर्ग की स्वतन्त्रता अपनी निधि को छिपाती है, इस उपकार के साथ मनुष्य के खुले सम्बन्ध के द्वारा सरक्षित नहीं होता। सत् के उपकार को संरक्षित करने की दिशा में, उत्सर्ग प्रत्येक वस्तु जो "है" के प्रति एक विदावचन है। जो-है के मध्य कार्य करके, उत्सर्ग की तैयारी तथा उसका क्रियान्वीकरण किया जा सकता है, परन्तु वहाँ उसका पूर्ण उत्कर्ष कभी भी नहीं होता। उसका पूर्णोत्कर्ष आन्तरिकता से निष्पन्न होता है, जहाँ से ऐतिहासिक मनुष्य अपने कार्यों–तात्त्विक चिन्तन भी एक कर्म है–के द्वारा उस अस्तित्व को जिसे उसे अपने लिए जीता है, सत् की गरिमा की रक्षा के लिए समर्पित करता है। यह आन्तरिकता एक ऐसी प्रशान्ति है जो मनुष्य के, समस्त उत्सर्ग की विदा सम्बन्धी प्रकृति के

लिए प्रच्छन्न तत्परता को किसी के द्वारा आघात पहुँचने नहीं देती। उत्सर्ग का मूल उस घटना की प्रकृति में है, जिसके द्वारा सत्, सत् के सत्य के लिए मनुष्य पर अपना अधिकार घोषित करता है। अतः स्थिति यह है कि उत्सर्ग किसी परिकलन को सहन नहीं करता, कारण कि परिकलन उत्सर्ग को सदैव उपादेय तथा अनुपादेय के शब्दों में ग़लत आंकता है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि लक्ष्य ऊँचे अथवा नीचे रखे गये हैं। इस प्रकार का परिकलन उत्सर्ग की प्रकृति को विकृत करता है। लक्ष्य की खोज, अनश्वर के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ने वाले आंग्स्ट के लिए तत्पर उत्सर्ग की भावना रूपी आश्चर्यान्वितभय की स्पष्टता को निस्तेज बना देती है।

सत् का विचार जो-है में किसी आश्रय को नहीं खोजता। तात्त्विक चिन्तन परिकलनीय के मन्द चिह्नों को देखता है तथा इसमें अपरिहार्य के अकल्पनीय आगमन को देखता है। इस प्रकार का चिन्तन सत् के सत्य का ध्यान रखता है तथा इस प्रकार सत्य के सत् को मनुष्य के इतिहास में अपना स्थान बनाने में योग देता है। यह योग किसी प्रभाव को उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि उसे किसी प्रभाव की आवश्यकता नहीं है। तात्त्विक चिन्तन अस्तित्व की सरल आन्तरिकता के रूप में योग देता है, उस सीमा तक जिस सीमा तक यह आन्तरिकता यद्यपि उसमें इस प्रकार के चिन्तन की, या उसका सैद्धान्तिक ज्ञान रखने की सामर्थ्य नही होती, अपने ही प्रकार को प्रज्वलित करती है।

सत् की आवाज के प्रति आज्ञाकारी विचार उस शब्द को खोजता है जिसके द्वारा सत् के सत्य की अभिव्यक्ति हो सके। जब ऐतिहासिक मनुष्य की भाषा शब्द से उत्पन्न होती है, केवल तभी यह सत्य प्रतीत होता है। किन्तु यदि वह सत्य प्रतीत होता है, तो गुप्त स्रोतों की ध्वनिहीन आवाज का साक्ष्य, उसे सदैव लुभाता है। सत् का विचार शब्द की सरक्षा करता है और इस प्रकार के संरक्षण मे अर्थात् भाषा के उपयोग की सावधानी मे, अपने कार्य की पूर्ति करता है। सरक्षित निर्वाकता तथा इस प्रकार से स्पष्ट किये गये क्षेत्र के सावधान स्पष्टीकरण से, विचारक का कथन निष्पन्न होता है। कविकृत नामकरण का मूल भी इसी के सदृश है। किन्तु, क्योंकि सदृश केवल उसी सीमा तक सदृश है जिस सीमा तक यह वैमादृश्य के कारण सम्भव होता है, क्योंकि कविता तथा चिन्तन, अपनी शब्द की सावधानी मे अत्यन्त शुद्ध रूप में सदृश हैं, अपने तत्त्व मे वे दोनों वस्तुएँ एक दूसरे की नितान्त विरोधी है। विचारक सत् का कथन करता है। कवि, जो पवित्र है, उसे अभिहित करता है।

हम दर्शन तथा कविता के मध्य सम्बन्धों के विषय में कुछ जान सकते है, किन्तु हम उस कथोपकथन के विषय में कुछ नहीं जानते जो कवि तथा विचारक के बीच होता है, जो "सुदूरतम दो पर्वतों पर एक दूसरे के निकट निवास करते हैं।"

आंग्स्ट[1] आतंक के अर्थ में निर्वाकता के तात्त्विक रंगमंचों में से एक है, जिसमें कुछ-

---

१. जर्मन 'आंग्स्ट' के कई अर्थ हैं : 'पीड़ा, 'चिन्ता' तथा 'भय'। हाई डैग्गर के प्रयोग में, किसी न किसी रूप में इनमें से प्रत्येक का पुट है। इसके अतिरिक्त हाईडैग्गर जर्मन में भी आंग्स्ट' का विशिष्ट प्रयोग करता है जो इस व्याख्यान में उसके स्पष्टीकरण से स्पष्ट है। हिन्दी में 'संताप' 'संत्रास' आदि शब्दों का प्रयोग 'आंग्स्ट' के लिए किया जाता है, पर उससे अर्थ का अनर्थ होने की अधिक संभावना है, अतः यहाँ 'आंग्स्ट' को मूल रूप में ही रहने दिया गया है।—अनु०।

नहीं का अतल हमें धकेल देता है । जो-है से नितान्त "अन्य" के रूप में विचारित कुछ-नहीं सत् का आवरण है । जो-है में जो भी कुछ घटता है, वह सत् में चिरन्तन से पूर्णता ग्रहण करता है ।

यूनान के उषःकाल के अन्तिम कवि की अन्तिम कविता-सोफ़ोक्लीज़ की "कोलोनोस में ईडिपस"-उन शब्दों से समाप्त होती है जो हमें हमारी समझ से कहीं परे, इन लोगों के गुप्त इतिहास की ओर वापिस बुलाते हैं, तथा जो सत् के अज्ञात सत्य में उनके प्रवेश का परिचय देते हैं।

a'λλ anonaVETE Mn' δ' E'ni nλEiw
θPnvov 'ErEiPETE
n'aVTVW r'aP "EXEL Ta'δE kUPOS.

किन्तु अब बन्द करो, और कभी भी
विषाद को प्रकट मत होने दो :
कारण कि यह सब नियत है ।

सत्य का तत्त्व

मार्टिन हाइडैग्गर

अनुवादक : राजेन्द्र स्वरूप भटनागर

हमारा विषय सत्य का तत्त्व है । सत्य की प्रकृति के सम्बन्ध में उठाया गया यह प्रश्न, व्यावहारिक अनुभव अथवा आर्थिक परिकलन के सत्य का, प्राविधिक विचारणाओं अथवा राजनैतिक कौशल के सत्य का या अधिक विशिष्टतया, वैज्ञानिक शोध अथवा काल के सत्य का, यहां तक कि मननात्मक चिन्तन अथवा धार्मिक विश्वास के सत्य का प्रश्न नहीं है । तात्त्विक प्रश्न इन सबकी उपेक्षा करता है, तथा केवल एक ही विषय पर, अर्थात् जो प्रत्येक प्रकार के सत्य का संकेत है, ध्यान केन्द्रित करता है ।

तथापि सत्य की प्रकृति के विषय में, इस प्रकार प्रश्न करते हुए, क्या हम समस्त चिन्तन को रुद्ध करने वाले साधारण के शून्य में खो जाने के संकट में नहीं है ? क्या इस प्रकार के प्रश्न की प्रगल्भता समस्त दर्शन की आधारहीनता का उद्घाटन नहीं ? समस्त मौलिक चिन्तन अथवा यथार्थ की ओर उन्मुख समस्त चिन्तन का प्रथम लक्ष्य, बिना किसी उत्क्रम के उस वास्तविक सत्य का स्थापन होना चाहिए जिससे हमें, प्रचलित मत तथा अनुमान की भ्रान्ति के विरुद्ध कोई प्रतिमान अथवा मानदण्ड प्राप्त हो । इस वास्तविक आवश्यकता के समक्ष होने पर, सत्य की प्रकृति में उस अमूर्त अन्वीक्षण से क्या लाभ है, जो समग्र यथार्थ से अनिवार्यतया विमुख हो जाता है ? सत्य की तात्त्विक प्रकृति के विषय में किया गया प्रश्न, क्या अत्यन्त अतात्त्विक नहीं है ? क्या सभी संभव प्रश्नों में यह सब से कम अनिवार्य प्रश्न नहीं है ?

इन तथ्यों की स्पष्ट अकाट्यता से बचना कठिन है । उनकी अत्यावश्यक गम्भीरता की सरलता से उपेक्षा नहीं की जा सकती । किन्तु इन विचारणाओं से क्या ध्वनित होता है ? "स्वस्थ" साधारण दृष्टि । यह प्रत्यक्षतः उपयोगी के महत्व का आवश्यक प्रतिपादन करती है, तथा जो-है, उसकी प्रकृति के समस्त ज्ञान-वह तात्त्विक ज्ञान जिसे बहुत पहले से ही "दर्शन" की संज्ञा दी गई है-के विरुद्ध आलोचना करती है ।

साधारण दृष्टि को अपनी अनिवार्यता होती है; यह अपने विशिष्ट तथा उपयुक्त साधनों द्वारा अपने अधिकार अर्थात् अपने दावों तथा "स्वतः सिद्ध" प्रकृति की स्थापना करती है । दर्शन साधारण दृष्टि का कभी भी खण्डन नहीं कर सकता, कारण कि साधारण दृष्टि दर्शन की भाषा के प्रति उदासीन है । न ही उसे यह अभिप्रेत हो सकता है, कारण कि, साधारण

दृष्टि उन विषयों के प्रति नितान्त अबोध है. जिन्हें दर्शन अपने तत्वान्वेषी चक्षुओं के सम्मुख रखता है।

इसके अतिरिक्त, जिस सीमा तक हम यह कल्पना करते हैं कि हम, अनुभव तथा कर्म, अन्वीक्षण, कला तथा श्रद्धा के विविध 'सत्यों" में सुरक्षित है. उस सीमा तक हम स्वयं को साधारण दृष्टि के व्यवहार कौशल तक सीमित रखते हैं। हम स्वयं. किसी भी संशयप्रद विषय के द्वारा प्रस्तुत दावों के साधारण दृष्टि द्वारा खण्डन का पोषण करते हैं।

अत: यदि हमें सत्य के विषय में प्रश्न उठाना पड़े, तब इस प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा है : "आज हम कहां खड़े है ?" हम यह जानना चाहते है कि हमारी क्या स्थिति है ? हम उस लक्ष्य के विषय में प्रश्न करते हैं जो मानव के इतिहास में तथा उसके इतिहास के निमित्त निश्चित किया जायगा। हम वास्तविक सत्य चाहते हैं। अच्छा, तो फिर सत्य।

परन्तु वास्तविक सत्य की मांग करने में हमें यह ज्ञान पहले से ही होना चाहिए, कि वास्तव में सत्य का अर्थ क्या है। अथवा, क्या हम उसे केवल "अनुभूति" अथवा "सामान्य" रूप में ही जानते है ? किन्तु क्या यह अस्पष्ट "जानना" तथा उसकी अस्पष्टता के प्रति यह उदासीनता, सत्य की प्रकृति के अज्ञान मात्र से अधिक दयनीय नहीं है।

१. सत्य की पारम्परिक धारणा

साधारणतया हम सत्य से क्या अर्थ ग्रहण करते हैं ? इस शीर्षस्थ परन्तु पिष्टपेषित एवं निश्शेषित प्राय "सत्य" शब्द का अर्थ है : वह जो किसी सत्य वस्तु को सत्य निर्धारित करता है। यह "सत्य वस्तु" क्या है ? उदाहरणार्थ, जब हम यह कहते हैं : "इस कार्य के सम्पादन में सच्चा सुख है।" तो हम विशुद्ध वास्तविक आनन्द का अर्थ लेते हैं। सत्य वास्तविक है। इसी प्रकार हम सच्चे सिक्के को झूठे सिक्के से अलग करते हैं। झूठा सिक्का वस्तुत: वह नहीं है जो वह प्रतीत होता है। वह केवल प्रतीयमान अतः अवास्तविक है। अवास्तविक वास्तविक का विपर्याय है। किन्तु खोटा सिक्का भी तो वास्तविक है। अत: अधिक उपयुक्त रूप में हम कहते हैं : "वास्तविक सिक्का प्रामाणिक सिक्का है।" किन्तु दोनों ही यथार्थ हैं। चलन में आया हुआ खोटा सिक्का किसी भी प्रकार खरे सिक्के से कम यथार्थ नहीं है। अत: प्रामाणिक सिक्के का सत्य उसकी वास्तविकता से ही सिद्ध नहीं होता। पुनः यह प्रश्न उठता है कि "प्रामाणिक" तथा "सत्य" का यहाँ क्या अर्थ है ? प्रामाणिक सिक्का वह यथार्थ वस्तु है, जिसकी यथार्थता हमारे उस अर्थ से अनुकूलता रखती है (In der Ubereinstimmung steht mit) जो हम सदा ही तथा पहले से ही "यथार्थतः" "सिक्के" से लेते हैं। इसके विपरीत जब हमें खोटे सिक्के का संशय होता है, तब हम कहते हैं : "कुछ ठीक नहीं जान पड़ता" (Hier stimmt etwas nicht) दूसरी ओर, उस वस्तु के विषय में, जो वैसी ही है, जैसा उसे होना चाहिए, हम कहते हैं कि : "वह ठीक हैं" (Es stimmt)। वस्तु (Sache) ठीक है।

हम केवल वास्तविक आनन्द, खरे सिक्के तथा इसी प्रकर की अन्य वास्तविकताओं को ही सत्य नही कहते, अपितु इस प्रकार की वास्तविकताओं से सम्बन्धित अपने कथनों को भी,

जो निजी रूप में सत्य अथवा मिथ्या हैं तथा अपने यथार्थ में अमुक अमुक प्रकार के हैं, मुख्यतः "सत्य" अथवा "मिथ्या" कहते है। कोई कथन, उसी समय सत्य हो सकता है, जब उसका अर्थ उस वस्तु के अनुरूप होता है जो उसका कथ्य है। यहाँ भी हम कहते है : "यह ठीक है।" यद्यपि यहाँ वस्तु के विषय में नहीं अपितु वाक्य (Satz) के विषय में ठीक शब्द का प्रयोग होता है।

इस प्रकार सत्य वह है जो ठीक है अथवा जो अनुकूल (das stimmende) है, चाहे वह कोई वास्तविक वस्तु हो या सत्य वाक्य। सत्य, तथा सत्य होना, यहाँ दोहरे रूप में अनुकूलता का अर्थ रखते है : प्रथमतः वस्तु की उस धारणा से अनुकूलता जो उसके विषय में पहले ही बन गई हो (dew iiber sie Vorgemeiuten), तथा द्वितीय, वाक्य के कथ्य तथा वस्तु के मध्य अनुकूलता।

अनुकूलता के इस दोहरे पक्ष को सत्य की पारम्परिक परिभाषा में भली भाँति लक्षित किया जा सकता है : Veritas est adequatio rei et intellectus जिसका यह अर्थ किया जा सकता है-कि, वस्तु की प्रत्यक्षीकरण से अनुकूलता ही सत्य है। किन्तु इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि प्रत्यक्षीकरण की वस्तु से अनुकूलता, सत्य है। स्पष्टतः उपर्युक्त परिभाषा सामान्यतः केवल निम्न सूत्र में ही प्रयुक्त हुई है : Vesitas est adequatio intellectus ad sem. उपर्युक्त रूप में गृहीत, सत्य अथवा वाक्यात्मक सत्य केवल वस्तुनिष्ठ सत्य the adequatio sei ad intellectum के आधार पर ही संभव है। Vesitar (सत्य) की प्रकृति से सम्बन्धित इन दोनों ही धाराओं में किसी के "द्वारा सही किया जाना" (Sich sichten nach) सन्निहित है। दोनों में ही सत्य को ठीक होने (Richigkeit) के अर्थ में ग्रहण किया गया है।

फिर भी एक, दूसरे के ठीक विपरीत नहीं है। वस्तुतः स्थिति यह है कि intellectus तथा res के विषय में प्रत्येक अवसर पर भिन्न रूप मे विचार किया जाता है। उसे समझने के लिए हमें सत्य की पारम्परिक धारणा के सम्बन्ध में मान्य सिद्धान्त के अपरोक्ष (अर्थात् मध्ययुगीन) मूल तक जाना होगा। Adequatio rei ad intellectum के रूप में Varitas में, काण्ट द्वारा प्रस्तुत वाद की परा धारणा—जो मनुष्य की आत्मनिष्ठता के आधार पर ही सभव हैं—कि "विषय हमारे प्रत्ययों के अनुकूल होते हैं (rich richten nach)" अन्तर्भूत नही है। अपितु उसमें यह ईसाई धार्मिक विश्वास अन्तर्निहित है कि वस्तुएँ, यदि वे हैं, तो केवल वही है जो वे हैं, उसी सीमा तक जिस सीमा तक वे सृष्ट वस्तुओं (ens creatum) के रूप में, intellectus divins अर्थात् ईश्वर के मन में पूर्वनिर्धारित प्रत्यय के अनुरूप हैं, तथा इस प्रकार धारणा के अनुकूल है (ठीक है) तथा इस अर्थ में "सत्य" है। इसी प्रकार intellectus humnns भी एक ens creatum है। ईश्वर द्वारा मनुष्य को प्रदत्त शक्ति के रूप में, यह भी ईश्वर के प्रत्यय के अनुकूल होनी चाहिए। किन्तु बुद्धि के प्रत्यय का प्रत्यय के अनुरूप होना इस बात में निहित है कि यह अपनी उन शक्तियो के विचार को वस्तु के अनुकूल उत्पन्न करती है, जो स्वयं प्रत्यय के अनुरूप होनी चाहिए। मानवीय ज्ञान के सत्य होने की संभावना (यह स्वीकार करने पर कि जो "है" वह "सृष्ट" है) इस तथ्य पर आधारित

है कि वस्तु तथा वाक्य समान रूप में प्रत्यय के अनुरूप हैं तथा इस प्रकार वे दैवी सृजनात्मक योजना के एकत्व में परस्पर अनुरूपता रखते हैं। Adequtis rei (creandar) ad intellectum (divinum) के रूप में Veritus, adequates intellectus (humani) ad rem (creatum के रूप में स्थित Veritas की सुरक्षा करता है। तत्व के रूप में Veritas का अर्थ है : Conventia "जो–है" उसका, सृष्ट के रूप में, स्रष्टा के अनुकूल होना अथवा सृजनात्मक व्यवस्था की नियति से अनुकूलता।

किन्तु, सृष्टि की धारणा से असम्बद्ध, यह व्यवस्था सामान्य तथा अनिश्चित रूप में, विश्वव्यवस्था के रूप में भी ग्रहण की जा सकती है। धर्मशास्त्र द्वारा कल्पित सृजनात्मक व्यवस्था, उस सांसारिक बुद्धि (Ivetvernunfl) के योग द्वारा प्रत्येक वस्तु के नियोजन की सम्भावना से विस्थापित की जा सकती है, जो स्वयं अपने लिए विधान है तथा जो यह दावा कर सकता है कि उसकी प्रक्रियाएं अपरोक्षत: बुद्धिगम्य (जिसे हम "तर्कसंगत" कहते हैं) हैं। अत: इस बात के लिए और अधिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं समझी जाती कि वाक्यात्मक सत्य का तत्व वाक्य के ठीक होने पर निर्भर है। यहाँ तक कि जहां स्पष्टतया सफलता के अभाव में, हम यह समझाने का प्रयास करते हैं कि ठीक होने की स्थिति को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, हम ठीक होने की स्थिति को, किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, हम ठीक होने की स्थिति को अव्यक्त रूप में पहले से ही सत्य का तत्व मान लेते हैं। इसी प्रकार, वस्तुनिष्ठ सत्य में सदा विषय विशेष की, उसके तात्विक अथवा "बौद्धिक" प्रत्यय से अनुरूपता अन्तर्भूत होती है। एक मत यह है—जो भ्रान्त है—कि सत्य के तत्व की यह परिभाषा उस सब की तात्विक प्रकृति की व्याख्या से स्वतन्त्र है जो "है" तथा जो उस सबका सत् मात्र है (Sem alles Seinder)—इस प्रकार की व्याख्या में intellectus को पूर्णता देने वाले, तथा उसके वाहक के रूप में मनुष्य की तात्विक प्रकृति की तदनुरूप व्याख्या अन्तर्भूत होती है। इस प्रकार सत्य के तत्व का सूत्र (Varitas est adequetio intellectus et rei) ऐसी सार्वभौमिक प्रामाणिकता प्राप्त कर लेता है जो प्रत्येक को तुरन्त ही स्पष्ट हो जाती है। सत्य की इस धारणा की स्वत: स्पष्ट प्रकृति से जिसके तत्व अधिकांशत: अप्रत्यक्ष ही रहते हैं, प्रभावित हम यह भी उतनी ही स्वत: सिद्ध मान लेते कि सत्य का एक विलोम भी है, अथवा असत्य जैसा भी कुछ है। वाक्यात्मक असत्य (ठीक न होना) वाक्य की वस्तु से अनुरूपता है। वास्तविक असत्य (अवास्तविकता : uneehtheit) जो–है उससे उसके तत्व की अननुरूपता है। दोनों ही स्थितियों में असत्य का अर्थ अनुकूलता का अभाव माना जा सकता है। यह अभाव सत्य की प्रकृति से बहिर्गत है। इस कारण, सत्य के शुद्ध तत्व को ग्रहण करने के प्रयास के समय, सत्य के विलोमभूत असत्य की चर्चा की उपेक्षा की जा सकती है।

किन्तु क्या वस्तुत: सत्य की प्रकृति के विशिष्ट उद्घाटन की कोई आवश्यकता है ? क्या सत्य की साधारणतया स्वीकृत धारणा द्वारा, जो किसी सिद्धांत से दूषित नहीं है तथा अपनी स्वत: सिद्ध प्रकृति द्वारा सुरक्षित है, सत्य के शुद्ध तत्व की उचित रूप में पर्याप्तत: सिद्धि

नहीं हो जाती ? यदि इस सब पर, हम वाक्यात्मक सत्य को वस्तुनिष्ठ सत्य के रूप में ग्रहण कर लें, जैसा कि वह प्रथम दृष्टि में प्रतीत होता है, यथा धार्मिक व्याख्या के रूप में, तथा, यदि, इसके अतितिरिक्त, दार्शनिक परिभाषा को धर्मशास्त्र के समस्त मिश्रण से पूर्णतया मुक्त रखें, तथा सत्य की धारणा को वाक्यात्मक सत्य तक सीमित रखे तब हम तुरन्त उस प्राचीन-यदि सर्व प्राचीन नहीं—विचार परम्परा के सम्मुख पहुँच जाते हैं जिसके अनुसार सत्य किसी वाक्य का वस्तु (pragma) से सादृश्य अथवा उसकी किसी वस्तु से अनुकूलता (Uebereinstimmuns omoiosis) है। यदि हम इस बात को समझते हैं कि "किसी वाक्य की किसी वस्तु से सादृश्य अथवा अनुकूलता" का क्या अर्थ है, तब भी क्या कोई प्रश्न रह जाता है ? क्या हम इस बात को जानते हैं ?

२. अनुकूलता की आंतरिक संभावना

"अनुकूलता" का प्रयोग हम भिन्न अर्थों में करते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम मेज पर दो अर्धक्राउन पड़े देखते है, तब हम कहते है कि वे परस्पर अनुकूल (अनुरूप)* हैं अर्थात् परस्पर सदृश हैं। दोनों देखने में एक से लगते है यह प्रतीयमान रूप दोनों में समान है अतः वे इस दिशा में सदृश हैं। इसके अतिरिक्त, जब हम इन अर्धक्राउनों में से किसी एक के विषय में यह कहते है, यह सिक्का गोल है, तब हम अनुकूलता की बात करते हैं। यहां, कथन, वस्तु अथवा विषय के अनुकूल है। अब सम्बद्धता वस्तु तथा वस्तु मे न होकर, वस्तु तथा कथन में है। किन्तु कथन तथा वस्तु में किस प्रकार की अनुकूलता है, जबकि दोनों में निर्दिष्ट तत्व प्रतीयमान रूप में स्पष्ट-तथा भिन्न है। सिक्का धातु का है। कथन किसी भी अर्थ में भौतिक नहीं है। सिक्का गोल है। कथन में देशीयता का नितान्त अभाव है। सिक्के से आप कुछ क्रय कर सकते हैं। उसके विषय में किया गया कथन कभी भी वैध सिक्का नहीं हो सकता। किन्तु दोनों में अन्तर होने पर भी, उपर्युक्त कथन सिक्के के अनुकूल तथा उसके विषय में सत्य है। तथा, सत्य के स्वीकृत प्रत्यय के अनुसार यह अनुकूलता साम्य (Angleichung) समझी जाती है। किस प्रकार, कथन, जो एक पूर्णतया भिन्न वस्तु है, सिक्के से साम्य रख सकता हैं ? कथन को सिक्का बनना पड़ेगा तथा स्वयं को पूर्णतया उसी रूप में प्रस्तुत करना पड़ेगा। किसी भी कथन के लिए यह संभव नहीं। जैसे ही वह ऐसा करने में सफल हुआ वह कथन के रूप में वस्तु के अनुकूल नहीं रहेगा। साम्य की किसी भी स्थिति में वाक्य को वही रहना पड़ेगा, यही नहीं, प्रथमतः उसे उसी रूप में प्रकट होना पड़ेगा, जो वह है। किसी भी अन्य वस्तु से नितान्त भिन्न, कथन की प्रकृति क्या है ? किस प्रकार कोई कथन, अपनी विशिष्ट प्रकृति में रहते हुए भी, किसी अन्य से अथवा वस्तु से साम्य रख सकता है।

इस स्थिति में, "साम्य", दो ऐसी वस्तुओं में जो प्रकृतितः भिन्न हैं, भौतिक सादृश्य का अर्थ नहीं रख सकता। वस्तुतः साम्य की प्रकृति कथन एव वस्तु के मध्य विद्यमान सम्बन्ध

---

* इस वाक्य में 'अनुरूप' अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। परन्तु सन्दर्भ की दृष्टि से 'अनुकूल' का ही प्रयोग किया गया है—अनु०

के प्रकार द्वारा निर्धारित होती है। जब तक यह "सम्बन्ध" अनिर्धारित तथा अपनी प्रकृति में अगम्य रहता है तब तक साम्य की सम्भावना अथवा असम्भावना, उसके प्रकार तथा उसकी मात्रा से कोई परिणाम नहीं निकलता।

सिक्के के विषय में किया गया यह कथन वस्तु का प्रतिनिधित्व करते हुए तथा प्रतिनिधित वस्तु के सम्बन्ध में यह बताते हुए कि "यह कैसी है", "किसके सदृश है", एवं उस विशिष्ट क्षण में किस दृष्टि से महत्वपूर्ण है-इस वस्तु में 'स्वय को" सम्बद्ध कर लेता है। प्रतिनिधि कथन प्रतिनिधित वस्तु के विषय में वही कहता है जो वह है। यह "यथावत्" (so-wie) प्रतिनिधित्व तथा जिसका प्रतिनिधित्व होता है, दोनों के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है। यदि हम समस्त 'मनोवैज्ञानिक" तथा "चेतना के सिद्धान्त" सम्बन्धी पूर्वधारणाओं की उपेक्षा करें, तो यहां "प्रतिनिधित्व" का अर्थ होगा, किसी वस्तु को अपने सम्मुख किसी विषय के रूप में स्थिति ग्रहण करने देना। इस प्रकार, सम्मुखित वस्तु, अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण, हमारे सम्मुख प्रत्यक्षतः उपस्थित होती है, साथ ही वस्तु के रूप में अपने निजत्व को भी बनाये रखती है तथा स्वयं को स्थिर रूप में व्यक्त करती है। हमारी ओर उन्मुख होने में वस्तु की यह अभिव्यक्ति उन्मुक्त (Das offene) के क्षेत्र में, होती है। जिसकी यह उन्मुक्तता (Offenheit) मूलतः प्रतिनिधित्व द्वारा उत्पन्न नहीं होती, अपितु वह प्रत्येक अवसर पर, सम्बन्धों के क्षेत्र (Bezugshereich), में प्रविष्ट होती है तथा उसी रूप में ग्रहण की जाती है। प्रतिनिधि-वाक्य तथा वस्तु का पारस्परिक सम्बन्ध उस अवस्था (Verhaeltnis) को उत्पन्न करने में योग देता है, जो आरम्भ में व्यवहार (Verhalter) के रूप में आन्दोलित हुई, तथा अब भी उसी प्रकार आन्दोलित है। उन्मुक्त में प्राप्त होने वाले समस्त व्यवहार की यह विशेषता है, कि उसका सम्बन्ध किसी स्वतः व्यक्त (Ein offenheit also ein solches) से होना आवश्यक है। इस प्रकार तथा, केवल इस सकुचित अर्थ में, जो व्यक्त किया जाता है, वह पाश्चात्य चिन्तन की आरम्भिक अवस्थाओं में "जो वर्तमान है" के रूप में अनुभूत हुआ है, तथा उसे बहुत पहले ही "वह जो है" (Das Seiende) की संज्ञा दी गई है।

"जो-है" के प्रति समस्त व्यवहार "उन्मुक्त" (शब्दशः—"खुला रहता है" (Offenstandig) होता है, तथा समस्त "उन्मुक्त" सम्बद्धता ही व्यवहार है। मानव की "उन्मुक्तता" "जो-है" की प्रकृति तथा व्यवहार की अवस्थाओं के अनुसार बदलती रहती है। समस्त कर्म, तथा कार्य साधन, समस्त व्यापार तथा हिसाब किताब उस उन्मुक्त क्षेत्र में होता है जिस में जो-है व्यक्त रूप में अपनी स्थिति इस प्रकार ग्रहण करता है, जिस प्रकार तथा जिस रूप में वह जो है, वह है, तथा इस प्रकार अभिव्यक्ति की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। यह तभी संभव है जब जो-है स्वयं को प्रतिनिधि कथन से प्रस्तुत करता है (Selbst vorstellig wird) जिसके परिणाम स्वरूप यह कथन उस निर्देश के अनुकूल होता है, जो उसे जो-है के "यथा-रूप" को अथवा जैसा कि वह है, को अभिव्यक्त करने का आदेश देता है। इस निर्देश का पालन करते हुए, कथन जो-है के द्वारा अपने को सही करता है (Rich richlet nach) इस प्रकार स्वयं को निर्धारित करते हुए कथन ठीक (सत्य) होता है। तथा जो इस प्रकार कथित है वही ठीक होना (सत्य) है।

कथन का ठीक होना व्यवहार के व्यक्त होने पर निर्भर है, क्योंकि केवल इसी प्रकार कोई व्यक्त वस्तु उस साम्य का प्रतिमान हो सकती है जो प्रतिनिधि कथन में निहित है। उन्मुक्त व्यवहार को यह प्रतिमान स्वयं पर प्रयुक्त करना पड़ता है। इसका अर्थ है : इसे आरम्भिक स्थिति में समस्त प्रतिनिधित्व के लिए प्रतिमान स्वरूप होना चाहिए। यह व्यवहार की उन्मुक्तता में निहित है। किन्तु यदि कथन का ठीक होना (सत्य) केवल व्यवहार की उन्मुक्त विशेपता के कारण ही सम्भव है, तब यह परिणाम निकलता है कि उस वस्तु का, जो प्रथमत: सही होने की स्थिति को सभव बनाती है, सत्य का तत्त्व होने का दावा अधिक मौलिक होना चाहिए। इस प्रकार कथन को अनन्य रूप में, सत्य का एकमात्र तथा उसके मूल की आवश्यक स्थिति मानने की पारम्परिक रीति धराशायी हो जाती है। सत्य की मौलिक स्थिति उक्ति में नहीं होती। साथ ही यह प्रश्न उठता है : किस आधार पर उन्मुक्त व्यवहार के लिए किसी प्रतिमान को निश्चित करना आन्तरिक रूप में सम्भव होता है—जबकि केवल यही सम्भावना उक्त्यात्मक संगति को, किसी मात्रा में, सत्य का तत्त्व उपलब्ध करने का पर्याप्त अधिकार देती है ?

३. संगति (सही होने) की आन्तरिक संभावना का आधार

प्रतिनिधि कथन, विषय के द्वारा स्वयं को सही करने तथा इस प्रकार संगति के अनुकूल होने का आदेश कहां से प्राप्त करता है ? साथ ही यह अनुकूलन (Slimmen) सत्य की प्रकृति को क्यों निर्धारित (bestimmen) करता है ? वास्तव में, पूर्व निश्चित प्रतिमान से अनुरूपता की अथवा इस प्रकार की अनुरूपता को निर्दिष्ट करने वाले आदेश की बात ही किस प्रकार संभव हो सकती है ? केवल इसीलिए कि इस मान्यता (Vorgeben) ने पहले ही अपने को मुक्त कर लिया है (Rich Sreigegeben) तथा वह, उन्मुक्तता में सक्रिय उस अभिव्यक्ति-जो सभी प्रकार के प्रतिनिधित्व के लिए मान्य है-के प्रति उद्‌घाटित हो गई है। किसी मान्य प्रतिमान की अनुकूलता के लिए इस प्रकार "मुक्त होना", केवल किसी पूर्व उन्मुक्त वस्तु को उद्‌घाटित (Sum Offenbaren eines Offenen) करने की स्वतन्त्रता के रूप में ही संभव है। इस प्रकार मुक्त होना, स्वतन्त्रता की अभी तक अगम्य प्रकृति का संकेत देता है। संगति को संभव बनाने के अर्थ में व्यवहार की उन्मुक्त विशेपता स्वतन्त्रता में स्थित है। सत्य का तत्त्व स्वतन्त्रता है।

किन्तु, क्या उक्ति सही होने की प्रकृति के सम्बन्ध में यह उक्ति, केवल एक स्वयं-सिद्ध तथ्य के स्थान पर दूसरे स्वयं-सिद्ध तथ्य को नहीं रखती ? किसी कार्य को, तथा इस प्रकार प्रतिनिधि कथन के कार्य को तथा वास्तव में अनुकूलता रखने अथवा न रखने को, "सत्य" में परिवर्तित करने की क्षमता के लिए कर्त्ता को, स्पष्टतया स्वतन्त्र होना चाहिए। तो भी हमारी उक्ति किसी प्रकार यह संकेत नहीं देती, कि किस वाक्य की पूर्ति में अथवा उसके सम्प्रेषण एवं उसे स्वीकार करने में, ऐच्छिक कर्म का कोई योग होता है। उक्ति का तात्पर्य यह है : स्वतन्त्रता, स्वयं सत्य का तत्त्व है। जो प्रथम अवसर में ही स्वीकार किया जाता है, तथा जिसे सामान्यतया "ज्ञेय" के रूप में ग्रहण किया जाता है, उसकी आन्तरिक सम्भावना के आधार के रूप में ही यहां "तत्त्व" के अर्थ को ग्रहण किया गया है। स्वतन्त्रता की अपनी साधारण

धारणा में, हम सत्य के विषय में विचार नहीं करते, उसके तत्त्व का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अत: यह उक्ति कि सत्य का तत्त्व (कथन का सही होना) स्वतन्त्रता है, अपरिचित प्रतीत होगी ही।

किन्तु सत्य को स्वतन्त्रता में परिवर्तित करना, क्या यह सत्य को मनुष्य की सनक पर छोड़ देना नहीं है ? इस दोलायमान बेंत की तरंग पर छोड़ देने से भी अधिक क्या सत्य को आधारभूत रूप में उन्मूलित नहीं कर दिया जाता ? अभी तक की व्याख्या में जो बात हमारे सुविवेक पर बराबर प्रभाव डालती रही है, अब और भी स्पष्ट हो उठती है; अर्थात् सत्य को मनुष्य के मनोगत स्तर पर उतार लिया गया है। यदि मनुष्य किसी प्रकार वस्तुगत धरातल पर पहुंच भी जाता है तब भी वह अपनी मनोगत अवस्था में मनुष्य ही रहता है तथा मानवीय नियन्त्रण का पात्र रहता है।

नि:सन्देह कपट एवं छद्म, झूठ तथा धोखा, छल तथा पाखंड, संक्षेप में असत्य के सभी रूप मनुष्य पर आरोपित किए जाते हैं। किन्तु असत्य सत्य का विलोम है, जिसके कारण सत्य के ठीक निषेध के रूप में, उसके अ-तत्त्व (Unwesen) को ठीक ही, सत्य के शुद्ध तत्त्व की खोज के क्षेत्र से दूर रखा जाता है। असत्य का यह मानवीय मूल विरोध के द्वारा सत्य "यथावत्" की उस तात्त्विक प्रकृति को, पुष्ट करता है जो मनुष्य पर शासन करती है तथा जिसे तत्त्वमीमांसा अनश्वर तथा शाश्वत मानती है। जो कभी भी मानव जाति के अस्थायित्व तथा भंगुरता पर आधारित नहीं हो सकती। तब, किस प्रकार सत्य का तत्त्व संभवतया मानवीय स्वतन्त्रता में दृढ़ आधार प्राप्त कर सकता है ?

इस उक्ति का विरोध, कि सत्य का तत्त्व स्वतन्त्रता है, उन पूर्वाग्रहों में स्थित है जिन में सर्व प्रबल आग्रह यह दावा करता है कि स्वतन्त्रता मनुष्य का धर्म है तथा स्वतन्त्रता की प्रकृति न तो अधिक जिज्ञासा की अपेक्षा रखती है और न ही उसे स्वीकार करती है। जहां तक मनुष्य का प्रश्न है, हम सब जानते हैं कि वह क्या है।

४. स्वतन्त्रता की तात्त्विक प्रकृति

किन्तु सही होने के रूप में सत्य तथा स्वतन्त्रता के मध्य तात्त्विक सम्बन्ध का संकेत इन पूर्वाग्रहों को छिन्नभिन्न कर देता है, यदि, स्पष्टतया, हम अपने चिन्तन के रूप को परिवर्तित करने के लिए तत्पर हों। सत्य तथा स्वतन्त्रता के मध्य प्राकृतिक साम्य का विचार हमें मनुष्य के स्वभाव के उस पक्ष में, जो उसकी प्रकृति तथा सत्ता के प्रच्छन्न आधार के हमारे अनुभव द्वारा निश्चित है, हल को ढूंढने की प्रेरणा देता है, जिससे हम पहले ही सत्य के मौलिक जीवित क्षेत्र में पहुंच जाते हैं। किन्तु इस अवसर पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वतन्त्रता सही होने की आन्तरिक सम्भावना का आधार केवल इसलिए है कि उसे उसका तत्त्व अधिक मौलिक वस्तु अर्थात् विलक्षणतया तात्त्विक सत्य, से प्राप्त होता है।

आरम्भ में स्वतन्त्रता की परिभाषा, किसी पूर्वत: उन्मुक्त तत्त्व के उद्घाटन की स्वतन्त्रता के रूप में दी गई थी। सत्य के तत्त्व की इस धारणा को किस रूप में ग्रहण किया जा सकता

है ? उन्मुक्त (Das Offenbare), सही रूप में कोई प्रतिनिधि कथन जिसके अनुरूप होता है, वह है जो स्पष्टतया सदैव "है" तथा जिसके व्यवहार का कोई व्यक्त रूप है। किसी उन्मुक्त विषय के उद्घाटन की स्वतन्त्रता जो "है" उसे उसी क्षण, जो वह है होने देती है। स्वतन्त्रता स्वयं को जो-है के "होने-देने" में उद्घाटित करती है।

"होने-देने" की बात सामान्यतया हम उस समय करते हैं, जब, उदाहरणार्थ, हम उस कार्य से स्वयं को अलग कर लेते है जिसकी हमने योजना बनाई हो। "हम उसे होने देते हैं" का अर्थ है : उसमें फिर हाथ न लगाना, उससे कोई सम्बन्ध न रखना। "होने-देने" का यहां, किसी विषय की अवहेलना, त्याग, उसके प्रति उदासीनता यहाँ तक की उपेक्षा का निषेघात्मक अर्थ है।

किन्तु यह वाक्यांश जिसका प्रयोग हम अब कर रहे है, अर्थात् जो-है उसे "होने-देना", उदासीनता अथवा उपेक्षा का संकेत नही देता अपितु उसका अर्थ इनके नितान्त विपरीत है। किसी वस्तु को होने-देना (Seinlasen) वस्तुतः उस वस्तु से कुछ सम्बन्ध रखना है (Rich einlassen any)। यह किसी आकस्मिक रूप में प्राप्त अथवा प्राप्य वस्तु का अन्वेषण करना, सुरक्षित रखना, उसे विकसित करना अथवा नियोजित करना नहीं है। जो-है को वह जो है, होने देने का अर्थ है, किसी उन्मुक्त विषय अथवा उसकी उन्मुक्तता में सक्रिय होना, जिसमें प्रत्येक वह वस्तु जो "है" अपनी स्थिति ग्रहण करती है तथा जिसमें इस प्रकार की उन्मुक्तता अन्तर्भूत है। पाश्चात्य चिन्तन ने इस उन्मुक्तता को आरम्भ में ही Ta alelhea Ta aλaθea, अप्रच्छन्न के रूप में ग्रहण किया। यदि हम ale weia aγnθeia को सत्य के स्थान पर "अप्रच्छन्नता" अथवा "उन्मीलन" से अनुदित करें, तो अनुवाद केवल अधिक "शब्दशः" ही नहीं होगा, अपितु यह हम से यह अपेक्षा भी रखता है, कि हम सत्य की अपनी इस धारणा को Pa वह उक्त्यात्मक अनुकूलता है, बदलें, तथा उसे अभी भी बोधगम्य न होने वाले उस गुण तक ले जायं जो, जो-है की उद्घाट्यता (Ent borqerheit) तथा उसका उद्घाटन (Ent begung) है। जो-है की उद्घाटित प्रकृति में सक्रिय होना, यहीं समाप्त नहीं हो जाता। उसके सम्मुख यह एक शान्त स्थिति को प्राप्त होता है, जिससे जो-है, स्वयं को वह जैसा कि वह है तथा जिस प्रकार वह है, उस रूप में प्रकट करे, तथा वह अनुकूलता जो वाक्य में इसका प्रतिनिधित्व करती है, इसे प्रतिमान के रूप में ग्रहण करे। इस प्रकार "होने-देना" "जो-यथावत्-है" के प्रति स्वयं को अभिव्यक्त करता है (Setz rich ans) तथा समस्त व्यवहार को उन्मुक्त मे ले आता है (Versetzt imo Offene)। "होने-देना" अर्थात स्वतन्त्रता स्वयं अपने में "अभिव्यंजक" (ans setzend) तथा "बहिःस्थित" (Ek-Sistent) है।

सत्य की प्रकृति की दृष्टि से दृष्ट, स्वतन्त्रता की प्रकृति, अब स्वयं को, जो-है की उद्घाटित प्रकृति में "अभिव्यक्ति" के रूप में प्रदर्शित करती है।

स्वतन्त्रता वह नहीं है, जो साधारण दृष्टि उसे मान बैठती है : स्वेच्छानुरूप कार्य करने की तात्कालिक क्षमता तथा वरण में स्वेच्छानुरूप किसी मार्ग का स्वीकार करना। हम क्या

करें, क्या न करें, इसकी छूट को स्वतन्त्रता नहीं कहते। दूसरी ओर, न ही किसी अपेक्षित अथवा आवश्यक [तथा इस प्रकार एक अर्थ में "वास्तविक" (Sciendes)] कार्य को करने की तत्परता मात्र स्वतन्त्रता है। इस सब ('निषेधात्मक' तथा 'विधायक' स्वतन्त्रता) के अतिरिक्त स्वतन्त्रता जो-यथावत्-है (Das Seiende als ein solches) के उन्मीलन में सक्रियता है। इसका उद्घाटन स्वयं उस बहि:स्थित सक्रियता में निश्चित है जिसके द्वारा उन्मुक्त की उन्मुक्तता (Die Offenheit des Offenen), अर्थात्, उसका "वहां" (Da) होना, वही है, जो वह है।

इस अस्तित्व (Da-sein) में, मनुष्य जाति के लिए, वह दीर्घ अगाध तथा तात्विक आधार सुरक्षित है जिसके कारण मनुष्य की बहिः स्थिति संभव है। इस प्रसग में "अस्तित्व" "घटना" (Vorkommen) तथा "सत्" (Dasein) अर्थात् किसी "अस्तित्वमान" (Eines Seienden) की उपस्थिति (Vorhandensein) के अर्थ में (Exblentia) का संकेत नहीं देता, न ही "अस्तित्व" का अर्थ, "अस्तित्ववादी" दृष्टि से, मनुष्य का स्वयं के प्रति नैतिक रूप में व्यस्त होना है जो उसकी मनो-भौतिक रचना का परिणाम है। बहि:स्थिति, जो कि सत्य में स्वतन्त्रता के रूप में अधिष्ठित है, जो-यथावत्-है की उद्घाटित प्रकृति में अभिव्यक्ति से कम कुछ नहीं है। अभी भी अथाह तथा अपने तत्त्व की ओर अधिक गहन थाह पाने की आवश्यकता से अबोध, ऐतिहासिक मनुष्य की बहि:स्थिति उस क्षण आरम्भ होती है जब प्रथम विचारक ने जो-है की उद्घाटित प्रकृति के विषय में यह प्रश्न किया : जो-है क्या है ? इस प्रश्न के साथ अप्रच्छन्नता तथा उद्घाट्यता, सर्व प्रथम अनुभूत होते हैं। समग्र रूप में सत् (Das Sciende im Ganzen) स्वयं को Physis ΦVOLS, "प्रकृति" के रूप में प्रकट करता है, जो अभी तक, जो-है के विशिष्ट क्षेत्र का संकेत नहीं देती, अपितु उससे समग्रता-में-जो-यथावत्-है (Das Sciende als Solches in Ganzen) तथा उसके अतिरिक्त, उद्भेदनशील उपस्थिति (aufgehenden Anwesen) का पता चलता है। केवल जहां जो-है व्यक्त रूप में निजी उद्घाटन की शक्ति प्राप्त करता है। तथा वहां सुरक्षित रहता है, केवल जहां इस सुरक्षण को जो-यथावत् है की खोज के रूप में समझा जाता है, केवल वहीं इतिहास का आरम्भ होता है। समग्रता-में-जो-है का आरम्भिक उद्घाटन, जो-यथावत्-है की खोज, तथा पश्चिम के इतिहास का प्रारम्भ, समान तथा एक ही बात को व्यक्त करते हैं, तथा उस "काल" में समसामयिक है, जो स्वयं अपरिमेय है, तथा जो केवल स्वयं ही उन्मुक्त को सभी प्रकार के माप के लिए लभ्य बनाता है।

किन्तु जो-है के होने देने के अर्थ में गृहीत बहि:स्थित अस्तित्व (Da-sein) यदि मनुष्य को उसकी "स्वतन्त्रता" के लिए मुक्त करता है, केवल तभी, स्वतन्त्रता वास्तविक संभावनाओं में वरण का अवसर उसके सम्मुख उपस्थित करती है तथा वास्तविक आवश्यकताओं को उस पर आरोपित करती है। इस स्थिति में स्वतन्त्रता मानवीय प्रवृत्ति द्वारा संचालित नहीं होती। मनुष्य का स्वतन्त्रता पर सम्पत्ति की भांति अधिकार नहीं होता। इसकी जो विपरीत स्थिति है वहीं सही है। स्वतन्त्रता अथवा बहि:स्थित उद्घाटनशील अस्तित्व (Da-sein), मनुस्य पर अधिकार रखता है, तथा वह इतने मौलिक ढंग से कि केवल वही उसको समग्रता-में-जो-है से

इस प्रकार सम्बद्ध करता है जो उसके इतिहास का आधार तथा उसकी विशिष्ट विशेषता है। केवल बहिःस्थित मनुष्य ही ऐतिहासिक है। "प्रकृति" का कोई इतिहास नहीं होता।

स्वतन्त्रता, जो इस प्रकार जो-है के होने देने के अर्थ में ग्रहण की जाती है, सत्य की प्रकृति की पूर्ति करती है तथा उसे पूर्णता प्रदान करती है, इस अर्थ में, कि सत्य, जो-है का अगोपन तथा उन्मीलन है। सत्य किसी ऐसी सही उक्ति का चिह्न नहीं है जो किसी विषय के सम्बन्ध में किसी मानवीय "ज्ञाता" ने प्रस्तुत की हो, तथा जो तभी-निश्चित रूप में किस क्षेत्र में, यह हम नही जानते-सत्य समझी जाती हो : सत्य वास्तव मे जो-है का उद्घाटन है, ऐसा उद्घाटन जिसके द्वारा जो "उन्मुक्त" है, महत्त्व ग्रहण करता है। समस्त मानवीय व्यवहार उसी उन्मुक्तता में एक अभिव्यक्ति है। अतः मनुष्य अपनी बहिःस्थिति के कारण ही है।

क्योंकि मानवीय व्यवहार (Verhalten) के सभी रूप, अपने २ विशिष्ट ढंग से, उन्मुक्त हैं, तथा वे सदैव उससे सम्बन्धित होते हैं, जिससे उन्हे सम्बन्धित होना चाहिए (Wozu es rich Verhaelt), अतः यह परिणाम निकलता है कि "वस्तुओं को होने देने" के नियमन (Verhalterheit) अर्थात् स्वतन्त्रता ने मनुष्य को अनिवार्यतः अपने विचारों (Vorstellen) को किसी भी क्षण जो-है के अनुरूप बनाने का आन्तरिक निर्देश दिया होगा। मनुष्य बहिः-स्थित है तथा अब उसका अर्थ यह है कि ऐतिहासिक मनुष्य का इतिहास है तथा उसकी सारी सम्भावनाओं ने उसे समग्रता-मे-जो-है के उद्घाटन में निश्चितता प्रदान की है। सत्य की मौलिक प्रकृति जिस रूप में क्रियान्वित होती है, वह रूप इतिहास के अमूल्य तथा सरल निश्चयों को जन्म देता है।

किन्तु, क्योंकि सत्य तत्त्वतः स्वतन्त्र है, अतः ऐतिहासिक मनुष्य, यद्यपि वह वस्तुओं को होने-देता है, वास्तव मे जो-है को केवल जो-वह-है अथवा जैसे वह है के रूप में ही रहने नही दे पाता। तब जो-है को आवृत्त कर लिया जाता है तथा उसे विकृत कर डाला जाता है। भ्रान्तियाँ शासन करने लगती हैं। सत्य का तात्त्विक निषेध, उसका अ-तत्त्व (Unwesen) प्रकट होता है। किन्तु क्योंकि बहिःस्थित स्वतन्त्रता जो सत्य का तत्त्व है, मनुष्य की सम्पत्ति नहीं है, (इसके विपरीत स्थिति यह है कि मनुष्य केवल स्वतन्त्रता की सम्पत्ति के रूप में ही बहिः-स्थित है तथा इसी कारण उसका इतिहास संभव है)। इससे यह निःसृत-होता है, कि अपनी बारी में सत्य का अ-तत्त्व, केवल मनुष्य की असमर्थता तथा उपेक्षा के कारण अनुभव के परिणाम रूप में (A fosteriosi) उत्पन्न नही हो सकता। इसके विपरीत असत्य, सत्य के तत्त्व से ही निगमित होना चाहिए। केवल इसलिए, कि तत्त्वतः सत्य एवं असत्य परस्पर एक दूसरे के प्रति उदासीन नही है, कोई सत्य उक्ति अपनी समरूप असत्य उक्ति की नितान्त विरोधी हो सकती है। सत्य की प्रकृति के लिए हमारी खोज केवल, तभी जिज्ञासा के मौलिक क्षेत्र तक पहुंचती है जब सत्य के पूर्ण तत्त्व के उद्घाटन में प्रारम्भिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के पश्चात् अब हम तत्त्व के उद्घाटन में असत्य सम्बन्धी विचारों को भी सम्मिलित कर लेते है। सत्य के अ तत्त्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा केवल बाद की खानापुरी नहीं है; वस्तुतः यह सत्य की प्रकृति के विषय में कोई भी प्रश्न उचित रूप में उठाने की ओर एक निर्णायक चरण है। किन्तु हम

किस प्रकार सत्य के अ तत्त्व को उसके तत्त्व के अंश के रूप में ग्रहण करें ? यदि सत्य का तत्त्व किसी उक्ति के सही होने में पूर्णतया प्रदर्शित नहीं होता, तब असत्य को भी मत के ग़लत होने से समीकृत नहीं किया जा सकता।

५. सत्य का तत्त्व

सत्य का तत्त्व स्वतन्त्रता के रूप में उद्घाटित हुआ है। यह जो-है को वहिःस्थित उद्घाटनशील "होने-देना" है। व्यवहार का प्रत्येक उन्मुक्त रूप इस "होने-देने" से आन्दोलित है (Schwingt) तथा अपने को किसी भी यथार्थ से सम्बन्धित कर लेता है। इस अर्थ में, कि स्वतन्त्रता का अर्थ समग्रता-में-जो-है के उद्घाटन में सक्रियता है, स्वतन्त्रता ने समस्त व्यवहार को आरम्भ से ही इससे सुसंवादित कर लिया है (abgestimmt)। किन्तु यह सुसंवादिता Gestimmheit) अथवा "अवस्था" (Stimmung), "अनुभव" तथा "अनुभूति" के रूप में कभी-भी ग्रहण नहीं की जा सकती, कारण कि यदि ऐसा समझा जाय, तो यह तुरन्त अपने तत्त्व (Wesen) से वंचित हो जायगी, तथा केवल "जीवन" तथा "आत्मा" के पदों द्वारा व्याख्येय होगी—जो निज रूप में (Weoenheit) तभी तक अस्तित्वमान प्रतीत होंगी, जब तक वे उस सुसंवादिता की कोई विकृत अथवा भ्रान्त व्याख्या प्रस्तुत करें। इस प्रकार की अवस्था, अर्थात् समग्रता-में-जो-है में वहिःस्थित की अभिव्यक्ति मानो केवल "अनुभव की" जा सकती है अथवा उसकी केवल अनुभूति संभव है, कारण कि "अनुभवकर्त्ता" अवस्था (Stimmung) की प्रकृति के सम्बन्ध में किसी भी वोध के विना ही समग्रता-में-जो-है का उद्घाटन करने वाली सुसंवादिता में, भाग लेता है। ऐतिहासिक मनुष्य का समस्त व्यवहार, चाहे उस पर वल दिया गया हो अथवा नहीं, चाहे उसे समझा गया हो अथवा नहीं, समस्वर होता है तथा इस समस्वरता के माध्यम से समग्रता-में-जो-है के स्तर तक उठ जाता है। समग्रता-में-जो-है की व्यक्त विशेपता ज्ञात वास्तविकताओं के योग से तादात्म्य नहीं रखती। इसके विपरीत, जहाँ केवल कुछ वास्तविकताएं ज्ञात हैं अथवा जहां वे विज्ञान द्वारा शायद ही ज्ञात होती हैं, अथवा अत्यन्त स्थूल रूप में ज्ञात हैं, वहां ही समग्रता-में-जो-है की उन्मुक्त विशेपता कहीं अधिक तात्त्विक रूप में सक्रिय हो सकती है, उस स्थिति की तुलना में जहां ज्ञात तथा सर्वदा ज्ञेय का सर्वेक्षण असंभव हो गया हो तथा ज्ञान की प्रक्रिया का अधिक सामना न कर सकता हो, कारण कि वस्तुओं का प्राविधिक नियन्त्रण अपने क्षेत्र में असीम प्रतीत होता है। वस्तुतः ज्ञान की यह आत्म-वृद्धि तथा स्तरीकरण, प्रत्येक वस्तु को जानने की यह इच्छा ही, जो-है की उन्मुक्त विशेपता के, उदासीनता अथवा उससे भी अधिक गई गुज़री विस्मृत्ति की प्रतीयमान रिक्तता में, लुप्त होने का कारण है।

होने-देने का निर्धारक सिद्धान्त समस्त उन्मुक्त व्यवहार का पूर्वाभास पा लेता है, तथा उसमें व्याप्त रहता है जिसे उसने स्वयं से सुसंवादित करते हुए आन्दोलित किया है। मनुष्य का व्यवहार समग्रता-में-जो-है की उन्मुक्त विशेपता से समस्वर है। किन्तु यह "समग्रता-में" हमारे दैनिक परिकलन तथा क्रियाओं के दृष्टि क्षेत्र में अकलनीय तथा अगम्य विपय के रूप में प्रकट होता है। इसे केवल, जो व्यक्त "है"-के शब्दों में ग्रहण नहीं किया जा सकता, चाहे

यह प्रकृति का अंग हो, अथवा इतिहास का। यद्यपि स्वयं निरन्तर सभी वस्तुओं को निर्धारित करता है, तथापि यह "समग्रता-में" अनिर्धारित तथा अनिर्धारणीय रहता है, फलतः सामान्यतया भ्रान्त रूप में इसे वह मान लिया जाता है, जो अत्यन्त निकट है तथा जिसके विषय में अत्यन्त सरलता से विचार किया जा सकता है। साथ ही यह निर्धारक तत्त्व केवल शून्य (Nothing) नहीं है। यह समग्रता में जो-है का गोपन है। ठीक इसीलिए कि "होने-देना" प्रत्येक स्थिति में, प्रत्येक वस्तु को अपनी उचित स्थिति में होने देता है, तथा इस प्रकार यह उसका उद्घाटन करता है, यह तुरन्त ही समग्रता में जो-है को छिपा भी लेता है (Verbigt es das seiende in Ganzen)"। वस्तुओं को होने देना साथ ही उनका गोपन (Verbergen) भी है। अस्तित्व (Da sein) की बहिःस्थित स्वतन्त्रता में समग्रता मे-जो-है आवृत हो जाता है, तथा गोपनीयता उसी में रहती है।

६. गोपन के रूप में असत्य

गोपन (Aletheia αλΝφΕΙα) के उद्घाटन का निषेध करता है, किन्तु अभी वह उसे Stereses ϱΤΕΡΝΟΙS (अभाव, हानि) के रूप में भी ग्रहण नहीं करता। वस्तुतः वह अपने विशिष्ट गुण को Aletheia αλΝφΕΙα का गुण बना लेता है। तो, सत्य को उद्घाटन के रूप में स्वीकार करने वाले दृष्टिकोण से, गोपन अनुद्घाटन (Un-entborgnheit) है, तथा इस प्रकार वह असत्य है जो सत्य की प्रकृति की विशिष्टता है तथा उसी से सम्बन्धित है। समग्रता में जो-है का गोपन, हमारे जो-है के सदैव आंशिक ज्ञान का अनुवर्ती नहीं है। यह गोपनीयता, अथवा वास्तविक (Eigenteich) असत्य, किसी भी वास्तविकता के समग्र उद्घाटन का पूर्वगामी है। यहां तक कि यह जो-है के उस होने-देने का भी पूर्वगामी है जो उद्घाटन द्वारा गोपन करता है तथा इस प्रकार प्रच्छन्नता को स्थापित करता है। वह क्या है जो होने-देने को इस प्रकार गोपन से सह-सम्बन्धित किए रहता है? वस्तुत वह जो समग्रता में गुप्त गोपन (Die Verbergung das verborgenen) अथवा जो यथावत्-है के गोपन अर्थात् रहस्य से कम कुछ नहीं। यह केवल किसी विशिष्ट विषय से सम्बन्धित एकाकी रहस्य नहीं है, अपितु यह एक मात्र तथ्य कि परम रहस्य, यथार्थतः शुद्ध रहस्य (गुप्त का गोपन) मनुष्य के अस्तित्व (Da-sein) में व्याप्त रहता है।

समग्रता में वस्तुओं को होने देना-वह प्रक्रिया जो उद्घाटन तथा गोपन एक साथ सम्पन्न करती है—इस स्थिति को उत्पन्न करता है, कि गोपन मूल वस्तु के गुप्त होने के रूप में प्रकट होता है। अस्तित्व (Da-sein) जिस सीमा तक वह बहिःस्थित है, समस्त अर्थात् वास्तविक असत्य के प्रथम तथा अत्यन्त चरम अनुद्घाटन को पुनः पुष्ट करता है। सत्य का वास्तविक अतत्त्व-यही रहस्य है। यहां अतत्त्व को किसी ऐसे विषय के रूप में ग्रहण नहीं करना है जिसे "तत्त्व" में समान अथवा सामान्य (KOINON, GENOS KOLVOV, & EVOS) के अर्थ में, अतत्त्व की संभावना तथा इस सभावना के आधार के अर्थ में घटाया गया हो। अथवा जिसे इस विशिष्ट अर्थ में "तत्त्व" के विरोध मे ग्रहण किया गया हो। अतत्त्व का अर्थ यहां प्राक्-तत्त्व है, अर्थात् वह जो तत्त्व का पूर्वगामी है (Das vθrwesende wesen)। किन्तु

इसका प्राथमिक एवं मुख्य अर्थ है, उस पूर्व से ही निगमित तत्त्व को विज्ञपित करना। फिर भी, विशेष बात यह है कि इन सभी अर्थों में अतत्त्व, तत्त्व के लिए तात्विक बना रहता है तथा इस अर्थ में कभी भी अतात्विक नहीं होता कि वह उसके प्रति उदासीन है। किन्तु अतत्व तथा असत्य के सम्बन्ध में इस प्रकार कहना साधारण दृष्टि (doxa δοεα) की अत्यन्त उपेक्षा करना है तथा यत्नकृत विरोधाभासों को घसीटना है। क्योंकि इस स्थिति की उत्पत्ति से बचना कठिन है, हम इस प्रकार के कथनों से बचेंगे, जो केवल चिन्तन की मान्य प्रणालियों के लिए ही "विरोधाभासी" हैं; कारण कि, जो सत्य के अतत्त्व के आरम्भिक "अ" तथा असत्य "अ" को जानते हैं, सत् (Sein) के सत्य के अभी तक अनन्वेषित क्षेत्र की ओर संकेत करते हैं, केवल जो-है (Das Sciende) की ओर नहीं।

जो-है के होने-देने के रूप में गृहीत, स्वतन्त्रता तत्त्वत: एक मुक्त संकल्प का सम्बन्ध है और वह केवल अपने में बन्द नहीं है। समस्त व्यवहार इसी सम्बन्ध में अधिष्ठित है तथा इससे जो-है की ओर उन्मुख होने का निर्देश तथा उसको उद्‌घाटित करने का आदेश प्राप्त करता है। किन्तु, उद्‌घाटन से यह साम्य, अपने को उस सीमा तक छिपाता है, जिस सीमा तक यह रहस्य की नैरन्तरिक विस्मृति को प्रधानता देता है, जिससे सम्बद्धता इस विस्मृति में लुप्त हो जाती है। यद्यपि मनुष्य सदा जो-है से सम्बन्धित रहता है, वह लगभग सदा ही उसकी किसी विशिष्ट अभिव्यक्ति को स्वीकृति देता है। वह अब भी, यहां तक कि अन्तिम तत्त्वों के संदिग्ध रहने पर भी उसके क्षेत्र में है, जिसका वह स्पर्श, तथा नियन्त्रण कर सकता है। तथा जब वह जो-है को परिवर्तित करने के लिए उसे पुन: अपनाने एवं प्राप्त करने के लिए, उसकी अभिव्यक्ति का अपनी सक्रियता के विविध क्षेत्रों में विस्तार करने लगता है, तब भी वह अपने निर्देश, व्यावहारिक योजनाओं तथा आवश्यकताओं के क्षेत्र से ग्रहण करता है।

किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में यह स्थैर्य स्वयं गुप्त के गोपन को अपना पूर्ण साम्राज्य देने की अनिच्छुकता है। व्यावहारिक जगत् में भी उलझनें, अस्पष्ट समस्याएं तथा अनिश्चित अथवा संशयग्रस्त विषय होते हैं। किन्तु यह प्रश्न जो अपने में इतने निश्चित प्रतीत होते हैं, केवल हमारी व्यावहारिक क्षेत्र की यात्रा में आने वाले जनपथ अथवा विश्राम स्थल हैं, अत: वे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। जहां कहीं समग्रता में जो है का गोपन, केवल आकस्मिक रूप में, यदा कदा अतिक्रमण करने वाली सीमा के रूप में स्वीकार किया जाता है वहां अस्तित्व (Da-sein) की अधिष्ठान भूमि के रूप में उपस्थित गोपन, विस्मृति में लुप्त हो जाता है।

किन्तु अस्तित्व (Da-Sein) का विस्मृत रहस्य, विस्मृत होने से दूर नहीं हो जाता; इसके विपरीत जो विस्मृत है उसके प्रतीयमान लोप को, विस्मृति एक विशिष्ट अस्तित्व प्रदान करती है जिस सीमा तक रहस्य विस्मृति में तथा विस्मृति के लिए अपना निषेध करता है, वह ऐतिहासिक मनुष्य को व्यावहारिक क्षेत्र में स्वयं अपने साधनों पर भरोसा करने के लिए छोड़ देता है। इस प्रकार छोड़ जाने पर, मानवता अपना "संसार" उन उद्देश्यों तथा आवश्यकताओं से निर्मित करती है जो अत्यन्त तात्कालिक होती हैं तथा उसे वह योजनाओं तथा परियोजनाओं से परिपूर्ण करती है। इनसे मनुष्य, क्रमश: समग्रता-में-जो-है को विस्मृत कर अपने मान दण्ड

प्राप्त करता है। वह उन पर आग्रह करता है तथा मानदण्ड निर्धारित करने के कारण अथवा मानदण्ड की प्रकृति के विषय में सोचे बिना अपने लिए निरन्तर नित नई योजनाएं बनाता रहता है। नवीन मानदण्डों तथा लक्ष्यों की ओर अग्रसर होने के बावजूद भी वह उनकी तात्त्विक वास्तविकता के विषय में भ्रान्त रहता है। जितना एकान्तिक रूप में वह स्वयं को सभी विषयों का मानदण्ड समझता है उतना ही अधिक वह भ्रान्त हो जाता है।

अपनी इस अपरिमित तथा प्रगल्भ (Vermessen) विस्मृति के साथ वह अपने निजत्व की निश्चितताओं से, तथा जो भी अपरोक्षतः लभ्य होता है उससे चिपका रहता है। यह आग्रह (Beharren) जिससे वह अनभिज्ञ है-इस परिस्थिति से पुष्ट होता है कि उसका अस्तित्व (Dasein) बहिःस्थित नहीं है, अपितु साथ ही अन्तःस्थित भी है, अर्थात् वह दृढ़ रूप में उसमें आसक्त रहता है (Besteht auf), जिसे वास्तविकता (Das Seiende), जो मानो निज में स्थित तथा उन्मुक्त है, उसे प्रदान करती है।

बहिःस्थित के रूप में अस्तित्व (Da-Sein) अन्तःस्थित है। किन्तु रहस्य अन्तःस्थित अस्तित्व में भी निवास करता है यद्यपि यहां रहस्य सत्य का वह विस्मृत तत्त्व है जो अब "अतात्त्विक" हो जाता है।

७. भूल के रूप में असत्य

अन्तःस्थित होते हुए मनुष्य, जो-है के अत्यन्त सुलभ अंश में परिवर्तित हो जाता है। किन्तु वह, जो-है को मानदण्ड के रूप में स्वीकार करते हुए केवल पहले से बहिःस्थित होने के कारण अन्त.स्थित है। किन्तु उसके द्वारा गृहीत मानदण्डों के कारण, वह रहस्य से विमुख हो जाता है। व्यावहारिक तथा सुलभ के प्रति वह अन्तःस्थित उन्मुखता तथा रहस्य के प्रति यह बहि.स्थित विमुखता परस्पर सम्बद्ध है। वे एक ही वस्तु हैं। तथापि यह आगे पीछे की गति अस्तित्व (Da-Sein) की विशिष्ट लय के अनुकूल है। मनुष्य का, रहस्य को सदा छोड़ते हुए रहस्य से हटकर व्यावहारिकता की ओर जाना तथा एक व्यावहारिकता से दूसरी व्यावहारिकता की ओर बढ़ना ही भूल है।

मनुष्य भूल करता है। उससे केवल भूल ही नही होती अपितु वह सदा भूल में रहता है, कारण कि बहिःस्थित होने से वह अन्तःस्थित है तथा इस प्रकार पहले से ही भूल में है। जिस भूल में वह रहता है वह उसके समीप से गुजरने वाली खाई की भांति उसके मार्ग में सदा स्थित नहीं रहती, जिसमें वह यदा कदा गिर पड़ता हो। नहीं, भूल अस्तित्व (Da Sein) की आन्तरिक रचना का अंग है, जिसमें ऐतिहासिक मनुष्य अन्तर्ग्रस्त है। भूल, सत् की परिवर्तनशील अवस्थाओं (Wende) के लिए एक नाट्यशाला है, जहां अन्तःस्थित बहिःस्थिति, वर्तन तथा आवर्तन में निरन्तर स्वयं को सदा विस्मृत करती रहती है तथा भ्रान्ति में रहती है। समग्रता में प्रच्छन्न जो-है का गोपन किसी भी क्षण जो-है के उद्घाटन द्वारा सक्रिय हो जाता है, तथा यह उद्घाटन, गोपन का विस्मरण होने के कारण, भूल का कारण बनता है।

भूल सत्य के मौलिक तत्त्व का तात्त्विक प्रति-तत्त्व (Das Wesentlich Gegenwesen) है। यह तात्त्विक सत्य की समस्त प्रति क्रीड़ाओं के लिए एक अनावृत मंच के रूप में

उद्घाटित होता है। भूल अनौचित्य का आधार तथा उद्घाटित अधिष्ठान है। अनौचित्य केवल इक्की दुक्की अशुद्धि ही नहीं है, अपितु उसका पूरा साम्राज्य है, भूल करने के विषय तथा उलझे हुए रूपों का एक पूर्ण इतिहास है।

व्यवहार के समस्त रूपों में से प्रत्येक का, समग्रता-में-जो-है से उनके सह-सम्बन्ध तथा उनकी उन्मुक्तता के अनुरूप, भूल करने का एक अपना ढंग है। अत्यन्त सामान्य भूल, असावधानता, मिथ्यानुमान, से लेकर उस स्थिति में जहां महत्वपूर्ण दृष्टि को अपनाने तथा तात्विक निर्णयों के लेने का प्रश्न उठता है, पथ भ्रष्ट होने तथा पूर्णतया खो जाने तक अनौचित्य का क्षेत्र है। हम साधारण रूप में, तथा इसके अतिरिक्त, दर्शन की शिक्षा के अनुसार "अनौचित्य" के द्वारा जो अर्थ लेते हैं—जैसे किसी निर्णय का ठीक न होना (Unrichtigkeit) तथा किसी प्रत्यक्ष का मिथ्या होना यह भूल करने का केवल एक तथा वह भी अत्यन्त महत्वहीन रूप है। जिस भूल में ऐतिहासिक मनुष्य को सदा रहना पड़ता है, जो उसके मार्ग को अनियमित (Irrig) बना देती है, वह तत्वतः, जो-है की उन्मुक्त विशेषता से तादात्म्य रखती है। मनुष्य को पथ-भ्रष्ट कर भूल उस पर पूरी तरह हावी हो जाती है। किन्तु ठीक इसी दिग्भ्रान्ति (Beirrung) से, भूल मनुष्य की सम्भावना में (जिसे वह सदा अपनी बहिःस्थिति से निःसृत कर सकता है) योग देती है, जो उसे स्वयं को पथभ्रष्ट न होने देने, भूल को स्वयं अनुभव करने, तथा इस प्रकार अस्तित्व (Da-Sein) के रहस्य की अवहेलना न करने की है।

क्योंकि मनुष्य की अन्तःस्थित बहिःस्थिति भूल की ओर ले जाती है और क्योंकि भूल किसी न किसी रूप में सदा दबाव डालती है तथा इसी दबाव के कारण रहस्य को—यद्यपि वह विस्मृत है—निर्दिष्ट करने में समर्थ हो जाती है, इसलिए मनुष्य अपने अस्तित्व (Da-Sein) में रहस्य के तथा स्वयं अपनी पीड़ाओं के शासन के विशिष्टतया आधीन है। उनके मध्य वह विवशता की चरमावस्था में रहता है। सत्य का समग्र तत्व जिसमें उसका "अ-तत्व" भी है, अस्तित्व (Da-Sein) को सदा इधर उधर आवर्तित करते हुए किसी न किसी रूप में सदैव मुसीबत में डाल देता है। अस्तित्व (Da-Sein) वास्तव में, मुसीबत में पड़ना अथवा किसी आवश्यकता में होना है। मनुष्य के अस्तित्व (Da-Sein) से तथा केवल इसी से, अनिवार्यता का उद्घाटन होता है तथा परिणामतः इस अनिवार्यता को किसी अपेक्षित में, किसी अपरिहार्य के रूप में परिवर्तित करने की संभावना भी उत्पन्न होती है।

जो-यथावत्-है का उद्घाटन, साथ ही समग्रता-में-जो-है का गोपन भी है। उद्घाटन तथा गोपन की इस समकालीनता में भूल का प्रभुत्व है। गुप्त का गोपन तथा भूल, सत्य के मौलिक तत्व से ही सम्बन्धित हैं। स्वतन्त्रता, जो अस्तित्व (Da-Sein) की अन्तःस्थित बहिः-स्थिति में है, सत्य का (ऐक्यात्मक संगति के रूप में) तत्व केवल इसलिए है कि वह स्वयं सत्य के मौलिक तत्व से अथवा भ्रान्ति में रहस्य के साम्राज्य से, उत्पन्न होती है। जो-है को होने देने की प्रक्रिया उन्मुक्त सम्बद्धता के क्षेत्र में सम्पन्न होती है। किन्तु समग्रता में जो-यथावत्-है का होने देना उसके तत्व की अनुरूपता में तभी सम्पन्न होता है, जब परवर्ती (अर्थात् समग्रता में जो-यथावत्-है) अपने मौलिक तत्व के रूप में पहले ही ग्रहण कर लिया जाता है (Iiber-

nommeh) । तब रहस्य के लिये "मुक्त निश्चय" भ्रान्ति मात्र के मार्ग पर आने लगता है। तब सत्य की तात्त्विक प्रकृति से सम्बन्धित प्रश्न अधिक मौलिक रूप में तथा अधिक गहराई से उठाया जाता है। और तभी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सत्य का तत्त्व, तत्त्व के सत्य के साथ क्यों सम्बन्धित है। भ्रान्ति से रहस्य में दृष्टिपात करना, केवल एकमात्र विद्यमान प्रश्न के अर्थ में, प्रश्न करना है : वह क्या है जो समग्रता में यथावत् है ? यह प्रश्न तत्त्वतः भ्रान्ति-कारक के विषय में मनन करता है तथा अपने विविध पक्षों के कारण, जो-है के सत् (Das Sein Des Seienden) के सम्बन्ध में अनुत्तरित प्रश्न बना हुआ है। सत् का विचार, जो इस प्रकार की समस्त जिज्ञासा का मौलिक स्रोत है, प्लेटो के समय से ही, "दर्शन" के रूप में ग्रहण किया गया तथा बाद में तत्त्वमीमांसा की संज्ञा से अभिहित हुआ।

८. सत्य तथा दर्शन की समस्या

सत् के इस विचार में, बहिःस्थिति के लिए मनुष्य की स्वतन्त्रता (वह स्वतन्त्रता जो समस्त इतिहास का आधार है) शब्दों में प्रस्तुत की गई है। इसे किसी "मत" की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए; वस्तुतः यह शब्द (सत्) समग्रता-में-जो-है के सत्य की सुसंरक्षित रचना है। यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि कितने लोग इस शब्द को सुन पाते हैं। जो इसे सुनते हैं, वे मनुष्य के इतिहास में मनुष्य के स्थान को निर्धारित करते है। किन्तु उस क्षण, जब दर्शन की उत्पत्ति हुई, तभी उससे पहले नहीं, साधारण दृष्टि का व्यक्त प्रभुत्व भी आरम्भ हुआ।

साधारण दृष्टि, जो व्यक्त है, उसकी अ-समस्यात्मक विशेषता की ओर ही ध्यान आकृष्ट करती है तथा स्वस्थ साधारण दृष्टि एवं उसकी अप्रिय संवेदनशीलताओं पर आक्रमण के रूप में समस्त बौद्धिक जिज्ञासा की व्याख्या करती है।

किन्तु, स्वस्थ साधारण दृष्टि (जो अपने क्षेत्र में पूर्णतया न्यायोचित है), के मूल्यांकन में दर्शन क्या है, यह बात उसके इस तत्त्व पर कोई प्रभाव नहीं डालती, जो पूर्णतः समग्रता में जो-यथावत्-है के मौलिक सत्य से अपने सम्बन्ध के द्वारा ही निर्धारित होता है। किन्तु, क्योंकि सत्य के पूर्ण तत्त्व में "अतत्त्व" भी अन्तर्भूत होता है, तथा क्योंकि यह प्रमुखतया गोपन के रूप में सक्रिय होता है, दर्शन, इस सत्य की खोज के रूप में द्वि-पक्षीय प्रकृति रखता है। ; नन, समग्रता में जो-है के गोपन को अस्वीकार न करते हुए मृदुलता की शान्त गरिमा रखते हैं; साथ ही उनमें कठोरता का "उन्मुक्त निश्चय" भी होता है, जो गोपन को विच्छिन्न किये बिना अपने तत्त्व को पूर्ण एवं अक्षत रूप में, उन्मुक्त में, हमारी बुद्धि में प्रविष्ट कराता है और इस प्रकार अपने निजी सत्य का उद्घाटन करता है।

मृदुल कठोरता में तथा कठोर मृदुलता में, जिसके द्वारा यह जो-यथावत्-है को समग्रता होने देता है, दर्शन एक ऐसी जिज्ञासा बन जाता है, जो न केवल जो-है से संलग्न रहती है, अपितु जो किसी बाह्य प्रमाण को भी स्वीकार नहीं करती है। काण्ट को इस प्रकार के चिन्तन के मर्मान्त का कुछ बोध था जब उसने दर्शन के लिये यह कहा : "वास्तव में अब हम दर्शन को एक संशयात्मक स्थिति में देखते हैं, एक ऐसी स्थिति जो-इस बात की चिन्ता बिना कि यह

न तो स्वर्ग में और न पृथ्वी पर ही किसी भी अन्य वस्तु से संलग्न है अथवा उस पर आश्रित है-सुदृढ़ समझी जाती है, तब इस स्थिति में दर्शन को, अपने नियमों के रक्षक के रूप में-नियमों के सन्देशवाहक के रूप में नहीं, जिन्हें आभ्यान्तरिक बोध अथवा किसी प्रकार की संरक्षक प्रकृति उसके कानों में फुसफुसा देती है—अपनी सच्चाई को सिद्ध करना पड़ता है ।"

दर्शन की प्रकृति की इस व्याख्या के साथ काण्ट, जिसका कार्य पाश्चात्य तत्त्वमीमांसा के आधुनिकतम पक्ष की प्रस्तावना है, उस क्षेत्र में दृष्टिपात करता है, जिसे, क्योंकि उसकी तत्त्वमीमांसा आत्मनिष्ठता में स्थित थी, वह केवल आत्मनिष्ठ शब्दों में ही समझ सकता था, तथा उसे अपने नियमों के रक्षक के रूप में ग्रहण करने के लिये बाध्य था । फिर भी, उसे दर्शन के कार्य की जो झलक प्राप्त हुई, वह अभी भी इतने पर्याप्त रूप में विशद है कि वह दार्शनिक चिन्तन के समस्त दासत्व को अस्वीकार करती है, जिसका अत्यन्त असहाय रूप तब उपलब्ध होता है जब दर्शन को केवल "संस्कृति" की "अभिव्यक्ति" (स्पेंग्लर) एवं सृजनात्मक मानवता के अलंकरण के रूप में अपनी स्थिति सिद्ध करने वाला मानकर छला जाता है ।

क्या दर्शन अन्ततः नियमों के रक्षक के रूप में अपनी मौलिक तथा महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है अथवा क्या वह मुख्यतः उसके सत्य के, जिसके द्वारा नियम शाश्वत नियम हैं, स्वयं संरक्षण के लिये नियत नहीं है अथवा उसके द्वारा संरक्षित नहीं होता, यह एक ऐसी समस्या है, जिसका उसी मौलिक स्रोत-द्वारा (Aus des Anfinglichfceit) समाधान किया जा सकता है, जहाँ सत्य का मौलिक तत्त्व दार्शनिक जिज्ञासा के लिये तात्त्विक हो जाता है ।

प्रस्तुत निबन्ध सत्य से सम्बन्धित प्रश्न को, हमारे मूलभूत प्रत्ययों की पारम्परिक सीमा के परे ले जाता है, तथा हमें यह विचार करने में योग देता है कि कहीं सत्य के तत्त्व का यह प्रश्न, साथ ही, अनिवार्यतः तत्त्व के सत्य का प्रश्न तो नहीं है। किन्तु, दर्शन, "तत्त्व" को सत् के रूप में ग्रहण करता है । किसी कथन के "ठीक होने" की आन्तरिक संभावना को, उस कथन के मूलाधार के रूप में, "होने देने" की बहिःस्थित स्वतन्त्रता से निःसृत कर, यह सुझाव देकर कि इस आधार का तात्त्विक मर्म, गोपन तथा भूल में प्राप्य है, हमने यह संकेत दिया है कि सत्य की प्रकृति किसी "अमूर्त" साधारणोक्ति की, केवल थोथी "सामान्य" विशेषता नहीं है, अपितु कोई ऐसी वस्तु है जो इतिहास (जो स्वतः अद्वितीय है) में अद्वितीय है : अर्थात् जिसे हम "सत्" कहते हैं तथा जिसे हम दीर्घकाल से केवल "समग्रता-में-जो-है" के रूप में सोचने के अभ्यस्त हो गये हैं, उसके "अर्थ" के अनावरण का आत्म-गोपन ।

टिप्पणी

सत्य के तत्त्व के विषय में उपर्युक्त अन्वीक्षण सर्वप्रथम एक सार्वजनिक व्याख्यान के रूप में १९३० में ब्रिमेन, मारबुर्ग एवं फ्राइबुर्ग तथा पुनः १९३२ में ड्रेसडेन में दिया गया। इस व्याख्यान के वे उद्धरण जो सत्य के तत्त्व से सम्बन्धित थे, बारम्बार दोहराये गये, यद्यपि इसका क्रम, इसकी रचना तथा इसकी सामान्य दिशा को सुरक्षित रखा गया ।

"अर्थ" के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रश्न (यथा मेरी पुस्तक-"जाइन उण्ट त्साइत" १९२७) अर्थात् ("जाइन उण्ट त्साइत" पृ- १५१) प्रक्षेपण का क्षेत्र (Entwurjsbereich) अर्थात् उन्मु-

त्तता (Offenheit), अर्थात् केवल जो-है का नहीं, अपितु सत् के सत्य का प्रश्न, जानबूझकर अविकसित छोड़ दिया गया है। सब ओर से चिन्तन की गति तत्त्वमीमांसा के मार्ग का अनुसरण करती है, किन्तु साथ ही, इसके महत्वपूर्ण चरणों के सम्बन्ध में-जो ठीक होने के रूप में सत्य से बहिःस्थित स्वतन्त्रता तक तथा यहाँ से गोपन एवं भ्रान्ति के रूप में असत्य तक ले जाते है—विचार करने पर, यह अन्वीक्षण की दिशा में एक परिवर्तन उपस्थित करती है-एक ऐसा परिवर्तन, जो वास्तव में, तत्त्वमीमांसा की विजय (Ueberwindung) में सम्बन्धित है।

इस व्याख्यान में जो ज्ञान उपलब्ध होता है, वह उस तात्त्विक अनुभव में पुष्पित होता है, जिसके द्वारा उस वस्तु के रूप में जिसमें हमारा प्रवेश संभव है केवल अस्तित्व (Da-Sein) में तथा उससे ही, सत् के सत्य का कोई साम्य ऐतिहासिक मनुष्य के लिये विकसित हो सकता है। केवल प्रत्येक प्रकार की "मानविकी" तथा प्रत्येक प्रकार की (विषयी के रूप में मनुष्य की) आत्मनिष्ठता का परित्याग ही नहीं दिया गया है, जैसी कि स्थिति "जाइन उण्ड त्साइत" में थी तथा इतिहास के प्रति मूलभूत नवीन दृष्टिकोण के "अधिष्ठान" के रूप में ही सत् के सत्य की खोज नहीं की गई, अपितु इस व्याख्यान के दौरान में, इस दूसरे अधिष्ठान अर्थात् अस्तित्व (Da-sein) के शब्दों में सोचने का प्रयत्न भी किया गया है। प्रश्नों की यह शृंखला स्वयं, चिन्तन का एक रूप है, जो, केवल प्रत्ययों को प्रदान करने के स्थान पर, सत् से सम्बद्धता के एक नवीन स्वरूप के रूप में, अपनी अनुभूति तथा परीक्षा करता है।

अन्य मनस्

● जे० एल० आस्टिन

अनुवाद : राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय

मुझे लगता है कि श्री विसडम द्वारा 'अन्य मनस्' पर व्यक्त विचारों [जो Proceedings of the Aristotelian Society, Supp. Vol. XX तथा Mind 1940-३ में कई लेखों द्वारा स्पष्ट हुये, और जो अब 'Other Minds' नामक पुस्तक के रूप में उपलब्ध हैं] से मैं काफी-कुछ सहमत हूँ।...............

यह निःसंदेह ठीक ही है कि श्री विसडम 'अन्य मनस्' की 'उलझन' इन जैसे प्रश्नों में प्रत्युत्पन्न देखते हैं—'हम कैसे जानते हैं कि अन्य व्यक्ति क्रोधित है ?' वे अन्य तरह के प्रश्नों का भी उल्लेख करते हैं : अन्य प्राणियों के विचारों, अनुभूतियों, संवेदनाओं, बुद्धि, आदि को 'क्या हम (कभी भी) जान पाते हैं ?' 'क्या हम जान सकते हैं ?', 'हम कैसे जान सकते हैं ?' इत्यादि। किंतु ये बाद वाले प्रश्न मुझे प्रथम प्रश्न से भिन्न प्रतीत होते हैं। मैं प्रथम प्रश्न के संदर्भ में ही चर्चा करूंगा।

श्री विसडम इस प्रश्न को इस तरह आगे बढ़ाते हैं—क्या यह उसी तरह से जानना है जैसे यह जानना कि देगची खौल रही है, या पड़ोस में चाय-पार्टी है, या इस बीज का यह वजन है ? मुझे लगता है कि श्री विसडम, अपनी बात आगे बढ़ाने में, उस कथन की बिलकुल सही विवेचना नहीं कर पाते जो हम इन प्रसंगों में 'कैसे जानते हो ?' प्रश्न के प्रत्युत्तर में करेंगे। उदाहरणतः, चाय-पार्टी के प्रसंग में यह कहना कि हमने उसे 'सादृश्यानुमान द्वारा' जाना, बहुत हुआ तो एक अच्छा मँजा हुआ उत्तर होगा (जिसे संभवतः कोई तर्कवादी 'आगमन द्वारा' प्राप्त भी कहे)। फिर, यह उत्तर गलत भी प्रतीत होता है, क्योंकि, मेरी समझ में, हम सादृश्यानुमान द्वारा जानने का नहीं, केवल युक्ति का दावा करते हैं। अतः मेरे लिये यह विचार करना आवश्यक होगा कि साधारणतः पूछे गये इस प्रश्न से कि 'तुम कैसे जानते हो ?' वस्तुतः क्या अर्थ निकलता है।

स्पष्ट है कि उक्त प्रश्न के संदर्भ में बहुत-कुछ इस पर भी निर्भर करेगा कि किस वस्तु के विषय में प्रश्न है। स्वाभाविक ही है कि मैं कई वस्तुओं के विषय में इस प्रश्न पर विचार नहीं करूंगा, या विस्तार से विचार नहीं करूंगा। 'वह क्रोधित है' जैसे कथन की तुलना में 'यह कोयल है' ('देगची खौल रही है') जैसे कथन—जो एक विशिष्ट, उपस्थित, आनुभविक

तथ्य का कथन है—ऊपरी तौर पर अति सरल मालूम पड़ते हैं, और साथ ही कठिन भी। यह उस तरह का कथन है जिसके कहने पर पूछे जाने की संभावना है, 'कैसे जानते हो ?' जिसके उत्तर में हम, कभी न कभी, कहते हैं कि हम जानते तो नहीं, ऐसा केवल हमारा विश्वास है। ऐसा कहना एक आड़ हो सकता है तथा कुछ और भी।

जब हम इस तरह का दावा करते है कि 'बाग में कोयल है' या 'वह क्रोधित है' तो एक अर्थ में इससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि हम उस संबंध में संदेहरहित है या उसे जानते हैं—यद्यपि हमारा तात्पर्य, इसी तरह किंतु अधिक सही तौर पर, यह होगा कि ऐसा हमारा विश्वास है। अतः इस तरह दावा करने पर हमें सीधे यह पूछा जा सकता है : (१) 'जानते हो कि (कोयल) वहाँ है ?' 'जानते हो कि (वह) क्रोधित है ?' और (२) 'कैसे जानते हो ?' यदि प्रथम प्रश्न के उत्तर में हम 'हाँ' कहें तो हमें दूसरा प्रश्न पूछा जा सकता है। वैसे साधारणतः प्रथम से ही क्यों के साथ-साथ कैसे का भी आशय लिया जाता है। किंतु, दूसरी ओर, प्रथम प्रश्न के उत्तर में हम 'नहीं' भी कह सकते है : हम कह सकते हैं, 'नहीं, किंतु मेरे विचार मे (कोयल) वहाँ है', 'नहीं, किंतु मुझे विश्वास है कि वह (क्रोधित) है'। यह इसलिये, क्योंकि कथन के दावे से निकलने वाला जानना या संदेहहीनता का तात्पर्य नियत नहीं है : हम सबों की (एकदम या पर्याप्ततः) नियत ढग से शिक्षा-दीक्षा भी नहीं हुई। जब हम यह उत्तर देते हैं, हमें पूछा जा सकता है—'क्यों तुम्हें विश्वास है ?' (या 'तुम्हारा ऐसा विचार क्यों है ?', 'ऐसा मानने का तुम्हारा कारण क्या है ?', आदि)।

प्रश्न के दो प्रकारों-'कैसे जानते हो ?' और 'क्यों विश्वास करते हो ?'—के बीच एक मूलभूत अंतर है। ऐसा नहीं लगता कि कभी भी हम पूछते हों कि 'क्यों जानते हो ?' या 'कैसे विश्वास करते हो ?' इस दृष्टि से तथा अन्य दृष्टियों से भी, जैसा कि हम आगे देखेंगे, न केवल 'मानें', 'सोचें' जैसे शब्द वरन् 'संशयरहित होना' तथा 'निश्चित होना' भी 'विश्वास' का अनुकरण करते है, ''जानना' का नहीं।

'कैसे जानते हो ?' या 'क्यों विश्वास करते हो ?'—इनमें से कोई भी प्रश्न केवल जिज्ञासा-वश, सीखने के सहज उद्देश्य से, पूछा जा सकता है। परंतु ये ही प्रश्न सीधे प्रश्नों के रूप में भी पूछे जा सकते हैं; और इस रूप में उनके बीच एक और अंतर उभरता है। 'कैसे जानते हो ?' इसका संकेत देता है कि शायद तुम जानते ही नहीं हो, जबकि 'क्यों विश्वास करते हो ?' का संकेत है कि शायद तुम्हें विश्वास नहीं करना चाहिये। यहाँ संकेत यह नहीं कि तुम्हें जानना नहीं चाहिये या कि तुम विश्वास नहीं करते। यदि प्रश्नकर्त्ता 'कैसे जानते हो ?' या 'क्यों विश्वास करते हो ?' के उत्तर को असंतोषजनक समझे तो वह इन दो संदर्भों में अपनी बात अलग-अलग ढंग से कहता है। जबकि एक संदर्भ में वह कुछ इस तरह कहेगा 'तब तो तुम ऐसा कुछ नहीं जानते' या 'पर उससे तो बात सिद्ध नहीं होती : वस्तुतः तब तुम उसे जानते ही नहीं'; वहाँ, दूसरी ओर, दूसरे संदर्भ में, उसका कथन कुछ इस तरह होगा 'कथन के पक्ष में वह प्रमाण तो बड़ा ही कमजोर है : केवल उसी के भरोसे तुम्हें विश्वास नहीं कर लेना चाहिये'।

यहाँ कथित विश्वास की 'सत्ता' को नहीं, वरन् कथित ज्ञान की 'सत्ता' को चुनौती दी गई है। यदि हम कहना चाहें कि 'मैं विश्वास करता हूँ', और उसी तरह 'मैं संदेहरहित हूँ' तथा 'मैं निश्चित हूँ', आत्मनिष्ठ (Subjective), मानसिक (Mental) या प्रज्ञानात्मक (Cognitive) स्थितियों के विवरण (Description) हैं, तब 'मैं जानता हूँ' ऐसा विवरण नहीं है, या कम से कम ऐसा विवरण-मात्र नहीं है : बोल-चाल में इसकी क्रिया-विधि भिन्न है।

अब कोई कह सकता है, 'ठीक' साफ है कि "मैं जानता हूँ" ऐसे विवरण से अधिक है, स्वयं मेरी स्थिति के विवरण से कुछ अधिक है। यदि मैं जानता हूँ, तो गलत नहीं हो सकता। सदैव यह दिखा कर कि मैं गलत हूँ, या हो सकता हूँ तुम कह सकते हो कि मैं नहीं जानता; अथवा, यह दिखा कर कि मैं गलत हो सकता था तुम कह सकते हो कि मैं नहीं जानता था। इस तरह से, जानना की भिन्नता पक्के से पक्के निश्चय से भी है।' इस पर विचार अवश्य यथा-समय करेंगे, किंतु पहले हम इन प्रत्युत्तरों के प्रकारों पर विचार करें जो 'कैसे जानते हो ?' के उत्तर में दिये जा सकते हैं।

मान लें कि मैंने कहा 'बाग की दूसरी ओर एक मैना है' और तुमने पूछा 'कैसे जानते हो ?' तो मेरा उत्तर कई तरह से हो सकता है :

[क] मैंने जंगलों में काफी-कुछ सीखा
[ख] मैंने सुना
[ग] माली ने बताया
[घ] उसकी कूक से
[ङ] कूक के स्वर से
[च] क्योंकि वह कूक रही है।

मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि प्रथम तीन 'तुमने किस तरह जाना ?' 'कैसे तुम जानने की स्थिति में हो ?' 'कैसे तुम जानते हो ?' प्रश्नों की अलग-अलग समझ से उत्पन्न उत्तर हैं : जबकि अन्य तीन उत्तर 'कैसे कह सकते हो ?' प्रश्न को विभिन्न विधाओं में समझने से उत्पन्न हैं। मतलब यह कि, तुम्हारे प्रश्न को निम्नलिखित ढंगों से समझ सकता हूँ :

(१) मैं किस तरह ऐसी स्थिति में पहुँचा कि मैना पक्षियों के संबंध में जानूँ ?
(२) मैं किस तरह ऐसी स्थिति में पहुँचा कि कह सकूँ कि अभी यहाँ एक मैना है ?
(३) मैं किस तरह मैना का विवरण देता (दे सकता) हूँ ?
(४) मैं किस तरह अभी और यहाँ उपस्थित वस्तु को मैना के रूप में निरूपित करता (कर सकता) हूँ ?

तात्पर्य यह कि यह जानने के लिये कि यह एक मैना है, मेरे लिये आवश्यक है कि मैंने

(१) ऐसे वातावरण में प्रशिक्षण प्राप्त किया जहाँ मैना की जानकारी हो सके
(२) प्रस्तुत स्थिति में एक विशेष अवसर उपलब्ध किया
(३) मैना की पहिचान या उसका विवरण सीखा

(४) इसको एक मैना के रूप में पहिचानने या विवरण में सफलता प्राप्त की। यहाँ (१) और (२) से आशय है कि अवश्य मेरे अनुभव कुछ विशेप प्रकार के थे, कि अवश्य मुझे कुछ विशेप अवसर उपलब्ध थे : (३) और (४) से आशय है कि अवश्य मैंने एक विशेष प्रकार व विशेप परिमाण के सूक्ष्म निरीक्षण से काम लिया।

उक्त (१) और (३) में उठाये गये सवाल पहिचानना सीखने में हमारे पूर्व अनुभव, अवसर व क्रिया-कलापों से संबंधित हैं। हमारे द्वारा अर्जित भाषागत प्रयोगों का औचित्य अथवा अनौचित्य भी उन्हीं से संबद्ध है। इन्हीं पूर्व अनुभवों पर यह निर्भर करता है कि हम वस्तुओं को कितनी अच्छी तरह जानते है—उसी तरह जैसे हमारे पूर्व अनुभव पर यह निर्भर करता है कि, 'जानना' की विभिन्न प्रज्ञानात्मक स्थितियों में, हम कितना विस्तार से या कितना पास से जानते है : हम किसी व्यक्ति को प्रत्यक्ष द्वारा या पास से, किसी शहर को अंदर-बाहर से, उपपत्ति को विपरीत-क्रम से, कार्य को पूरे विस्तार में, किसी कविता को शब्दानुशब्द, किसी फ्रांसीसी को उसे देखकर जानते हैं। 'वह नहीं जानता कि प्यार (असल भुखमरी) क्या है' का अर्थ है कि उसे पर्याप्त अनुभव नही जिससे कि वह उसे पहिचान सके और उसी तरह की अन्य चीजों से उसका अंतर समझ सके। किसी वस्तु का मेरे द्वारा पहिचाना जा सकना, उसका विवरण, पुनः प्रस्तुतीकरण, चित्रण, पाठन, प्रयोग, आदि किया जा सकना, इस पर निर्भर करता है कि कितनी अच्छी तरह मैं वस्तु को जानता हूँ और किस प्रकार की वह वस्तु है। 'मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूँ कि वह क्रोधित नहीं है' या 'तुम बहुत अच्छी तरह जानते हो कि यह सूती वस्त्र नहीं है' जैसे कथन, वर्तमान वस्तु-स्थिति के संबंध में होने पर भी, ज्ञान की उत्तम योग्यता को पूर्व अनुभव पर आरोपित करते हैं। उसी तरह इस सामान्य अभिव्यक्ति में भी होता है—'तुम जैसे अनुभवी को तो और भी अच्छी तरह जानना चाहिये'।

इसके विपरीत (२) और (४) में उठाये गये सवाल प्रस्तुत वस्तु-स्थिति की परिस्थितियों से संबद्ध है। यहाँ हम पूछ सकते है 'कितना निश्चयपूर्वक तुम जानते हो ?' तुम्हारा जानना सुनिश्चित, वस्तुनिष्ठ, अधिकारिक स्वाधिकारपूर्ण, अकाट्य साक्ष्य पर आधारित, केवल परोक्ष आदि हो सकता है।

यह कुछ अटपटा-सा है कि 'कैसे जानते हो ?' प्रश्न के कुछ उत्तर 'जानने के कारण' या 'जानने के लिये कारण' के रूप में, या कभी-कभी 'मैं क्यों जानता हूँ के कारण' के रूप में-यद्यपि वस्तुतः हम नहीं पूछते कि 'क्यों जानते हो ?'—समझे जाते हैं। किंतु निश्चय ही, शब्दकोश के अनुसार, 'कारण' तभी देना चाहिये जब प्रश्न 'क्यों ?' हो, जैसा कि वास्तव में हम 'क्यों विश्वास करते हो ?' के उत्तर में विश्वास के कारण देते हैं। फिर भी, यहाँ एक अंतर करना चाहिये। 'कैसे जानते हो कि डॉ० तेजा ने जयंती शिपिंग कार्पोरेशन का पैसा खाया ?' 'मेरे पास जानने के सभी कारण हैं : मैं तदर्थ जाँच करने वाले विशेप कर्मचारियों में से एक था' : यहाँ जानने के लिये अपने कारण देने से मतलब यह बतलाना है कि कैसे मैं जानने की स्थिति में पहुँचा। इसी तरह हम इन अभिव्यक्तियों का भी प्रयोग करते हैं—'मैं जानता हूँ क्योंकि मैंने उसे वैसा करते हुये देखा' या 'मैं जानता हूँ क्योंकि मैंने उसे अभी दस

गिनट पहले ही देखा' : इन्हीं अभिव्यक्तियों के समान ये अभिव्यक्तियाँ भी हैं—'तो ये है : यह प्लूटोनियम ही है । कैसे तुमने जाना ?' 'भाषा-विज्ञान लेने के पहले स्कूल में मैंने काफी-कुछ भौतिक-विज्ञान भी पढ़ा', अथवा 'मुझे जानना ही चाहिये : मैं केवल कुछ गज की दूरी पर ही खड़ा था'। दूसरी ओर, विश्वास करने के कारण देना साधारणतः कुछ और ही बात है (लक्षण गिनना, पक्ष में युक्तियाँ देना, आदि), यद्यपि कुछ ऐसी स्थितियाँ होती हैं जिनमें विश्वास के कारण के रूप में हम अपनी उस परिस्थिति का उल्लेख करते हैं जिसमें हमें अच्छा साक्ष्य मिल सके : 'क्यों तुम्हारा विश्वास है कि वह झूठ बोल रहा था ?' 'मैं उसे बड़े ध्यान से देख रहा था'।

उन स्थितियों का जिनमें हम चीजों को जानने के अपने कारण देते हैं एक विशेष और महत्वपूर्ण वर्ग उनका है जिनके कारण-रूप में हम अधिकारियों का उद्धरण देते हैं। यदि पूछें 'कैसे जानते हो कि आज चुनाव है ?', मेरा समुचित उत्तर होगा 'मैंने ऐसा नव-भारत में पढ़ा' और यदि पूछें 'कैसे जानते हो कि चंद्रगुप्त ने सेल्युकस को हराया ?' मेरा समुचित उत्तर हो सकता है—'मौर्यकाल के इतिहास-विशेषज्ञ स्पष्टतः यही कहते हैं'। इन स्थितियों में 'जानना' का सही प्रयोग हुआ है : हमारा जानना साक्ष्यापेक्ष (Second hand) होता है जब हम ऐसे अधिकारी का हवाला दे सकते हैं जो जानने की स्थिति में था (शायद स्वयं भी केवल साक्ष्यापेक्ष रूप से ही) ।[1] किसी अधिकारी का कथन किसी वस्तु के प्रति मेरा ध्यान आकर्षित करता है, इस योग्य बनाता है कि मैं कुछ जानूँ जिसे अन्यथा मैं न जान पाता । यह एक ज्ञान-स्रोत है। कई स्थितियों में जानने के ऐसे कारणों की तुलना उन्हीं चीजों के प्रति विश्वास के अन्य कारणों से की जाती है : 'यदि हम उसे हत्यारा न भी जान पाते, वह स्वीकारोक्ति भी न करता, तथापि उसके विरुद्ध साक्ष्य ही उसे फाँसी पर लटकाने में पर्याप्त होते।'

निसंदेह यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के 'ज्ञान' में मानवीय साक्ष्य की अविश्वसनीयता (पक्षपात, भूल, झूठ, बढ़ा-चढ़ाकर बोलना, आदि) के कारण 'गलती की संभावना' है। फिर भी, मानवीय साक्ष्य का अंश आ जाने से स्थिति में आधारभूत परिवर्तन हो जाता है। हम कहते हैं, 'हम कभी न जान पायेंगे कि हल्दीघाटी-युद्ध के मैदान में राणा प्रताप के मन के भाव क्या थे', क्योंकि उन्होंने इसका विवरण नहीं लिखा : यदि उन्होंने लिखा, तो कहना कि 'हम

टिप्पणी [1]. साक्ष्यापेक्ष ढंग से, या अधिकारी से जानने का अर्थ 'परोक्षतः जानना' नहीं है, फिर चाहे इस कठिन और संभवतः बनावटी अभिव्यक्ति का जो भी अर्थ हो। यदि हत्यारे की 'स्वीकारोक्ति' हो, तो फिर 'स्वीकारोक्ति' के मूल्य के संबंध में हमारा जो मत हो हम यह नहीं कह सकते कि 'हम (केवल) परोक्षतः जानते हैं कि उसने हत्या की', और न ही तब हम ऐसा कह सकते हैं जब कोई साक्षी, विश्वसनीय या अविश्वसनीय, कहे कि उसने उस मनुष्य को वैसा करते देखा । परिणामतः, यह भी कहना ठीक नहीं कि स्वयं हत्यारा 'प्रत्यक्षतः' जानता है कि उसने हत्या की, फिर चाहे 'प्रत्यक्षतः जानना' का जो भी निश्चित अर्थ हो।

कभी न जान पायेंगे' ठीक न होगा, चाहे फिर भले हमारे पास यह कहने का कारण हो—'यह विवरण कुछ जँचता नहीं : हम वस्तुतः कभी न जान पायेंगे कि सत्य क्या था', इत्यादि। हमारी सावधानी स्वाभाविक ही है : हम नहीं कहते कि हम जानते है (साक्ष्यापेक्षा से), यदि साक्ष्य के प्रति सदेह का कोई विशेप कारण हो : पर कोई कारण होना अवश्य चाहिये। बातचीत में (जैसे अन्य विपयों में भी) यह आधारभूत है कि हमें दूसरों पर विश्वास का हक़ है, बशर्ते कि उन पर अविश्वास का कोई ठोस कारण न हो। मनुष्यों पर विश्वास, साक्ष्य की मान्यता, बातचीत का सार, या एक प्रमुख सार-तत्व, है। हम (मुक़ाबिले) के खेल तभी खेलते हैं जब कि हमें विश्वास हो कि हमारा प्रतिद्वंद्वी जीतने का यत्न कर रहा है : यदि वह यत्न नहीं कर रहा, तो फिर वह खेल नहीं और कुछ हुआ। अतः हम दूसरों से (विवरणात्मक) वार्ता केवल इसी आशा से करते हैं कि वे कुछ सूचित करने का यत्न कर रहे है।

अब हमें 'कैसे कह सकते हो ?' प्रश्न की ओर रुख करना चाहिये—अर्थात् 'कैसे जानते हो ?' प्रश्न के (२) तथा (४) आशयों की ओर। यदि तुमने पूछा 'कैसे जानते हो कि यह मैना है ?' तो मेरा उत्तर हो सकता है 'उसके व्यवहार से', 'उसके रंग से', या अधिक विस्तारपूर्वक 'उसकी चोंच के नारगी रग से', 'उसके बेर खाने से'। मतलब यह कि मैं वस्तु-स्थिति की उन विशिष्टताओं की ओर संकेत करता हूँ, या किसी हद तक उनसे ठीक शुरुआत करता हूँ, जो मुझे उसे विवरणात्मक रूप में मेरे विवरण के अनुरूप पहचानने-योग्य बनाते हैं। इस पर भी, तुम उसे मेरे द्वारा मैना कहे जाने पर आपत्ति कर सकते हो—यद्यपि तब तुम 'मेरे तथ्यों से इंकार' न करोगे। तुम्हारी आपत्ति हो सकती है :

(१) मैना के नारंगी रंग की चोंच नहीं हुआ करती

(१ अ)—किंतु वह तो मैना नहीं। तुम्हारे ही विवरण द्वारा मैं उसे सल्हई पक्षी के रूप में पहिचान सकता हूँ।

(२) किंतु इतना तो पर्याप्त नहीं : अन्य कई पक्षियों की चोंच का रंग नारंगी होता है। तुम्हारे कथन से उसका मैना होना सिद्ध नहीं होता। तुम्हारी जानकारी के आधार पर तो शायद वह कोयल ही हो।

उक्त (१) और (१ अ) आपत्तियों से आशय है कि स्पष्ट ही मैं मैना को पहिचान सकने में असमर्थ हूँ। यह असमर्थता (१ अ) वाली हो सकती है—कि मैंने उस प्राणी पर प्रयुक्त होने वाली सही (पारंपरिक, सार्वजनीन, अधिकारिक) अभिधा नहीं सीखी[1] : अथवा शायद

टिप्पणी १. गलत अभिधान कोई महत्वहीन या हास्यास्पद बात नहीं। यदि मैंने गलत अभिधा दी तो दूसरों को बहका दूँगा, और दूसरों द्वारा दी गई सूचना से गलत अर्थ भी निकालूँगा। 'निसंदेह मैं उसकी हालत अच्छी तरह जानता था किंतु मुझे कभी नहीं लगा कि वह (रोग) मधुमेह होगा। मैंने समझा था कि वह (रोग) कैंसर होगा, जिसे सभी पुस्तक एक मत से असाध्य बताते हैं : यदि मैं जानता ही होता कि उसे मधुमेह है, तो तुरंत इन्सुलिन की बात सोचता।' यह जानना कि अमुक वस्तु (वस्तु-स्थिति) क्या है, एक महत्वपूर्ण अर्थ में, यह जानना है कि उसके लिये नाम, सही नाम, क्या है।

पहिचान करने की, और फलस्वरूप वर्गीकरण की, मेरी क्षमता का इन विषयों के संदर्भ में कभी सूक्ष्मता से प्रयोग नहीं हुआ, जिससे कि मैं मध्यम आकार के भारतीय पक्षियों की कई नस्लों के बीच भेद के बारे में अस्पष्ट रहा। या हो सकता है मेरी असमर्थता कुछ-कुछ दोनों तरह की हो। इस तरह का आरोप लगाते हुये 'तुम नहीं जानते' या 'तुम्हें नहीं कहना चाहिये कि तुम जानते हो, जैसी अभिव्यक्तियों के प्रयोग की बात शायद तुम उतना अधिक न सोचो जितना इनका कि 'किंतु वह तो मैना नहीं है' ('मैना नहीं है'), 'तब तुम्हारा उसे मैना कहना गलत है'। फिर भी, यदि कोई पूछ बैठे, तो सहज ही तुम इस कथन को कि मैं जानता हूँ कि यह मैना है अस्वीकार कर दोगे।

आरोप (२) के संदर्भ में तुम सीधे कहना चाहोगे तब तुम नहीं जानते', क्योंकि यह सिद्ध नहीं होता, इसे सिद्ध करने में तुमने जो कहा वह पर्याप्त नहीं। यहाँ कई महत्वपूर्ण बातें स्पष्ट होती हैं :

(अ) यदि तुमने कहा 'वह पर्याप्त नहीं', तो अवश्य तुम्हारे मन में किसी थोड़ी-अधिक निश्चित कमी का ध्यान होगा। 'मैना होने के लिये, नारंगी रंग की चोंच के अलावा यह भी आवश्यक है कि पूँछ विशेष ढंग से कटी हो' : या 'तुम कैसे जानते हो कि वह सल्हई नहीं है ? सल्हई की चोंच भी नारंगी रंग की होती है'। यदि कोई निश्चित कमी नहीं, जिसे पूछे जाने पर तुम बताने को तैयार नहीं, तो केवल कहे चले जाना कि 'वह पर्याप्त नहीं' बेवकूफी (ढीठता) होगी।

(ब) पर्याप्त यानें पर्याप्त : इसका अर्थ सभी-कुछ नहीं होता। पर्याप्त का अर्थ है यह दिखाने में पर्याप्त कि (विवेकानुकूलता) में, तथा प्रस्तुत अभिप्रायों व उद्देश्यों के लिये) यह और कुछ 'नहीं हो सकता', किसी अन्य प्रतिद्वंद्वी विवरण के लिये कोई जगह नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि, उदाहरणतः, यह दिखा सकने में पर्याप्त है कि यह मसाला लगी मैना नहीं है।

(स) 'कैसे जानते हो ?' के उत्तर में दिये गये 'उसकी चोंच के नारंगी रंग से' पर ध्यानपूर्वक विचार की आवश्यकता है : विशेषकर यह उत्तर उक्त प्रश्न के जवाब में कभी-कभी दिये जाने वाले इस उत्तर 'क्योंकि इसकी चोंच का नारंगी रंग है' से काफी भिन्न है। यह बाद वाला उत्तर साधारणतः 'क्यों विश्वास करते हो ?' के जवाब में होता है। यह इन प्रकटतः 'अस्पष्ट' उत्तरों जैसे 'उसकी विशेष प्रकार से कटी पूँछ से' या 'उसके व्यवहार से' से अधिक निकट है, यद्यपि आरंभ में ऐसा नहीं लगता। यह कहने में कि हम जानते हैं हमारा दावा पहिचानने का है : और पहिचानना, कम से कम इस प्रकार की स्थिति में, हमारे द्वारा उस विशिष्टता या विशिष्टताओं को देखना, या और किसी तरह से अनुभूत करना है, जिसके संबंध में हमारा दृढ़ विश्वास है कि उसी तरह हमने पहले भी किसी पूर्व अनुभव में अनुभूत (और प्रायः अभिधान) किया। किंतु, यह जो हम देखते हैं, या और तरह से अनुभूत करते हैं, शब्दों में अनिवार्यतः विवरणात्मक नहीं—विस्तारपूर्वक तथा भावहीन शब्दों में तो और भी नहीं, फिर चाहे जो ऐसा करने का यत्न करे।········हमारे अनुभव में पहिचानी गयी, या पहिचानी जा

सकने वाली, अनंत विशिष्टताओं की तुलना में वर्गीकरण के लिये प्रयुक्त किसी भी भाषा के शब्दों की अल्पता और स्थूलता सुविदित है। इसलिये आश्चर्य नहीं कि हमें 'से' तथा 'द्वारा' वाली अभिव्यक्तियों का प्रयोग करना पड़ता है; इससे आगे हम नहीं कह सकते कैसे हमने पहचाना। [जब मैं कहता हूँ कि पक्षी को मैं 'उसकी नारंगी रंग की चोंच से' या किसी मित्र को 'उसकी नाक से', पहिचान सकता हूँ तो प्रायः मेरा अभिप्राय होता है कि नारंगी रंग या नाक में कोई विशेषता है, मैना या मित्र के संदर्भ में, जिसके आधार पर तुम उन्हें या उसको (सदैव) पहिचान सकते हो : यह विशेषता है क्या, मैं कह नहीं सकता।] वस्तुओं को प्रायः हम अच्छी तरह जानते हैं, जबकि कदाचित् ही कह सकने में समर्थ होते है कि किस 'से' हम उन्हें जानते हैं—फिर यह कह सकना कि उनकी ऐसी क्या विशेषता है और भी दुरूह बात है। जो भी उत्तर 'से' तथा 'द्वारा' का उपयोग करते हैं वे जानबूझ कर यह रक्षक 'अस्पष्टता' लिये होते हैं। किंतु, दूसरी ओर, 'क्योंकि' का उपयोग करने वाले उत्तर खतरनाक ढंग से सुनिश्चित होते है। जब मैं कहता हूँ, मैं जानता हूँ कि यह मैना है 'क्योंकि इसकी चोंच का नारंगी रंग है', तो इसका तात्पर्य होता है कि तत्संदर्भ में मैने जो-कुछ देखा, या देखने की जरूरत रही, वह उसकी चोंच का नारंगी रंग है (उस रंग की विभिन्न बारीकियों, चोंच के आकार, आदि जैसी अन्य कोई विशिष्टता नहीं) : इस तरह मेरा तात्पर्य है कि मैना को छोड़ अन्य किसी मध्यम आकार वाले भारतीय पक्षी की चोंच का हलका नारंगी रंग नहीं।

(स) जब भी मैं कहता हूँ कि मै जानता हूँ, मुझे यह दावा करता हुआ समझा जा सकता है कि मैं इस प्रकार के कथन को (प्रस्तुत अभिप्राय व उद्देश्य के लिए) समुचित ढग से सिद्ध कर सकता हूँ। यहाँ उपस्थित अतिसाधारण स्थिति के प्रसंग में 'सिद्ध करने' का अर्थ प्रस्तुत वस्तु-स्थिति की उन विशिष्टताओं का कथन प्रतीत होता है जो उसे वह स्वरूप प्रदान करने में पर्याप्त हैं जिसका सही विवरण उसी तरह होता है जैसा कि हमने दिया, किंतु और किसी अन्य तरह से नहीं। मोटे तौर पर, 'सिद्ध करने' वाली स्थितियाँ वे हैं जहाँ हम 'क्योंकि' सूत्र का उपयोग करते है : उन स्थितियों में जहाँ हम 'जानते है किंतु सिद्ध नहीं कर सकते' हमें 'से' या 'द्वारा' सूत्र का सहारा लेना होता है।

मुझे विश्वास है कि अभी तक जिन बातों की चर्चा की गई वे 'कैसे जानते हो ?' प्रश्न के संदर्भ में स्वाभाविक व सामान्य रूप में उठती हैं। किंतु कुछ और भी बातें हैं जो इसी तरह, विशेषकर दार्शनिकों द्वारा, उठाई जाती है और जिन्हें अधिक महत्वपूर्ण समझा जा सकता है। 'वास्तविकता' तथा 'संदेहहीनता व निश्चितता' के संबंध में हमारी चिंताओं से इन बातों का संबंध है।

अभी तक, 'कैसे जानते हो ?' प्रश्न के रूप में मुझे चुनौती देने में तुमने मेरे कथन की प्रामाणिकता पर संशय प्रकट नहीं किया, यद्यपि तुमने पूछा कि मेरे कथन के ऐसे होने का आधार क्या है : न ही तुमने मेरे तथ्यों से इंकार किया (तथ्य जिनके भरोसे मैंने सिद्ध किया कि यह मैना है), यद्यपि तुमने उन्हें विस्तारपूर्वक जानना चाहा। कथित 'प्रामाणिकता' और 'तथ्यों' की विश्वसनीयता को ही चुनौती देने वाली ये आगे की बातें हैं।........

I. वास्तविकता

यदि तुम पूछो, 'कैसे जानते हो कि यह एक वास्तविक छड़ी है ?' 'कैसे जानते हो कि यह वस्तुतः टेढ़ी है ?' ('तुम्हें बिलकुल संदेह नहीं कि वह सचमुच क्रोधित है ?'), तो तुम मेरी प्रामाणिकता या तथ्यों के बारे में (यद्यपि यह प्रायः अनिश्चित होता है कि इन दोनों में से किस एक के बारे में) एक विशेष ढंग से अपनी शंका प्रकट कर रहे हो । ऐसी कई विशेष जानी-मानी स्थितियाँ हैं जिनमें या तो मेरा वर्तमान अनुभव या मेरे द्वारा अनुभूत पदार्थ असाधारण, वास्तविकता का भ्रम पैदा करने वाला हो सकता है । या तो मैं स्वयं स्वप्न, बेहोशी, या उन्माद आदि की अवस्था में हो सकता हूँ : या फिर अनुभूत पदार्थ ही नकली, मुलम्मावाला, खिलौना, मसाला लगा, आदि हो सकता है : या पुनः, यह अनिश्चित हो सकता है कि दोषी मैं हूँ या पदार्थ —ज़लज़ला, आइनें में प्रतिबिंब, प्रकाश-किरणों के विशिष्ट कोणों से केंद्रीभूत अनोखे दृश्य, आदि ।

ये सभी संदेह स्थितियों के अनुकूल (कम या अधिक) मान्य विधियों द्वारा दूर किये जा सकते हैं । स्वप्न और जागृत के बीच अंतर करने की मान्य विधियाँ हैं (अन्यथा कैसे हम उन शब्दों के बीच अंतर करते और उनका उपयोग करते ?) : इसी तरह जीवित और मसाला लगा, आदि के बीच भी अंतर करने की मान्य विधियाँ हैं । इस संदेह या प्रश्न का कि 'पर क्या यह वास्तविक है ?' अवश्य एक विशिष्ट, आधार होता है, वास्तविक न होने के 'सुझाव का कोई कारण' अवश्य होना चाहिये—इस अर्थ में कि प्रस्तुत अनुभव या पदार्थ किसी विशेष ढंग या किन्हीं विशेष (सीमित) ढंगों से वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करने वाला हो सकता है । कभी-कभी संदर्भ से ही स्पष्ट हो जाता है कि सुझाव क्या है : कोयल का मसाला लगा होना संभव है किंतु उसके ज़लज़ला होने का सुझाव नहीं होता, मरुद्यान एक ज़लज़ला हो सकता है किंतु उसके मसाला लगा होने का कोई सुझाव नहीं होता । तत्त्ववादी की चालाकी यह है कि वह पूछता है 'क्या यह वास्तविक मेज़ है ?' (ऐसी वस्तु जो प्रकटतः संदेहास्पद नहीं है) परंतु बताता नहीं कि क्या-कुछ तत्संबंध में गलत है, जिससे कि आदमी चक्कर में पड़ जाता है कि वह कैसे सिद्ध करे कि वह मेज़ यथार्थ ही है । 'वास्तविक' शब्द के इसी तरह के प्रयोग से हम मान बैठते हैं कि 'वास्तविक' का केवल एक ही अर्थ है ('वास्तविक जगत्' या 'भौतिक पदार्थ') जो बहुत ही गूढ़ और विस्मयजनक है । इसके विपरीत, हमें सदैव उसे विशेषित करने पर जोर देना चाहिये जिसको 'वास्तविक' से भिन्न बताया जा रहा है—अर्थात् जोर इस पर नहीं होना चाहिये कि यह दिखाने के लिये कि यह 'वास्तविक' है मुझे क्या करना होगा : तब हमें प्रायः ही, विशेष वस्तु-स्थिति के उपयुक्त, कोई ऐसा विशेष, सीधा-साधा शब्द मिल सकेगा जसका उपयोग 'वास्तविक' के बदले हो सके ।

मेरा कहना कि मैं जानता हूँ कि यह कोयल (मैना) है साधारणतः संदेहास्पद नहीं होता : केवल उचित सावधानी बरतनी पड़ती है । किंतु जब विशेष स्थितियों में उस पर संदेह किया जाता है, मैं उन विधियों से उसके कोयल होने की वास्तविकता पर उठने वाले संदेह को दूर करता हूँ जो मूलतः उन्हीं विधियों की तरह होती हैं जिनसे मैं निश्चय करता कि

वह कोयल ही थी, यद्यपि कई स्थितियों में अन्य साक्षियों द्वारा कथन की पुष्टि का भी बड़ा महत्व होता है। अतः, प्रस्तुत उद्देश्यों व अभिप्रायों के संदर्भ में, केवल उचित सावधानी भर की माँग की जा सकती है। वैसे विशेष स्थितियों में दो अन्य बातों का भी ध्यान रखना चाहिए :

(अ) निसदेह मैं सदैव ही नहीं जानता हूँ कि वह वही है या और-कुछ। इसके पहले कि मैं परीक्षण का मौका पाऊँ या उसका पर्याप्त निरीक्षण कर सकूँ, वह उड़ जा सकती है। इतना तो काफी सरल है : किंतु कुछ लोग यह तर्क देने लगते हैं कि, चूँकि मैं कभी-कभी नहीं जान पाता, मैं कभी भी नही जान सकता।

(ब) 'संदेहरहित होना कि वह वास्तविक है' चमत्कार या नैसर्गिक वैचित्र्य के विरुद्ध न कोई प्रमाण है और न हो सकता है। यदि हम संदेह रहित हैं कि यह कोयल है, वास्तविक कोयल है, किंतु भविष्य में वह कोई विचित्र व्यवहार करे (या धमाके से फूट पड़े), तो हम यह नहीं कहेंगे कि हम उसे कोयल कहने में गलत थे, वरन् यह कि हम नहीं जानते कि क्या कहें। हमें शब्द नहीं मिलते : 'तुम क्या कहते ?' 'अब हम क्या कहें ?' 'तुम क्या कहोगे ?' जब यह जानने में कि यह कोयल है मैं संदेहरहित हो चुका हूँ, तब अपने इस कथन में कि यह वास्तव में एक कोयल है मैं कोई 'भविष्योक्ति' नहीं कर रहा, और इसलिये भविष्य में चाहे जो हो मुझे गलत नहीं ठहराया जा सकता। यह मानना एक बड़ी गलती मालूम होती है कि भाषा (या अधिकांश भाषा, वास्तविक पदार्थों वाली भाषा) इस तरह 'भविष्योक्ति-परक' है कि भविष्य उसे सदैव गलत प्रमाणित कर सकता है। भविष्य जो-कुछ कर सकता है वह केवल यह है कि कोयल या वास्तविक कोयल, आदि के बारे में हमारे प्रत्ययों के संशोधन के लिये हमें बाध्य करे।.........

II. संदेहहीनता व निश्चितता

मेरे कथन की प्रामाणिकता और तर्क-सिद्धता के बारे में जिज्ञासा एक दूसरे प्रकार से भी हो सकती है। इस संदर्भ में हम श्री विसडम के उन विचारों की चर्चा करेंगे जो 'मनुष्य के स्वयं अपने संवेद के बारे में उसके ज्ञान की विशिष्टता' से है।

श्री विसडम कहते हैं कि, 'प्यार करना' जैसी 'भविष्योक्तिक' अभिव्यक्तियों को छोड़, यदि हम 'मुझे पीड़ा है' जैसे कथन, जिसमे भविष्योक्ति-सदर्भ न हो, पर विचार करें तो पायेगे कि इन कथनों में हमारा 'गलत होना' सभव नहीं—गलत होने के सर्वाधिक मान्य अर्थ में : अर्थात्, यद्यपि यह संभव है कि व्यक्ति झूठ बोले (जिससे कि 'मुझे पीड़ा है' असत्य हो) और यह भी संभव है कि वह गलत-अभिधा दे, जैसे 'पीड़ा' के बदले 'पक्षाघात' शब्द का उपयोग करे (क्योंकि शायद वह हमेशा से ऐसा करता आया है या हो सकता है कि यह उसकी क्षणिक भूल है) जिससे कि दूसरे तो भुलावे में आ जावें किंतु वह स्वयं नहीं—यद्यपि इन दो ढगों से उसका 'गलत' होना संभव है, किंतु गलत होने के सर्वाधिक मान्य अर्थ में वह गलत नहीं हो सकता। श्री विसडम पुनः कहते हैं कि कथनों के इस वर्ग (जिसे अन्यत्र वे 'संवेद-कथन' कहते हैं) के संदर्भ में प्रत्यक्षतः जानना कि किसी को पीड़ा है का आशय है 'कहना कि उसे पीड़ा है, और यह पीड़ा होने के आधार पर कहना' : और फिर यह भी कि, संवेद-कथनों की

विशिष्टता इस तथ्य में है कि 'जब वे सही हैं और क द्वारा कहे गये हैं, तो क जानता है कि वे सही हैं'।

यह बात मुझे गलत लगती है यद्यपि कम-अधिक सूक्ष्म रूप में यह अधिकांश दार्शनिक चिंतन का आधार रहा है। यह शायद वह मूल पाप है जिसके सहारे दार्शनिक अपने-आपको उस दुनियाँ से बहिष्कृत कर लेता है जिसमें हम रहते हैं।

अधिक स्पष्टता से कहें तो उक्त मत इस प्रकार है : वस्तु-स्थितियों का कम-से-कम और केवल एक ही निश्चित मान्य वर्ग है जिसके अंतर्गत मैंने 'जो देखा (या और तरह से अनुभूत किया) उसका कथन' प्रायः बिल्कुल शब्दशः कर सकता हूँ। तदनुसार यदि मैं कहूँ 'यहाँ कुछ लाल है', तो मेरे कथन का यह तात्पर्य समझा जा सकेगा कि वहाँ कोई लाल वस्तु है, वस्तु जो साधारण प्रकाश में, या अन्य लोगों को या कल भी (और शायद इसी तरह अन्य कई ढंगों से), लाल दिखाई देगी : इन सभी से 'भविष्योक्ति का आशय निकलता' है (संभवतः तात्त्विक अधिष्ठान का भी आशय निकले,। यदि मैं यह भी कहूँ कि 'यहाँ कुछ लाल दिखाई देता है', मेरे कथन से इस तरह के तात्पर्य तो लिये ही जा सकते हैं कि यह दूसरों को भी लाल दिखाई देता है, आदि। किंतु यदि मैं यह कह कर संतोष कर लूँ कि 'यहाँ कुछ है जो मुझे अभी लाल दिखाई देता है' तब कम-से-कम मैं गलत (सर्वाधिक मान्य अर्थ में) नहीं हो सकता।

फिर भी, 'कुछ जो मुझे अभी लाल दिखाई देता है' में कोई अस्पष्टता है। यह हमारे कथनों में आत्मविश्वास और झिझक के शब्दों पर जोर देकर समझी जा सकती है। इन दो कथनों का परस्पर अंतर देखें : 'यहाँ कुछ है जो (निश्चित रूप से) मुझे (चाहे जैसे भी) लाल दिखाई देता है' तथा 'यहाँ कुछ है जो मुझे (मेरी समझ से) लाल (जैसा) दिखाई देता है'। प्रथम स्थिति में मुझे पूरा विश्वास है कि उस समय वह निश्चय ही मुझे लाल दिखाई दिया, फिर चाहे दूसरे उसे जैसा भी देखें, या 'वस्तुतः' वह जैसे भी हो, इत्यादि। दूसरी स्थिति में मुझे बिल्कुल विश्वास नहीं : वह लाल-जैसा दिखाई देता है, किंतु ठीक उस-जैसा रंग मैंने पहले कभी नहीं देखा, मैं उसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकता—या, रंग-भेद कर सकने में मैं कुशल नहीं, मुझे प्रायः ही इसमें गलत पाया गया है।.........मेरी रुचि यहाँ यह कहने में नहीं है कि वह जैसा दूसरों को दिखाई देता है या वस्तुतः जैसा है उसे मैं स्वीकार नहीं करता : मैं केवल अपनी संदेहहीनता या निश्चितता, जो मुझे दिखाई देने के संदर्भ में है, को अस्वीकार कर रहा हूँ।...............

इसमें संदेह नहीं कि ऐसे कई 'संवेद-कथन' हैं जिनके बारे में हमें पूर्ण संदेहहीनता होती है, या हो सकती है। साधारण स्थितियों में जब वस्तु लाल (या लालिमायुक्त, या किसी तरह लालिमायुक्त, किंतु हरित नहीं) दिखाई देती है तो साधारण मनुष्य प्रायः ही तत्संबंध में निश्चित होते हैं; इसी तरह जब उन्हें पीड़ा होती है वे निश्चित होते हैं (केवल उन स्थितियों को छोड़ जब यह कहना कुछ कठिन हो, जैसे जब उन्हें गुदगुदाया जा रहा हो) : साधारणतः

कोई विशेषज्ञ, रंगरेज या दर्जी किसी वस्तु के सुवापंखी या सिल्हटी होने के बारे में बिल्कुल संदेहरहित होगा, यद्यपि जो विशेषज्ञ नहीं वे इस तरह संदेहरहित नहीं होंगे। यदि हम संवेद का पर्याप्त स्थूल विवरण दें तो प्रायः ही हम काफी अच्छी तरह सदेहरहित हो सकते है : विवरण की स्थूलता और सदेहहीनता के बीच की दूरी विपर्यय से है। किंतु कम या अधिक स्थूल विवरण 'संवेद-कथन' ही हैं।

मेरे विचार में (यदि मैं गलती नहीं कर रहा हूँ), दार्शनिकों में सदेहहीनता तथा निश्चितता के इन सवालों के प्रति अवहेलना की प्रवृत्ति रही है। इन सवालों पर वैज्ञानिकों ने काफी ध्यान दिया, जबकि दार्शनिकों के आकर्षक-केंद्र 'वास्तविकता' के सवाल पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। माप और मान का समूचा संयंत्र ही संदेहहीनता तथा अनिश्चितता से निबटने, और साथ-ही भावा की स्पष्टता वढ़ाने (जो विज्ञान के लिये उपयोगी है) के लिये बनाया गया प्रतीत होता है। 'वास्तविक' और 'अवास्तविक' शब्दों के बदले उनके द्रव्यगत मूल्यों के उपयोग की प्रवृत्ति दिखाने में वैज्ञानिक बुद्धिमत्ता ही प्रकट करता है। निरतर बढ़ने वाले कई प्रकारों की स्थितियों के अनुकूल वह ऐसे कई द्रव्यगत मूल्यों का आविष्कार कर उन्हें परिभाषित करता है : वह नहीं पूछता 'क्या यह वास्तविक है ?' उसका प्रश्न होता है 'क्या यह अपनी मूल प्राकृतिक अवस्था में नहीं है ?' या 'क्या यह अपने रासायनिक-परिवर्त्य रूप में है ?' इत्यादि

मुझे यह स्पष्ट नहीं कि सवेद कथनों का वर्ग क्या है, न ही यह कि उसकी 'विशिष्टता' क्या है। कुछ, जो संवेद-कथनों (या सवेद-प्रदत्त) की चर्चा करते हैं, लाल या पीड़ा जैसी सरल चीजों के कथन और प्यार या मेज जैसी जटिल चीजों के कथन के बीच अंतर करते प्रतीत होते है। किंतु श्री विसडम ऐसा करते नहीं लगते, क्योंकि वे 'यह मुझे अब अफीम खाये व्यक्ति की तरह दिखाई देता है' को 'यह मुझे अब लाल दिखाई देता है' जैसा ही समझते है। इसमें निसंदेह वे सही हैं : अफीम खाया व्यक्ति पहिचाने जाने में अधिक 'जटिल' हो सकता है, किंतु उल्लिखित अन्य स्थिति की तुलना में यह कोई अधिक कठिन नहीं। परंतु पुनः, यदि हम कहें कि असंवेद-कथन वे हैं जो 'भविष्योक्ति' के आशय वाले है, तो प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों ? यह ठीक है कि यदि मैं, बिना यह निश्चय किये ही कि यह मरूद्यान नहीं है, कहूँ कि 'यह एक (वास्तविक) मरूद्यान है', तो फिर भविष्य पर ही निर्भर रहूँगा : किंतु यदि मेरे पास उसके ऐसा न होने का निश्चित तथ्य है, और यदि मै उसके वैसा न होने को निःसंदेह पहिचान सकता हूँ (जैसे जब मैं उसका पानी पीऊँ), तब फिर मैं भविष्य पर निर्भर नहीं रहा। निःसंदेह मेरा विश्वास है कि यह भविष्य में भी उसी तरह रहेगा जैसा कि साधारणतः (वास्तविक) मरूद्यान होते हैं : किंतु यदि कोई नैसर्गिक चमत्कार घटित हो और यह वैसा न रहे तो इसका मतलब यह नहीं हुआ कि पहले इसे वास्तविक मरूद्यान कहने में मैने कोई गलती की।

श्री विसडम के उनके अपने सूत्रों के संदर्भ में, हम देख आये कि यह कहना ठीक नहीं कि संवेद-कथनों की विशिष्टता है कि 'जब वे सही है और क द्वारा कथित है तो क जानता है कि वे सही है' : क्योंकि, बिना अधिक आत्मविश्वास के, क सोच सकता है कि उसका स्वाद मिट्टी के तेल की तरह लगता है, यद्यपि अभी इस सबंध में वह एकदम निश्चित नहीं, किंतु बाद

में उसके ऐसा होने या न होने के संबंध में उसका निश्चित या अधिक निश्चित होना संभव है। उनके अन्य दो सूत्र थे : 'यह जानना कि किसी को पीड़ा है यह कहना है कि उसे पीड़ा है, और यह पीड़ा होने के आधार पर कहना है' और सवेद-कथनों के बारे में केवल एक प्रकार की भूल ही संभव है जो इस तरह की स्थितियों में प्रकट होती है—'यह जानते हुये कि वह राम है मैं उसे "श्याम" कहता हूँ, यह सोच कर कि उसका नाम श्याम है या बिना इसकी परवाह किये कि उसका नाम क्या है'। उक्त दोनों सूत्रों में ये बातें द्रष्टव्य हैं : 'पीड़ा होने के आधार पर' और 'जानते हुए कि वह राम है'। 'जानते हुये कि वह राम है' का अर्थ है कि मैंने उसे राम के रूप में पहिचाना है, और इस तरह पहिचानने में मुझे झिझक होने अथवा मुझसे भूल होने की काफी संभावना है : यह ठीक है कि 'राम' नाम द्वारा पहिचाना जाना आवश्यक नहीं (और इसलिये मैं उसे 'श्याम' कह सकता हूँ), किंतु यह तो कम से कम अनिवार्य ही है मैं उसे इस तरह सही तौर से पहिचानूँ कि, उदाहरणतः, मैंने इसे शांतिनिकेतन में देखा था, अन्यथा मैं अपने-आपको भरमा रहा होऊँगा। इसी तरह, यदि 'पीड़ा होने के आधार पर' का एकमात्र अर्थ हो 'जब मैं (जिसका सही विवरण दिया जा सके उस) पीड़ा की स्थिति में हूँ', तो यह जानने के लिये कि मैं पीड़ा की स्थिति में हूँ केवल इस कथन कि 'मुझे पीड़ा है' से कुछ अधिक की आवश्यकता है : और यह जो कुछ अधिक रूप में आवश्यक है, पहिचानना संपन्न कराने में, झिझक अथवा भूल से समाविष्ट हो सकता है, यद्यपि यह ठीक है कि पीड़ा जैसी अपेक्षया स्पष्ट स्थिति में ऐसा होने की संभावना बहुत कम है।

संभवतः पहिचानना संबंधी समस्याओं की उपेक्षा की प्रवृत्ति जानना शब्द के साथ प्रत्यक्ष वस्तु के उपयोग से पोषित है। उदाहरण के लिये, श्री विसडम 'किसी अन्य की भावनाओं (उसका मन, उसके संवेद, उसका क्रोध, उसकी पीड़ा) को इस तरह जानना जैसे वह उन्हें जानता है' जैसी अभिव्यक्तियों का प्रयोग आत्मविश्वासपूर्वक करते हैं। अब, यद्यपि हम 'मैं इस विषय पर तुम्हारी भावनायें जानता हूँ' या 'वह अपने मन की बात जानता है' या 'क्या मैं तुम्हारी मनःस्थिति जान सकता हूँ' जैसी अभिव्यक्तियों का सही उपयोग करते हैं, किंतु ये विशिष्ट अभिव्यक्तियों जैसी हैं, जिनसे उनकी सामान्य प्रयुक्ति की युक्ति नहीं दी जा सकती। यहाँ 'भावना' का आशय किसी वस्तु के प्रति 'बहुत तीव्र अनुभूति' से है : शायद इसका अर्थ है 'दृष्टिकोण' या 'मत' (सुनिश्चित मत), उसी तरह जैसे शब्दकोश में, ऐसे प्रयोगों के संदर्भ में, 'मनस्' का समानार्थी शब्द है 'अभिप्राय' या 'इच्छा'। इन प्रयोगों को अतार्किक ढंग से अधिक विस्तार देना कुछ इस तरह होगा जैसे एक बिल्कुल सामान्य अभिव्यक्ति 'किसी की रुचियाँ जानना' के आधार पर हम 'किसी की ध्वन्यानुभूति जानना' या 'किसी के आम का स्वाद जानना' की बातें करने लग जावें। वैसे भी, उदाहरणतः थकावट जैसी भौतिक अनुभूति की स्थिति में 'मैं तुम्हारी अनुभूति जानता हूँ' अभिव्यक्ति का प्रयोग हम नहीं करते।

अतः जब श्री विसडम सामान्य तौर पर 'उसकी संवेदनायें जानना' की बात करते हैं, तो संभवतः वे इसे 'जानना कि वह क्या देखता है, सुनता है, इत्यादि' के समानार्थक रूप में लेते हैं, उसी तरह जैसे 'सुव्रतो कप जीतने वाले को जानना' का अर्थ है 'सुव्रतो कप कौन जीता

यह जानना'। किंतु, पुनः, यहाँ 'क्या (कौन)–यह जानना' से यह समझा जा सकता है, अनिच्छापूर्वक या गलती से, कि इससे जानना के साथ प्रत्यक्ष वस्तु के उपयोग की पुष्टि होती है : क्योंकि 'क्या (कौन)' को आपेक्षिक रूप में.='वह है जो', समझा जा सकता है। किंतु यह व्याकरण से संबंधित एक भूल है : अवश्य 'कौन' और 'क्या' आपेक्षिक हो सकते हैं किंतु 'जानना कि तुम्हारी अनुभूति क्या है' और 'जानना कि कौन जीता' में ये प्रश्नवाचक है। इस संदर्भ में, 'वह क्या (जो-कुछ) सूँघ रहा है मैं भी सूँघ सकता हूँ' की 'वह क्या सूँघ रहा है मैं जान सकता हूँ' से भिन्नता है। 'मैं जानता हूँ कि उसकी अनुभूति क्या है' से आशय यह नहीं कि 'एक अ उपस्थित है जो मुझे ज्ञात भी है और उसे अनुभूत भी', वरन् यह है कि 'मुझे "वह क्या अनुभूत कर रहा है ?" प्रश्न का उत्तर ज्ञात है'। और इसी तरह 'मेरी अनुभूति क्या है मैं जानता हूँ' के संदर्भ में भी : इसका आशय यह नहीं कि कुछ उपस्थित है जो मुझे ज्ञात भी है और अनुभूत भी।

'हम अन्य व्यक्ति का क्रोध उसी तरह नहीं जानते जैसा वह स्वय उसे जानता है' या 'उसकी पीड़ा जैसे उसे ज्ञात है वैसे हमें नहीं' जैसी अभिव्यक्तियाँ बर्बर लगती है। मनुष्य 'अपनी पीड़ा जानता' नहीं : उसे अनुभूति होती है (ज्ञात नहीं होता) जिसे वह क्रोध (अपना क्रोध नहीं) के रूप में पहिचानता, या जानता है, और यह जानता है कि उसे क्रोधानुभूति है। सदैव यह मानते हुये भी कि वह अनुभूति को पहिचानता है. यह संभव है कि वह उसे, तीव्र अनुभूति के बावजूद, न पहिचाने : 'अब मैंने जाना कि वह क्या थी, वह ईर्षा (या गले की खरास या त्वचा की जकड़न) थी। उस समय मैंने बिल्कुल न जाना कि वह क्या थी, उसके पहले कभी मैंने ठीक वैसा अनुभव नही किया : किंतु उसके बाद मैंने उसे ठीक-ठीक जान लिया है।........

यदि मैं जानता हूँ तो गलत नहीं हो सकता 'मैं जानता हूँ' अभिव्यक्ति के प्रयोगकर्त्ता को चुनौती देने वाले 'कैसे जानते हो ?' प्रश्न से संबंधित एक और बात इस कथन पर, कि 'यदि तुम जानते हो तो गलत नहीं हो सकते', विचार करने से प्रकट होती है। निःसंदेह, यदि अब तक जो-कुछ कहा गया वह सही है तो उन स्थितियों में भी हमारा कहना कि हम जानते हैं प्रायः ठीक है जहाँ बाद में पता चलता है कि हमने भूल की थी—और वस्तु-स्थिति यह है कि हमसे सदैव, या व्यवहारतः सदैव, भूल होने की संभावना बनी रहती है।

अब, हम पूर्णतः इस दायित्व के प्रति सचेत है, और स्पष्ट ही हमें ऐसा होना चाहिये। किंतु व्यवहार में यह उतना दुःसाध्य नहीं लगता। वस्तुतः, मानव बुद्धि और ज्ञानेंद्रियाँ स्वभावतः त्रुटिमूलक तथा भ्रमकारक होती हैं, किंतु सतत रूप से ऐसा वे कभी नहीं होतीं। यंत्र स्वभावतः ऐसे होते है कि टूट-फूट सकते हैं, किंतु अच्छे यंत्र (प्रायः) नहीं टूटते-फूटते। इस दायित्व से इंकार करने वाली 'ज्ञान-मीमांसा' में आगे बढ़ना व्यर्थ है : ऐसी मीमांसा का अंत सदैव इस दायित्व को ही स्वीकारने तथा 'ज्ञान' की उपस्थिति को अस्वीकारने में होती है।

'जब तुम जानते हो तब गलत नहीं हो सकते' बिल्कुल अच्छी तरह अर्थपूर्ण है। यह कहने की मनाही है कि 'मैं इसे इस तरह जानता हूँ, किंतु गलत हो सकता हूँ' ठीक उसी तरह जैसे इसकी मनाही है 'मैं ऐसा करने की प्रतिज्ञा करता हूँ, पर शायद कर न सकूँ'। यदि तुम्हें

इसका भान हो कि तुमसे भूल हो सकती है तो तुम्हें नहीं कहना चाहिये कि तुम जानते हो, उसी तरह जैसे यदि तुम्हें भान है कि तुम वैसा नहीं कर सकोगे तो वह करने की प्रतिज्ञा तुम्हें नहीं करनी चाहिये। किंतु, तुमसे त्रुटि हो सकती है इस बात के भान होने से अर्थ केवल यह भान होना नहीं होता कि तुम त्रुटि की संभावना वाले एक मानव हो : इसका अर्थ होता है कि तुम्हारे पास यह मानने के कि इस स्थिति में तुमसे कोई त्रुटि हो सकती है कुछ ठोस कारण हैं। उसी तरह, 'पर शायद कर न सकूँ' का अर्थ केवल यह नहीं होता 'पर मैं एक कमजोर मनुष्य हूँ' : इसका अर्थ होता है कि वैसा न कर सकूँगा यह मानने का मेरे पास कोई ठोस कारण है। यह स्वभावतः सदैव संभव (मानवीय रूप से' संभव) है कि मुझसे भूल हो या मैं अपनी बात न रख सकूँ, किंतु यह अपने आप में हमारे द्वारा 'मैं जानता हूँ' और 'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ' अभिव्यक्तियों के प्रयोग में कोई बाधा नहीं।...............

जब मैं केवल यह कहूँ कि मैं संदेहरहित हूँ, और बाद में चल कर सिद्ध हो कि मैं गलत था, तो अन्य व्यक्तियों द्वारा मुझे इसके लिये उस तरह से दोषी नहीं ठहराया जा सकता जिस तरह मेरे 'मैं जानता हूँ' कहने पर। मैं संदेहरहित हूँ स्वयं अपने लिये, तुम चाहो तो इसे स्वीकार करो या न करो : यदि समझते हो कि मैं सूक्ष्मदर्शी व सावधान व्यक्ति हूँ तो स्वीकार करो, यह तुम्हारी जिम्मेवारी है। किंतु मेरा जानना 'स्वयं अपने लिये' नहीं है, और जब कहता हूँ 'मैं जानता हूँ' तो मेरा मतलब नहीं होता कि तुम चाहो तो इसे स्वीकार करो या न करो (यद्यपि यह ठीक है कि तुम उसे स्वीकार या अस्वीकार कर सकते हो)। इसी तरह, जब मैं अपने पूर्ण अभिप्राय की बात कहता हूँ, ऐसा मैं स्वयं अपने लिये करता हूँ और मेरे संकल्प तथा सफलता के बारे में तुम जो अच्छी या खराब राय कायम करते हो उसके अनुसार तुम्हारी प्रतिक्रिया उसके पक्ष या विपक्ष में होगी : किंतु यदि मैं कहूँ, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, तुम्हें अधिकार है कि तुम अपनी प्रतिक्रिया मेरे कथन के पक्ष में व्यक्त करो, फिर चाहे उस संबंध में तुम्हारी अपनी राय जो हो। यदि मैं कहूँ कि मैं जानता हूँ या प्रतिज्ञा करता हूँ, तो इसे अस्वीकार कर तुम एक विशेष ढंग से मेरा तिरस्कार करते हो। हम सभी इन कथनों 'मैं पूर्णतः संदेहरहित हूँ' और 'मैं जानता हूँ' के बीच के अतिशय अंतर को महसूस करते हैं : यह अंतर इन अन्य दो कथनों के बीच अंतर की तरह है—'मेरा निश्चित व अटल अभिप्राय है' तथा 'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ'। यदि किसी ने प्रतिज्ञा की कि वह 'अ' करेगा, तो मुझे उस पर विश्वास का अधिकार है, और उस बिना पर मैं स्वतः प्रतिज्ञाएँ कर सकता हूँ : और इसी तरह, जब किसी ने कहा 'मैं जानता हूँ', तो मुझे यह कहने का अधिकार है कि मैं भी जानता हूँ, साक्ष्यापेक्षा से। 'मैं जानता हूँ' कथन का अधिकार उसी तरह हस्तान्तरणीय है जैसा कि कोई अन्य अधिकार। अतः, यदि मैंने बात यूँ ही कह दी, तो तुमको मुसीबत में डालने के लिये मैं जिम्मेवार हो सकता हूँ।

यदि तुम कहो कि तुम कुछ जानते हो, तो तत्काल तुम्हें चुनौती दी जा सकती है 'क्या तुम जानने की स्थिति में हो ?' : अर्थात् तुम्हें यह दिखाना होगा कि तुम इस संबंध में मात्र संदेहरहित नहीं, वरन् यह कि वह तुम्हारी ज्ञान-परिधि में है। इसी तरह की चुनौती प्रतिज्ञा

के संबंध में भी होती है : पूर्ण अभिप्राय पर्याप्त नहीं-तुम्हें अवश्यमेव यह दिखाना होगा कि 'तुम प्रतिज्ञा करने की स्थिति में हो', कि वैसा करने में तुम समर्थ हो। इस संदर्भ में, इन दोनों स्थितियों में उठने वाली समानान्तर संदेहों की श्रृंखला दार्शनिकों को प्रभावित करने वाली है, इस आधार पर कि मैं भविष्य-दर्शन में समर्थ नहीं। कुछ कहने लगेंगे कि मै कभी भी, या व्यवहारतः कभी भी, यह न कहूँ कि मैं कुछ भी जानता हूँ—शायद जिसे इस क्षण मैं केवल अनुभूत भर कर रहा हूँ : कुछ अन्य कहेंगे, मै कभी भी, या व्यवहारतः कभी भी, यह न कहूँ कि मैं प्रतिज्ञा करता हूँ—शायद जो इस क्षण वस्तुतः केवल मेरे सामर्थ्य के भीतर ही है। ये दोनों ही स्थितियाँ एक तरह से बाधा-ग्रस्त हैं : यदि मैं जानता हूँ मैं गलत नहीं हो सकता, इसलिये मुझे यह कहने का अधिकार नहीं हो सकेगा कि मै जानता हूँ, और यदि मैं प्रतिज्ञा करता हूँ चूक नहीं सकता, इसलिये मे॰ा यह कहने का अधिकार नहीं हो सकेगा कि मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। इन दोनों ही स्थितियों में, वस्तु-स्थिति की जड़ के रूप में, यह बाधा भविष्योक्ति कर सकने की मेरी असमर्थता पर छा जाती है—भविष्योक्ति, अर्थात् भविष्य को जानने का दावा। किंतु यहाँ दोनों ही स्थितियों में एक दुहरी गलती है। जैसा कि हमने पहले कहा, हमारा यह कहना कि हम जानते हैं या प्रतिज्ञा करते हैं पूर्णरूपेण युक्तियुक्त हो सकता है, फिर चाहे भले बाद की स्थितियाँ हमारे अनुकूल न 'हों' और जिनका ऐसा होना या न होना हमारे लिये कम-अधिक चिंता का विषय होता है। पुनः, इस पर ध्यान नहीं दिया गया कि वे शर्तें जिन्हें मेरे यह कहने पर कि कोई वस्तु मेरी ज्ञान-परिधि में है या मेरे सामर्थ्य के भीतर है पूरा करना आवश्यक है, भविष्य से नहीं, वरन् वर्तमान व भूतकाल से संबंधित शर्तें हैं : भविष्य के सबंध में विश्वास से अधिक और कुछ करने की माँग नही है।.........

यह मानना कि 'मैं जानता हूँ' एक विवरणात्मक उक्ति है, दर्शन के अतगंत एक अति-सामान्य विवरणात्मक अयुक्ति (Descriptive fallacy) का उदाहरण-मात्र है। यदि कोई वर्तमान भाषा विशुद्धतः विवरणात्मक हो भी, अपने मूल में वह वैसी नही थी, और उसका बहुलांश अभी भी वैसा नहीं है। समुचित परिस्थितियों में प्रकटतः सहज उक्तियों के कथन से अर्थ हमारे द्वारा किये जा रहे कार्य का विवरण नहीं, वरन् उसे करना है ('मैं करता हूँ) : अन्य स्थितियों में इसकी क्रियाविधि-स्वर व अभिव्यक्ति की तरह, या फिर विराम-चिन्हों व वाक्य-प्रकारों की तरह-यह सूचित करने के लिये होती है कि हम भाषा का उपयोग किसी विशेष ढंग से कर रहे हैं ('चेतावनी देता हूँ', 'पूछता हूँ', 'परिभाषित करता हूँ')। ये उक्तियाँ ठीक अपने-आप में झूठ नहीं हो सकतीं, यद्यपि अपने 'तात्पर्य' (Implication) में झूठ हो सकती हैं, जैसे 'मैं प्रतिज्ञा करता हूँ' से तात्पर्य है कि मेरा पूर्ण अभिप्राय है, जो असत्य सकता है।

अब यदि उपरोल्लिखित बातें ही 'कैसे जानते हो कि यह अमुक प्रकार वस्तु-स्थिति है?' के संदर्भ में उठने वाली विविध व मुख्य बातें हैं, तो सभव है कि इस कथन के संदर्भ में कि 'मैं जानता हूँ कि वह क्रोधित है' भी वे उठें। और यदि इस स्थिति में विशेष कठिनाइयाँ हों, जो कि निसदेह हैं, तो कम-से-कम उनको जो विशेष कठिनाइयों के रूप में नही हैं हम दूर कर सकते है और विषय की अधिक अच्छी जाँच-परख कर सकते है।

यह कह देना जरूरी है कि आरंभ में मैं केवल अनुभूतियों और संवेगों, विशेष कर क्रोध, के प्रश्न पर विचार करूँगा। ऐसा लग सकता है कि वह स्थितियाँ जहाँ हम जानते हैं कि अन्य व्यक्ति सोचता है कि २ और २ मिलकर ४ होते हैं, या कि वह एक चूहा देख रहा है, इत्यादि, उस स्थिति से महत्वपूर्ण भिन्नता, यद्यपि निःसंदेह कुछ समानता भी, लिये है जिसमें हम जानते हैं कि वह क्रोधित या भूखा है।

पहली बात तो यह कि, निश्चय ही किन्हीं अवसरों पर हम कहते हैं कि हम जानते हैं दूसरा व्यक्ति क्रोधित है, और इन अवसरों को उन अवसरों से भिन्न भी समझते हैं जब हम केवल यह कहते हैं कि हमें विश्वास है वह क्रोधित है। क्योंकि यह बिलकुल स्वाभाविक ही है कि हम क्षणमात्र को भी यह नहीं मान लेते कि हम सभी व्यक्तियों के संबंध में सदैव यह जानते हैं कि वे क्रोधित हैं या नहीं, अथवा यह कि हम यह तथ्य ढूंढ़ निकालेंगे। कई ऐसे अवसर होते हैं जब मुझे इसका भान होता है कि शायद मैं नहीं कह सकता कि उसकी अनुभूतियाँ क्या हैं : फिर कई प्रकार के मनुष्य होते हैं, और कई व्यक्ति भी, जिनकी अनुभूतियों के संबंध में (अपनी और उनकी निपट भिन्नता के कारण) मैं कुछ कह नहीं सकता। जैसे, राजा, फकीर, वनवासी, या पागलों की अनुभूतियों के बारे में कह सकना बड़े मुश्किल का काम है : जब तक इन व्यक्तियों से पर्याप्त मेल-जोल न हो, और उनसे कुछ अपनापा न हो, तुम इस स्थिति में हो ही नहीं सकते कि जान सको कि उनकी अनुभूतियाँ क्या हैं—विशेषकर यदि किसी कारणवश वे बताना नहीं चाहते या बता नहीं सकते। या पुनः, ऐसे व्यक्ति की अनुभूतियाँ जिससे पहले कभी तुम्हारी मुलाकात नहीं हुई—ये कुछ भी हो सकती हैं : तुम उसका चरित्र, या उसकी रुचियाँ नहीं जानते, उसके आचरण की विशिष्टता आदि का तुम्हें कोई अनुभव नहीं। उसकी अनुभूतियाँ छद्म या वैयक्तिक हैं : मनुष्य एक-दूसरे से बड़ी भिन्नता लिये होते हैं। इस तरह के अवसर ही ऐसी स्थिति उत्पन्न करते हैं कि हम कहने लगते हैं 'तुम कभी नहीं जान सकते' या 'तुम कुछ कह नहीं सकते'।

सारांश में, मैना वाली स्थिति की तुलना में, यहाँ हमें व्यक्ति के प्रकार की अपनी पूर्व जानकारी पर और अधिक निर्भर रहना पड़ता है। फिर, यहाँ एक विशेष परिस्थिति में एक विशेष व्यक्ति की भी बात है। यदि हमारी जानकारी कोई बहुत अधिक नहीं, तो यह कहने में कि हम जानते हैं एक झिझक होती है : निःसंदेह यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि हम कहेंगे कि हम जानते हैं। किंतु, दूसरी ओर, यदि हमें आवश्यक अनुभव रहा है, तो अनुकूल परिस्थितियों में कह सकते हैं कि हम जानते हैं : जब हमारा कोई निकट संबंधी इतना अधिक क्रोधित दिखाई देता है कि पहले हमने उसे वैसा कभी नहीं देखा, हम उसे निश्चित रूप में वैसा पहिचान सकते हैं।

फिर, यह भी आवश्यक है कि हमें संवेग या अनुभूति, यहाँ क्रोध, का पूर्व अनुभव रहा हो। यह जानने के लिये कि तुम क्या अनुभूत कर रहे हो, आवश्यक है कि मैं प्रकटतः इसकी कल्पना (सोच, समझ, मन्तव्य) कर सकूँ कि तुम्हारी अनुभूति क्या है। लगता है कि अन्य व्यक्तियों में क्रोध-प्रदर्शन की जानकारी सीखने के अतिरिक्त भी मेरे लिये और कुछ

आवश्यक है : मैं स्वयं भी अवश्य कभी क्रोधित रहा। *१ या फिर, इतना तो आवश्यक ही है कि, यदि मैंने पहले किसी विशेष संवेग, जैसे महत्वाकांक्षा, का अनुभव नहीं किया, तो यह कहने में कि उसकी प्रेरणा महत्वाकांक्षा है मुझे निश्चय ही अतिरिक्त झिझक महसूस होगी। और इसका कारण प्रतीत होता है, अनुभूतियों का अति विशिष्ट स्वभाव (व्याकरण, तर्क), वह विशेष ढंग जिससे वे अपने अवसरों व अभिव्यक्तियों से संबद्ध होती है। इसका कुछ और स्पष्टीकरण आवश्यक है।

श्री विसडम का अनुगमन करते हुए (१) भौतिक लक्षणों तथा (२) अनुभूति के बीच अंतर करना, प्रथम दृष्टि में, तर्कसंगत लगता है। तदनुसार, जब मुझे पूछा जावे, 'कैसे कह सकते हो कि वह क्रोधित है? तो मेरा उत्तर होना चाहिये 'भौतिक लक्षणों से', जब कि यदि उसे पूछा जावे कि कैसे वह कह सकता है कि वह क्रोधित है, तो उसे कहना होगा 'अनुभव से'। किंतु यह एक अति-सरलीकरण प्रतीत होता है।

पहले यह देखें कि 'लक्षण' (साथ ही 'भौतिक' भी) का प्रयोग उसकी सामान्य प्रयुक्ति (Ordinary usage) से अलग ढंग से किया जा रहा है, जो भ्रामक है।

चिकित्सा शास्त्रीय प्रयुक्ति से लिये गये शब्द 'लक्षण' का प्रयोग केवल, या मुख्यतः, उन स्थितियों में होता है जहाँ वह जिसका कि वह लक्षण है कुछ अवांछित हो (लौट रहे स्वास्थ्य की अपेक्षा रोग में उसके प्रथम चरण का, आशा की अपेक्षा हताशा का, सुख की अपेक्षा दुःख का) : और इसलिये यह 'चिन्ह' या 'संकेत' की अपेक्षा अधिक भावयुक्त है। यहाँ महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि हम 'लक्षण' या चिन्ह की बात तब तक नहीं करते जब तक कि हम विषय मात्र के निरीक्षण के साथ उसकी भिन्नता का तात्पर्य न लें। निःसदेह ठीक-ठीक यह कहना कि कहाँ चिन्ह या लक्षण खत्म हुआ और कहाँ विषय मात्र आरंभ होना शुरू हुआ प्रायः ही अटपटा होगा : किंतु इसमें संदेह नहीं कि इस भिन्नता का तात्पर्य है अवश्य। अतः 'लक्षण' और 'चिन्ह' का प्रयोग उन स्थितियों के ही संदर्भ में संभव है जिनमें विषय, जैसे रोग की स्थितियों में छिपा रह सके—चाहे फिर वह भविष्य के गर्भ में हो या भूतकाल के, त्वचा के भीतर हो या किसी और कम-अधिक कुप्रसिद्ध खोल के भीतर : और जब स्वयं विषय ही हमारे समक्ष

---

*१ टिप्पणी : हम कहते हैं—कि हम नहीं जानते कि राजा बन जाने में कौनसी अनिवार्य अनुभूतियाँ हैं, यद्यपि हम यह जरूर जानते हैं कि जब हमारे एक मित्र ने आत्मोत्सर्ग किया तो उसकी अनिवार्य अनुभूतियाँ क्या रहीं होंगी। 'जानना कि वह क्या होगी' के इस सामान्य (अस्पष्ट और प्रकटतः अपूर्ण) अर्थ में हम प्रायः जानते हैं कि हमारे पड़ौसी द्वारा तलवार खींच लेना कैसा होगा, किंतु हम कभी नहीं जानते (सोच या कल्पित भी नहीं कर सकते) कि किसी या झींगुर की अनुभूति क्या होगी। किंतु यह जरूर है कि श्री विसडम के 'जानना कि क्या' (='जो है उसका प्रत्यक्ष अनुभव) के विशेष अर्थ में हम कभी नहीं जानते कि तलवार खींचते समय हमारे पड़ौसी के मन में क्या रहता है।

हो, हम फिर चिन्हों व लक्षणों की बात नहीं करते । जब हम 'तूफान के चिन्हों' की बात करते हैं, हमारा आशय आ रहे तूफान या बीते तूफान, या क्षितिज के उस पार वाले तूफान के चिन्हों से होता है, सिर पर सवार हुये तूफान से नही।

इन शब्दों की क्रिया-विधि 'छाप' या 'सुराग़' शब्दों जैसी होती है । एक हत्यारा को जान लेने पर और कोई सुराग़ नहीं मिलते, वे केवल थे या हो सकते थे : न तो स्वीकारोक्ति और न ही प्रत्यक्षदर्शी साक्षी का अपराध पर मत कोई विशेष अच्छा सुराग़ है—ये कुछ और ही हैं। जब पनीर न मिले या दिखाई न दे, तो वहाँ उसके छाप हो सकते हैं : किंतु तब नहीं जब वह हमारे समक्ष हो । यद्यपि तब वहाँ 'छाप का न होना' भी नहीं होता ।

उक्त कारणों से, किसी भी विषय की समस्त विशेषताओं को एक साथ उसके 'चिन्ह' या 'लक्षण' मान लेना, जैसा कि सामान्यतः होता है, भ्रामक लगता है : यद्यपि यह ज़रूर होता है कि किन्हीं विषयों की कुछ बातें ऐसी होती हैं जिन्हें समुचित परिस्थितियों में विशेषता, परिणाम, प्रकटन, अंश, या और कुछ कहा जावे और साथ ही समुचित परिस्थितियों में उन विषयों का चिन्ह या लक्षण भी । यही वह त्रुटि है जो श्री विसडम द्वारा कथित आत्म-विरोधी स्थिति में है—जब हम रोटी के टुकड़े का स्पर्श, आस्वादन, आदि करते हैं, हम रोटी के 'सभी चिन्ह' पाते हैं : स्पर्श, आदि करने का अर्थ रोटी के किन्हीं चिन्हों से नहीं है।......

अब यदि 'चिन्हों' व 'लक्षणों' की यह सीमित प्रयुक्ति है तो स्पष्ट है कि हमारे इस कथन का कि हमारी पहुँच किसी विषय के केवल 'चिन्हों' या 'लक्षणों' तक है यह तात्पर्य हुआ कि हमारी पहुँच उस विषय तक बिल्कुल नहीं (और यही बात 'सभी चिन्हों' पर लागू होती है) । अतः, यदि हम कहें कि मैं उसके क्रोध के लक्षणों तक ही पहुँच पाता हूँ, तो इसका एक महत्वपूर्ण तात्पर्य है । किंतु क्या सचमुच ही हम इस तरह बात करते हैं ? निसंदेह, हम ऐसा नहीं समझते कि अन्य व्यक्ति में क्रोध के लक्षण छोड़कर और-कुछ भी का भान हमें नहीं हो रहा ?

क्रोध के 'लक्षणों' या 'चिन्हों' से उठते या दबे क्रोध के चिन्हों का अर्थ-संकेत मिलता है । मनुष्य के उबल चुकने पर, हम किसी दूसरी चीज़ की बात करते हैं—क्रोध की अभिव्यक्ति, प्रकटन या प्रदर्शन की, स्वभाव की गरमी, आदि की । भौहों का सिकुड़ना, चेहरे का लाल होना, आवाज़ की रूक्षता, ये सब क्रोध के लक्षण हो सकते हैं : किंतु वाग्युद्ध या चेहरे पर एक घूँसा जमाना ऐसे लक्षण नहीं, वरन् वे कार्य हैं जिनमें क्रोध फूट पड़ता है । साधारणतः, क्रोध के 'लक्षणों' को व्यक्ति के उसके अपने आंतरिक क्रोध-भाव से भिन्न नहीं, वरन् क्रोध के वास्तविक प्रदर्शन से भिन्न माना जाता है । सामान्यतः, जहाँ हमारे मन्तव्य का आधार केवल लक्षण हों, हमें केवल यह कहना चाहिये कि हमारा विश्वास है कि व्यक्ति क्रोधित है या क्रोधित हो रहा है : जब कि उसके क्रोध के फूट पड़ने पर हम कहें कि हम जानते हैं ।................

अतः स्पष्ट हुआ कि क्रोधित होने जैसी अवस्था में मात्र लक्षणों के प्रदर्शन तथा भाव की अनुभूति से अधिक और कुछ होता है; क्योंकि वहाँ क्रोध की अभिव्यक्ति या प्रकटन भी

होता है। इस पर ध्यान देना चाहिये कि अनुभूति का प्रकटन से एक विशेष प्रकार का संबंध है। जब हम क्रोधित होते हैं, हम में एक तीव्र इच्छा–अनुभूत अथवा क्रियान्वित–कुछ विशेष प्रकार के कार्य करने की होती है, और यदि हम अपने क्रोध को न दबाये तो वे कार्य करने को प्रवृत्त भी होते हैं। संवेग और उसके सहज प्रकटन (जिनसे हम परिचित हैं क्योंकि हमें क्रोध का अनुभव है) में एक विशिष्ट निकट संबंध होता है। जिस तरह से साधारणतः क्रोध प्रकट होता है वह क्रोध के संदर्भ में स्वाभाविक है—उसी तरह जैसे कई संवेगों का प्रकटन किन्हीं रूपों द्वारा स्वाभाविकतः होता है। साधारणतः क्रोध के स्वाभाविक प्रकटन के लिये भाव से अलग 'क्रोधित होना' जैसी किसी चीज (चाहे जितनी अस्पष्ट) की अवधारणा नहीं होती।

फिर, क्रोध के स्वाभाविक प्रकटन के अतिरिक्त, क्रोध के स्वाभाविक अवसर भी होते हैं। इनका भी हमें पूर्व-अनुभव होता है, और 'क्रोधित होने' से इनका निकट-संबंध होता है—जैसे क्रोधानुभूति और क्रोधाभिव्यक्ति के बीच। इन अवसरों को किसी प्रकट या 'वाह्य' कारण के अर्थ में कारण-रूप मान लेना अर्थहीन होगा, क्योंकि तब क्रोधाभिव्यक्ति (क्रोध के प्रकटन) को भी हमें, प्रकट या 'वाह्य' परिणाम के अर्थ में, संवेग के परिणाम-रूप में मानना होगा। इसी तरह यह कहना भी अर्थहीन होगा कि (१) कारण या अवसर (२) भाव या संवेग और (३) परिणाम या प्रकटन तीन परस्पर भिन्न घटनाये है जो क्रोध के आवश्यक तत्वों के रूप में 'परिभाषा द्वारा' परस्पर संबद्ध है—यद्यपि यह कहना दूसरे कथन की अपेक्षा कम भ्रामक होगा।

यदि हम कहें कि 'क्रोधित होना' बहुत-कुछ 'उपकर्णशोथ होना' की तरह है तो यह ठीक ही मालूम होता है। यह घटनाओं के समग्र ढांचें, जिसमें अवसर, लक्षण, अनुभूति, प्रकटन, आदि तत्व आते हैं, का निरूपण होता है। यह पूछना कि 'क्रोध वस्तुतः अपने-आप में है क्या ?' उसी तरह की विवेकहीनता है जैसे 'रोग' के समूचे अर्थ को चुने हुये किसी एक तत्व में केंद्रित कर देना। यह तथ्य स्पष्ट है कि अन्य व्यक्ति की अनुभूति कभी भी स्वयं हमारी अनुभूति नहीं होती (इस अर्थ में कि वह क्रोध अनुभव करता है किंतु हम नहीं), और इसमे ऐसा कुछ नहीं जिसकी 'उलझन' के रूप में शिकायत की जावे : किंतु हम यह नहीं कहते कि 'वह' (अनुभूति) क्रोध है। स्पष्ट है कि घटनाओं का ढाँचा, उसका ठीक-ठीक स्वरूप चाहे जो हो, 'अनुभूतियों' (संवेगों) की स्थिति से विशिष्ट है—रोगों की स्थिति से तो इसकी किसी भी तरह समानता नहीं : और शायद इसी विशिष्टता के आधार पर हम यह कहने में प्रवृत्त होते है कि जब तक स्वयं हमें किसी संवेग का अनुभव न रहा हो, हम नहीं जान सकते कि अन्य व्यक्ति को उसकी अनुभूति हो रही है। फिर, इस सामान्य ढाँचे में हमारा विश्वास ही हम में, उसके अंश मात्र के निरीक्षण के आधार पर, यह तत्परता प्रकट करता है कि हम कहें कि हम जानते हैं कि अन्य व्यक्ति क्रोधित है : क्योंकि इस ढांचे के घटक परस्पर अत्यधिक घनिष्ट होते है।

यह ढाँचा इतना अधिक सशक्त है कि कभी-कभी मनुष्य स्वयं अपने ही संवेगों के बारे में अन्य व्यक्ति द्वारा सुझाया गया निरूपण स्वीकार कर लेगा। उसे स्वीकार्य हो सकता है

कि वह क्रोधित उतना नहीं था जितना तिरस्कार-भाव या ईर्ष्या से आविष्ट, और यह भी कि उसे पीड़ा नहीं थी, वरन् केवल उसका भ्रम था। और इसमें कोई आश्चर्य नहीं, विशेष कर इसलिये क्योंकि यह तथ्य है कि हम सब की तरह उसने भी 'मैं क्रोधित हूँ' अभिव्यक्ति का अपने संबंध में उपयोग, प्रारंभिक तौर पर इस तरह सीखा : (अ) उन स्थितियों के अवसर, लक्षण, प्रकटन, आदि पर ध्यान देकर जिनके अंतर्गत अन्य व्यक्ति स्वयं अपने संबंध में कहते हैं 'मैं क्रोधित हूँ', (ब) अन्य व्यक्तियों, जिन्होंने किन्हीं अवसरों पर उसके संबंध में जितना-कुछ निरीक्षण-योग्य है उस पर ध्यान दिया, द्वारा यह कहे जाने पर कि 'तुम क्रोधित हो'—अर्थात्. तुम कहो 'मैं क्रोधित हूँ'। संक्षेप में, मात्र 'अनुभूतियों' या 'संवेगों' के संबंध में संदेहरहित हो सकना बड़ा कठिन है, यदि ऐसी वस्तु-स्थितियाँ सचमुच हों तब भी।.........

फिर, संवेगों के लिये प्रयुक्त शब्दों के दो तरीकों से अस्पष्ट होने से भी, हमें क्रोधित व्यक्ति के लिये कह सकने में झिझक होती है कि उसका क्रोधित होना हम 'जानते' हैं। इन शब्दों का विस्तार विभिन्न प्रकार की स्थितियों तथा अस्पष्ट प्रकारों वाली स्थितियों तक होता है : और इनकी परिधि में आने वाले ढाँचों में से प्रत्येक जटिल (यद्यपि सामान्य और इसलिये पहिचाने जा सकने योग्य) होता है, जिससे कि कम-अधिक आवश्यक विशिष्टताओं में से किसी एक का परित्याग सरल हो जाता है, और इस तरह यह कहने में झिझक होने लगती है कि ऐसी अपारंपरिक स्थिति के बारे में क्या कहें। हम यह अच्छी तरह समझते हैं कि यदि हम कहें कि हम जानते हैं तो हमें सिद्ध करने की चुनौती स्वीकार करना होगा, और इस संबंध में शब्दों की अस्पष्टता मुख्य बाधा है।

अब तक यह स्पष्ट करने के लिये संभवत: हमने काफी-कुछ कहा कि हमारे इस कथन की कि हम जानते हैं कि अमुक चीज़ कोमल है अधिकांश कठिनाइयाँ हमारे उस कथन में और अधिक मुखर हो उठती हैं जब हम कहना चाहते है कि हम जानते हैं कि अन्य व्यक्ति क्रोधित है। किंतु लगता है, और ऐसा लगना सही है कि बाद वाले कथन की स्थिति में कोई अतिरिक्त व विशिष्ट कठिनाई है।

यह कठिनाई संभवत: वही है जो श्री विसडम ने अपने 'अन्य मनस्' पर लेख-माला के आरंभ में ही उठाया है। प्रश्न है, क्या संभव नहीं कि व्यक्ति क्रोध के सभी लक्षण (अभिव्यक्ति और बाकी सब-कुछ), प्रदर्शित तो करे, और अंतहीन ढंग से प्रदर्शित करता भी रहे, किंतु फिर भी (वस्तुत:) क्रोधित न हो? वहाँ याद रखना चाहिये कि श्री विसडम इस कठिनाई को, केवल एक पूर्व-मान्यता के रूप में किसी भी 'भौतिक पदार्थ' की वास्तविकता के संबंध में उठने वाली कठिनाई की तरह समझते हैं। किंतु वस्तु-स्थिति यह है कि इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं।

यहाँ तीन शंकायें उठती प्रतीत होती हैं :

(१) सभी तरह से क्रोधित दिखाई पड़ने पर भी, क्या यह संभव नहीं कि वह किसी अन्य संवेग से आविष्ट हो—इस तरह कि यद्यपि साधारणतः वह उसी संवेग का अनुभव व

प्रदर्शन करता है जो हम उसकी स्थिति में होने पर करते, फिर भी इस विशेष स्थिति में उसका व्यवहार असाधारण है ?

(२) सभी तरह से क्रोधित दिखाई पड़ने पर भी, क्या यह संभव नहीं कि वह किसी अन्य संवेग से आविष्ट हो—इस तरह कि उन अवसरों पर जब हम उसकी स्थिति में होने पर क्रोधित अनुभव करेंगें तथा क्रोधानुभव होने पर जैसा व्यवहार करेंगे, उसकी अनुभूति साधारणतः ऐसी होती है जिसका अनुभव यदि हमें हो तो हम उसे क्रोध से अलग समझेंगे ?

(३) सभी तरह से क्रोधित दिखाई पड़ने पर भी, क्या यह संभव नहीं कि उसे किसी संवेग को अनुभूति न होती हो ?

हमारे दैनिक जीवन में ये सभी समस्यायें विशेष स्थितियों में उठती हैं और परेशानी पैदा करती हैं । हमारी परेशानी हो सकती है : (१) यह हमें कोई धोखा तो नहीं दे रहा—अपने संवेगों को दबा कर या अननुभूत सवेग का बहाना कर; (२) हम कहीं किसी को (या वह हमे) गलत तो नहीं समझ रहे - यह गलत मान्यता कर कि वह 'हमारे ही जैसा अनुभव' करता है, कि हमारे ही जैसे सवेग उसके है; अथवा (३) क्या अन्य व्यक्ति का व्यवहार ऐच्छिक है, या अनैच्छिक या केवल प्रमाद-जन्य । ये तीनों प्रकार की परेशानियाँ उन व्यक्तियों के व्यवहार के सबंध में उठ सकती है, और प्रायः उठती है, जिन्हें हम अच्छी तरह जानते हैं। हमारे अकेलेपन के अनुभव में ये तीनों संयुक्त रूप में कार्यरत होती हैं ।..............

'वास्तविकता' से संबधित इन तीनों में से एक भी कठिनाई कोयल और रोटी के संबंध में नहीं उठती । कोयल को पूर्व-मान्य नही किया जा सकता है : और न ही रोटी को मन के अन्दर दबाया जा सकता है। मरूद्यान के रूप से हमें धोखा हो सकता है, या हम मौसम के लक्षणों से गलत अर्थ समझ सकते हैं, किंतु मरूद्यान हमारे अंदर नही हो सकता और न ही हम तूफान को उस तरह गलत समझ सकते है जैसा कि व्यक्ति को समझते है ।

यद्यपि ये कठिनाइयाँ विशिष्ट है, उनसे निपटने का ढग, प्रारंभिक तौर पर, उसी तरह है जैसे कि कोयल के संबंध मे प्रयुक्त होता है। धोखा या गलत समझ या असावधानी की संभावित स्थितियों से निपटने के स्थिर तरीके हैं । इन तरीकों द्वारा हम प्रायः ही स्थापित करते है (यद्यपि सर्दैव ऐसा कर सकने की आशा नहीं करते) कि कोई केवल नाटक कर रहा है, या कि हम उसे गलत समझ रहे थे, या कि किसी विशेष संवेग के संबंध में वह बिल्कुल अभेद्य है, या कि उसका व्यवहार ऐच्छिक न था। ये विशिष्ट स्थितियाँ, जिनमें शंकायें उठती है और जिनका निराकरण करना होता है, उन सामान्य स्थितियों से अलग समझी जाती हैं जिन्हें तद्रूप में सही समझा जाता है, जब तक कि कोई ऐसा विशेष सुझाव न हो कि उनमें धोखा, आदि, की आशंका है—ऐसा धोखा जो उन परिस्थितियों में समझा जा सके, अर्थात् प्रस्तावित प्रेरक तत्व, आदि, की बिना पर जिसकी छानबीन की जा सके । यहाँ यह नहीं कहा जा रहा कि मैं कभी नहीं जान पाता कि अन्य व्यक्तियों के संवेग क्या है, और न ही यह कि विशेष स्थितियों में मैं बिना विशेष कारण के या बिना विशेष ढंग से गलत हो सकता हूँ ।...............

अन्य व्यक्ति की मनःस्थिति को जानने के संबंध में उसके एक और विशेष लक्षण की चर्चा आवश्यक है जो उसे कोयल वाली स्थिति से बिल्कुल पृथक् करती है । जैसाकि हमने पहले कहा, कोयल, एक भौतिक वस्तु, लेखा-और भाषा-विहीन है : किन्तु मनुष्य की भाषा है। परिस्थितियों के इस संमिश्रण-लक्षण-समुदाय, अवसर, प्रदर्शन, आदि–में, जो हमें यह कहने को प्रेरित करता है कि हम जानते हैं कि दूसरा व्यक्ति कोपित है, स्वयं व्यक्ति के अपनी अनुभूतियों संबंधी कथन का एक अपना स्थान होता है । साधारणतः हम बेहिचक यह कथन स्वीकार कर लेते है, और फिर कहते हैं कि हम जानते हैं (साक्ष्यापेक्ष) कि उसकी अनुभूतियाँ क्या हैं : यद्यपि यहाँ 'साक्ष्यापेक्षा से' जानने का यह तात्पर्य लेना बिल्कुल ठीक नहीं कि उसके अतिरिक्त किसी भी अन्य व्यक्ति का जानना प्रत्यक्ष या स्वतः अनुभूत हो सकेगा, और इसीलिये शायद व्यवहार में इसका उपयोग नहीं होता । असाधारण स्थितियों में, जहाँ उसका कथन उस विवरण से मेल नहीं खाता जो हम स्वयं उस स्थिति का देना चाहते, हमें उसके कथन को स्वीकारने की बाध्यता नहीं होती, यद्यपि उसे अस्वीकारने में हमें सदैव कुछ असुविधा होती है । यदि व्यक्ति आदतन झूठा या आत्म-प्रवंचक हो, या यदि इसके अकाट्य [illegible] हों कि क्यों वह इस अवसर पर झूठ बोल रहा या स्वतः से छल कर रहा, तो फिर हमे असुविधा नहीं होती : किन्तु यदि हम ऐसी स्थिति की कल्पना करें जहाँ व्यक्ति अपने जीवन भर यह दिखाने की कोशिशों के बाद कि उसने एक अवकचरी मान्यता पर हृदय से विश्वास किया, अपनी वैयक्तिक डायरी में लिख जाये कि उस मान्यता पर सचमुच उसका विश्वास कभी नहीं रहा, तब शायद हम कभी न जान पायेंगे कि क्या कहें ।

निष्कर्ष के रूप में, अन्य व्यक्ति के स्वयं अपनी अनुभूतियों के कथन पर हमारे विश्वास के महत्वपूर्ण विषय पर एक बात और । मुझे अच्छी तरह ज्ञात है कि यहाँ मेरा मार्ग सुगम नहीं, तथापि मेरा पक्का विश्वास है कि, प्रस्तुत प्रसंग में, समग्र विषमावस्था के लिये यह आधारभूत है । इसकी स्पष्टता ही इस पर पर्याप्त ध्यान न दिये जाने का कारण रही है ।

व्यक्ति का स्वयं अपना कथन मुख्यतः चिन्ह या लक्षण नहीं, यद्यपि परोक्षतः या कृत्रिम तौर पर उसे वैसा समझा जा सकता है । वस्तु-स्थिति के तथ्यों के योग में उसका एक विशिष्ट स्थान है । तब प्रश्न है : 'उस व्यक्ति पर विश्वास क्यों करें ।

इस प्रश्न का उत्तर संभव है । यहाँ प्रश्न को केवल 'अभी उस पर क्यों विश्वास करें ? जैसा न समझ 'कभी भी उस पर क्यों विश्वास करें ?' के सामान्य अर्थ में लेना होगा । हम कह सकते हैं कि भूतकाल में उसकी अपनी अनुभूतियों को छोड़ अन्य विषयों पर उस व्यक्ति के कथन लगातार हमारे समक्ष रहे, और सदैव ही हमने उन्हें अपने निरीक्षणों के आधार पर सत्य पाया : इस तरह सामान्य रूप में उसकी विश्वासपात्रता के हमारे अनुमान का एक वास्तविक आधार है । या कहा जा सकता है कि उसके व्यवहार की अति सरल 'व्याख्या' यह है कि वह हमारे ही जैसे संवेगों की अनुभूति करता है—उसी तरह जैसे मनोविश्लेषक, 'अचेतन इच्छाओं' की शब्दावली का प्रयोग करते समय, असाधारण व्यवहार की व्याख्या साधारण व्यवहार से उसकी सादृश्यता के आधार पर देते हैं ।

किन्तु उक्त उत्तर खतरनाक और अनुपयोगी हैं। वे इतने स्पष्ट है कि उनसे कोई संतुष्ट नहीं होता : दूसरी ओर, वे प्रश्नकर्त्ता को उत्साहित करते है कि वह अपने प्रश्न को 'अधिक गहराई' में उतरने दे, जिससे कि हमें अपने उत्तरों को इस तरह रखना पड़े कि उनका स्वरूप ही बिगड़ जाये।

इस तरह से रखा गया प्रश्न 'अन्य व्यक्ति पर विश्वास करने' की संभावना, जैसा कि उसे साधारणतः समझा जाता है, मात्र को चुनौती देता है। यह मानने का क्या 'औचित्य' है कि कोई अन्य मनस् तुमसे किसी तरह संवाद - विनिमय कर रहा? कैसे जान सकते हो कि अन्य मनस् द्वारा अनुभूति क्या होती है, और इसलिए कैसे तुम उसे समझ सकते हो? इन चुनौतियों के उत्तर में ही हम कहना चाहते है कि 'उस पर विश्वास करने' से हमारा आशय केवल यह है कि किन्हीं स्वर-शब्दों को हम किन्हीं तत्क्षण घटित होने वाले व्यवहारों के चिह्नों के रूप में लेते हैं, और यह कि 'अन्य मनस्' उसी तरह अवास्तविक है जिस तरह अचेतन इच्छायें।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं। वस्तु-स्थिति तो यह प्रतीत होती है कि अन्य व्यक्तियों, [illegible]रियों तथा साक्षियों, में विश्वास [illegible]वाद-विनिमय (Communication) की क्रिया का आवश्यक अंग है। यह संवाद-विनिमय हम सदैव करते हैं। हमारे अनुभव का यह उसी तरह एक मूलभूत अंग है, जिस तरह प्रतिज्ञा करना, प्रतियोगिता वाले खेल खेलना, या रंगों के धब्बे [illegible]ना। हम इस क्रिया से होने वाले लाभ बता सकते हैं, और उसकी 'विवेक-सम्मत' प्रक्रिया के किसी प्रकार के नियम स्पष्ट कर सकते हैं (जैसे कि न्यायालय, इतिहासज्ञ और मनोवैज्ञानिक साक्ष्य स्वीकार करने हेतु नियम स्पष्ट करते हैं)। किन्तु इस क्रिया के करने मात्र के लिए कोई 'औचित्य' नहीं है।

हिमालय प्रिन्टर्स कुम्हारिया कुआ खांडा फलसा जोधपुर,